भारतीय जैन-साहित्य-संसद्

(सोसायटी एक्ट २१ के अनुसार रजिस्टर्ड नं० १३, दिनांक १२-८-६५)

परिवेशन :

: १ :



सम्पादक

आचार्य पण्डित कैलाशचन्द्र शास्त्री, सिद्धान्ताचार्य

(स्या० वि० काशी)

डॉ० कस्तूरचन्द्र कासलीवाल, एम० ए०, पी-एच० डी०

(म० शो० सं० जयपुर)

प्रो० दरबारीलाल कोठिया, एम० ए०, आचार्य

(हिं० वि० वि० काशी)

डॉ० नेमिचन्द्र शास्त्री, एम० ए०, पी-एच० डी०

(एच० डी० जैन का० आरा)

प्रकाशक :
प्रधानमंत्री
भारतीय जैन-साहित्य-संसद्
भोला भवन, महाजन टोली नं०-१
आरा (बिहार)

(श्रीमती युवराज्ञी लक्ष्मीदेवी मुधौली स्टेट (Mudholi State) दक्षिण भारत
के
द्रव्य द्वारा प्रकाशित)

प्रथम संस्करण

मूल्य : दश रुपये

मुद्रक :
पं० शिवनारायण उपाध्याय
नया संसार प्रेस,
भदैनी, वाराणसी – १.

विषय-सूची



भारतीय जैन साहित्य संसद--आरा अधिवेशन

के

अध्यक्ष

श्री श्रीधर वासुदेव सोहोनी (I. C. S.)

वाइस चासलर, सर कामेश्वर संस्कृत विश्वविद्यालय

एव

फुड एण्ड डवलपमेण्ट कमिश्नर बिहार राज्य

का

अभिभाषण

मान्य श्री स्वागताध्यक्ष, ससद के सदस्यगण, उपस्थित सज्जनो एव देवियो,

भारतीय जैन साहित्य ससद् का अधिवेशन आरा जैसे नगर मे, जहाँ ताडपत्रीय एव कर्गलीय पाण्डुलिपियो का विशाल ग्रन्थागार है, सम्पन्न हो रहा है, यह आरा नगर के लिये जितने हर्ष और गौरव की बात है, उतनी ही साहित्य-ससद् के लिये भी। मूर्त्तिमान साहित्य देवता के मन्दिर मे इस प्रकार के समारोह का होना अत्यन्त स्वाभाविक है। मैं जैन साहित्य का पण्डित नही हूँ, पर इस साहित्य का प्रेमी अवश्य हूँ। भारतीय साहित्य के अध्ययन के प्रति अनुराग रहने से जैन-साहित्य के कुछ रत्नो के अवलोकन का सुअवसर अवश्य प्राप्त हुआ है। जैनधर्म मे २४ तीर्थंकरो की मान्यता है। पार्श्वनाथ और महावीर को तो ऐतिहासिक मान्यता प्राप्त हो ही चुकी है, ऋग्वेद के आधार पर अरिष्टनेमि को भी ऐतिहासिक मानने मे विशेष विवाद नही है। केशीसूक्त मे वर्णित केशी जटाधारी ऋषभ ही प्रतीत होते हैं। पुरातत्वावशेषो से प्राप्त ऋषभ की केशवाली मूर्त्ति मुकेशीसूक्त मे वर्णित लक्षणो से सादृश्य रखती है।

सिन्धु-सभ्यता मे प्राप्त पशुपति की मूर्त्ति का अध्ययन करते हुए श्री आर० पी० चन्दा ने मोडर्न-रिव्यू (१६३५) मे लिखा है कि कायोत्सर्ग नामक योगासन मे खडे हुए देवताओं की मुद्रा जैन-योगियो की है। इस मुद्रा मे मथुरा सग्रहालय मे स्थापित तीर्थंकर ऋषभदेव की मूर्त्ति भी उपलब्ध है। ऋषभ का अर्थ बैल है, जो आदिनाथ का चिह्न है। सिन्धु-सभ्यता की मुहर सख्या F G H. फलक पर अंकित देवमूर्त्ति मे एक बैल बना है, सम्भव है यह ऋषभदेव का ही पूर्वरूप हो। श्री राधाकुमुद मुकुर्जी[1] ने Hindu Civilization नामक अपनी पुस्तक मे अनुमान किया है कि शैवधर्म को तरह जैनधर्म का मूल भी ताम्रयुगीन सिन्धु-सभ्यता तक चला जाता है।

१—हिन्दू सभ्यता—राजकमल प्रकाशन, दिल्ली (१६२८) पृ० २३।

हो सकता है कि वैदिक संस्कृति के आर्यावर्त में विस्तार पाने के पहले जैन सिद्धांतों का संवर्धन भारत की प्राचीन संस्कृति के विकास की अंतिम अवस्था में हुआ। किसी भी संस्कृतिका इतिहास कुछ सीमा तक अलिखित रहता है। विश्लेषण करने पर उसके प्रधान अंग स्पष्ट दिखाई पड़ते हैं। परंतु घटनाओं की उत्क्रान्ति का कालयापन करने में कठिनाई रहती है; और इतिहासों में इस सम्बन्ध में एक मत पाना अशक्य-सा हो जाता है। परंतु यह असंभव नहीं है कि हिमालय और गंगा के बीच के समतल प्रदेश पर मानवी सभ्यता के विकास मे जैन तत्वो के संचालन का प्रारंभ भगवान् महावीर के पहले, यानि आज से २५०० वर्षो के पहले कई एक शतको से हुआ होगा। इस प्रदेश में कृषि-जीवन के लिए जो साधन सुलभ हुए और जिनके माध्यम से मानव समाज बढ़ता गया, उन्हीं के आधार पर जैन सिद्धातों का प्रादुर्भाव आगे चलकर हुआ।

ऋग्वेद के विशेष अध्ययन से अवगत होता है कि दासो और दस्युओं के साथ पणि भी प्राचीन भारत में निवास करते थे। ये पणि वैदिक-देवता इन्द्र को नहीं मानते थे। Ludvig ने अनुमान लगाया है कि पणि आदिवासी व्यापारी थे। इनका आर्यों के साथ युद्ध भी होता था, अतः बहुत सम्भव है कि ये पणि श्रमण-संस्कृति के उपासक रहे हों। आरण्यक और उपनिषदो मे आत्मा, पुनर्जन्म, संन्यास, तप और मुक्ति का वर्णन पाया जाता है। आत्म-विद्या का एक छोर पुनर्जन्म है तो दूसरा छोर मुक्ति है। संन्यास धारणकर व्यक्ति जन्म-मरण से मुक्ति प्राप्त करता है। इन तत्वों के आधार पर विद्वानों का अनुमान है कि जैनधर्म का अस्तित्त्व वैदिककाल में श्रमण संस्कृति के रूप मे वर्त्तमान था। ऋग्वेद के १० वें मण्डल के १३६ वें सूक्त में 'वातरशना' शब्द द्वारा नग्न मुनियों का स्मरण किया गया है। 'वातरशना' शब्द का अर्थ 'दिग्वासा वातरशनो निर्ग्रन्थेशो निरम्बरः' अर्थात् दिगम्बर, निर्ग्रन्थ मुनि को 'वातरशना' कहा गया है। अतएव स्पष्ट है कि जैनधर्म का अस्तित्त्व वैदिक धर्म के समान ही प्राचीन है।

अन्तिम तीर्थंकर श्रमण भगवान महावीर द्वारा प्रतिपादित 'स्याद्वाद' सिद्धान्त ही जैनधर्म की प्राचीनता सिद्ध करने के लिये पर्याप्त है; क्योंकि राजनीति, जीवन और समाज मे समन्वयात्मक विचारो का निरूपण करनेवाला सिद्धान्त एकाएक प्रस्तुत नहीं हो सकता। यह उदार सिद्धान्त कई विचारको के विचारों से परिष्कृत होने के पश्चात् ही निष्पन्न हुआ होगा। प्राणीमात्र के विचारो और कथनों में सत्यांश प्राप्त करना और हठ एवं पक्षपात को छोड़कर समन्वयात्मक दृष्टिकोण को अपनाना शताब्दियों के विचार-मन्थन के बाद ही निसृत हो सकता है। अतः २४ तीर्थंकरो की मान्यता सिद्ध करने के लिये स्याद्वाद सिद्धान्त एक सबल निदर्शन है। भगवान पार्श्वनाथ ने चातुर्यामिक उपदेश दिया, जबकि महावीर ने उसमें संशोधन एवं परिवर्द्धन कर उसे पंचयामी बनाया। अतः सम्भव है कि 'स्याद्वाद' सिद्धान्त किसी एक समय में विकसित न हुआ हो, बल्कि तीर्थंकरो द्वारा यह सिद्धान्त क्रमशः पूर्णता को प्राप्त हुआ होगा।

उपलब्ध जैन साहित्य भगवान महावीर के उत्तरकाल का है। जैनों का समस्त वाङ्मय ११ अंग एवं १४ पूर्व के रूप में निबद्ध माना जाता है। पर ये मूल आगमग्रन्थ समय के प्रभाव से आज अपने यथार्थरूप में प्राप्य नहीं हैं। अतः मैं उपलब्ध वाङ्मय को भाषा की दृष्टि से संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश, हिन्दी, कन्नड, तमिल, मराठी आदि, भागों में विभक्त कर यहाँ उनका सर्वेक्षण करने का प्रयास करूँगा।

संस्कृत-साहित्य :

संस्कृत भाषा में धर्म और दर्शन के अतिरिक्त काव्य, कोष, छन्द, अलंकार, गणित, ज्योतिष, आयुर्वेद, मुद्राशास्त्र प्रभृति विषयों पर विपुल ग्रंथ रचे गये हैं। आचार्य गृद्धपिच्छ ने प्रथम शताब्दी में 'तत्त्वार्थसूत्र' की रचना की। यह ग्रन्थ सूत्रशैली का प्रथम जैनदार्शनिक ग्रन्थ है। गृद्धपिच्छ ने समस्त जैन तत्वज्ञान को इस छोटी-सी जैनकृति में ही निबद्ध करने की सफल चेष्टा की है। जिसे संक्षेप मे जैन सिद्धान्तों को समझना हो, उसके लिये यह ग्रन्थ प्रस्थानत्रयी के समान उपयोगी है।

गृद्धपिच्छ के पश्चात् संस्कृत भाषा का दूसरा दार्शनिक कवि समन्तभद्र है। इनका समय प्रायः ईस्वी की दूसरी सदी है। इन्होंने स्वयम्भू-स्तोत्र, स्तुतिविद्या, देवागम-स्तोत्र, युक्त्यनुशासन, रत्नकरण्ड-श्रावकाचार, जीवसिद्धि, तत्त्वानुशासन, प्रमाणपदार्थ, कर्मप्राभृतटीका एवं गन्धहस्ति-महाभाष्य नामक ग्रंथों की रचना की है। संस्कृत काव्य के क्षेत्र में समन्तभद्र की सबसे बड़ी देन चित्रालंकार की है। अभी तक विद्वानों का यह मत है कि भारवि और माघ से ही चित्रालंकार का श्रीगणेश होता है, पर समन्तभद्र के अध्ययन से चित्रकाव्य की परम्परा ईस्वी सन् की दूसरी शताब्दी तक पहुँच जाती है। दर्शन के क्षेत्र में समन्तभद्र को प्रथम जैन दार्शनिक विद्वान् कह सकते हैं। स्तोत्र-शैली मे दार्शनिक सिद्धान्तों का ग्रथन इनकी अपनी विशेषता है।

समन्तभद्र के पश्चात् कवि और दार्शनिक के रूप में सिद्धसेन का नाम आता है। 'जैनेन्द्र-महावृत्ति' मे समन्तभद्र एवं सिद्धसेन दोनों के नाम आये है। सिद्धसेन ने सन्मतिसूत्र की रचना प्राकृत में और द्वात्रिंशतिकाओं की रचना संस्कृत में की है। प्रायः इनकी द्वात्रिंशतिकाओं मे काव्य और दर्शनतत्त्व सम्यक् रूप में उपलब्ध है।

संस्कृत के तीसरे जैनाचार्य देवनन्दि-पूज्यपाद हैं। ये एक साथ कवि, वैयाकरण और दार्शनिक है। इनका समय विक्रम की ५ वीं सदी का उत्तरार्ध माना गया है। जैनेन्द्र व्याकरण, सर्वार्थसिद्धि, समाधितन्त्र, और इष्टोपदेश के अतिरिक्त इनका 'दशभक्ति' नामक ग्रंथ भी पाया जाता है।

पात्रकेशरी और मानतुंग भी ७ वी सदी के संस्कृत के आचार्य है। मानतुंग के लोकप्रिय भक्तामर-स्तोत्र से जन-जन परिचित है। प्रबन्ध-काव्य के रूप में तीर्थंकर, चक्रवर्ती, नारायण, प्रति नारायण प्रभृति महापुरुषों के चरितो को काव्य रूप में निबद्ध करने की परम्परा ईस्वी सन् की ७ वी सदी से प्रारम्भ होती है। रविषेण और जटासिंहनन्दि इस प्रकार के जैन कवि हैं, जिन्होंने रामायण की शैली पर प्रबन्धो का सृजन किया है। प्राकृत मे जिस राम-कथा को विमलसूरि ने निबद्ध किया था, उसी राम-कथा को रविषेण ने ललित छन्दो में निबद्ध किया है। रविषेण ने रामायण के पात्रों के चरित्र को बहुत ही उदात्त और उन्नत रूप में प्रस्तुत किया है। राक्षस और वानर वंश को विद्याधर राजा एवं कैकेयी, अंजना, सीता एवं मन्दोदरी आदि नारी-पात्रों के चरित्रों को सहानुभूति-पूर्वक चित्रित कर उन्हें दया, ममता और वात्सल्य का स्रोत सिद्ध किया है। बालि और रावण के चरित्र भी कम उदात्त नही है। जटासिंहनन्दि ने 'वरांगचरित' नामक काव्य की रचना महाकाव्य के रूप में की है। कवि की प्रतिभा दर्शन और तत्त्वज्ञान के निरूपण में जितनी प्रखर हुई है उससे अधिक सौन्दर्य के चित्रण में। पद्मचरित और वरांगचरित ये दोनों ही ग्रन्थ समाज और संस्कृति के अध्ययन की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। ८ वी शताब्दी का समाज पूर्णतया इन ग्रन्थों में प्रति-फलित हुआ है।

८ वीं शती में एक महान विभूति और अवतरित होती है। यह विभूति है आचार्य वीरसेन, जिन्होंने षट्खण्डागम की संस्कृत-प्राकृत मिश्रित मणि-प्रवाल भाषा में ७२ हजार श्लोक प्रमाण धवला-टीका और कसायपाहुड की २० हजार श्लोक प्रमाण जयधवला-टीका लिखी। इस प्रकार एक ही आचार्य ने ९२ हजार श्लोक प्रमाण टीका रची है। भाषा की दृष्टि से इस टीका का जितना महत्त्व है, उससे कहीं अधिक विषय-वैविध्य की दृष्टि से। गणित, ज्योतिष, भूगोल, समाज-शास्त्र, राजनीति-शास्त्र प्रभृति अनेकानेक विषय महाभारत के समान ही इनमें निबद्ध हैं।

काव्य के क्षेत्र में सन्धानात्मक काव्य और संस्कृत कोष की रचना करने वाला कवि धनञ्जय है। इसका समय अनुमानतः ८ वीं सदी है। इसने १८ सर्ग प्रमाण द्विसन्धान महाकाव्य, नाममालाकोष, अनेकाक्षरनाममालाकोष, विषापहार-स्तोत्र प्रभृति ग्रन्थ रचे हैं।

जैन न्याय का संवर्द्धक अद्भुत प्रतिभाशाली महादार्शनिक अकलंकदेव का समय भी ८ वीं शताब्दी है। इन्होंने लघीयस्त्रयवृत्ति, न्यायविनिश्चय, सिद्धिविनिश्चय, प्रमाणसंग्रह, तत्त्वार्थराजवार्तिक एवं अष्टशती प्रभृति ग्रन्थों की रचना की है। अकलंकदेव वह दार्शनिक पण्डित है, जिन्होंने अपने समय के आस्तिक दर्शन और बौद्धदर्शन के सिद्धान्तों की तर्कपूर्ण मीमांसा प्रस्तुत की है। जैन न्याय के क्षेत्र में अकलंकदेव को हम धर्मकीर्ति और कुमारिल भट्ट से कम नहीं मानते। गुण और परिमाण दोनों ही दृष्टियों से अकलंक की रचनाएं बेजोड़ है।

इसी सदी के एक अन्य दार्शनिक आचार्य हरिभद्र को भी हम नहीं भूल सकते। हरिभद्र ने अकेले ही १४४० ग्रन्थों की रचना की है, जिनमे आज लगभग ५०-६० ग्रन्थ ही प्राप्त है। सर्व-साधारणोपयोगी योग और दर्शन पर उत्तम कोटि की रचना करने वाले ये आचार्य है। इनके "षड्दर्शनसमुच्चय" से प्रत्येक दर्शनशास्त्री अवगत है। 'अनेकान्तजयपताका' अपने ढंग का एक अनुपम ग्रन्थरत्न है।

९ वी सदी में जिनसेन प्रथम, जिनसेन द्वितीय, गुणभद्र, विद्यानन्द, वप्पभट्टि और वादीभसिंह संस्कृत के प्रसिद्ध कवि हुए है। जिनसेन ने महापुराण की रचना कर एक नई साहित्य-विधा को जन्म दिया है। आचार्य जिनसेन द्वितीय ने जहाँ पुराण के क्षेत्र मे मीलपत्थर की स्थापना की, वहाँ समस्यापूर्ति के रूप में 'पार्श्वाभ्युदय' नामक एक उत्तम काव्य की भी रचना की है। मेघदूत मे जितना लालित्य और माधुर्य है, शान्तरस प्रधान होते हुए भी 'पार्श्वाभ्युदय' मे उससे कम नहीं। 'मेघदूत' के श्रृंगारपरक लघुकथानक को शास्त्रीय खण्डकाव्य का स्वरूप प्रदान कर जिनसेन ने मेघदूत की परम्परा में एक नई कड़ी जोड़ी है।

विद्यानन्द महान दार्शनिक है। इनका अष्टसहस्री और तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक किस दार्शनिक को अपनी ओर आकृष्ट नहीं करते? हमारी दृष्टि से समन्तभद्र, अकलंक और विद्यानन्द ये तीन ऐसे दार्शनिक है, जिन्होंने जैनदर्शन के क्षेत्र में अद्वितीय कार्य किया है।

वादीभसिंह की गद्यचिन्तामणि हमे बाणभट्ट की कादम्बरी की स्मृति दिलाती है। शैली की दृष्टिसे यह गद्य-ग्रन्थ किसी भी दृष्टि से कादम्बरी से कम नही है। आश्चर्य है कि अब तक इस सरस और गम्भीर गद्य-काव्य के अध्ययन की ओर विद्वानों का ध्यान आकृष्ट नही हुआ है।

१० वी शताब्दी में हरिषेण, असग कवि, बालचन्द्र, वीरनन्दि और हरिचन्द प्रमुख संस्कृत के महाकवि हुए हैं। असग के वर्धमानचरित और शान्तिनाथचरित दोनों ही महाकाव्य है। वीरनन्दि

ने चन्द्रप्रभचरित नामक महाकाव्य की रचना की है। यह काव्य रघुवंश और कुमारसम्भव से कम सरस नहीं है। महाकवि हरिचन्द का धर्मशर्माभ्युदय तो माघ कवि के शिशुपालवध के समान ही महत्त्वपूर्ण है। इस महाकाव्य का प्रभाव श्रीहर्ष के नैषधचरित पर भी है। कवि के उपमान, उत्प्रेक्षाएँ, कल्पनाएँ एवं बिम्ब-योजनाएँ अनुपम हैं।

११वीं सदी के महाकवि वादिराज का पार्श्वनाथचरित महाकाव्य और यशोधरचरित खण्डकाव्य निश्चय ही अद्वितीय रत्न है। इसी सदी में सोमदेव ने यशस्तिलकचम्पू और नीतिवाक्यामृत की रचना कर जैन साहित्य को अमर बना दिया है। राजनैतिक और आर्थिक विचारो की दृष्टि से नीतिवाक्यामृत को कौटिल्य के अर्थशास्त्रके समकक्ष मानना न्याय-संगत है। इसी शताब्दी में महाकवि महासेन ने प्रद्युम्नचरित नामक महाकाव्य की रचना कर ललित काव्य को एक नई दिशा प्रदान की है। धनपाल की तिलकमंजरी इसी शती की अनुपम गद्य-रचना है।

१२वी सदी में वाग्भट्ट, धनेश्वर, श्रीपाल, हेमचन्द्र, जिनचन्द्र, पद्मानन्द, चन्द्रप्रभ, मुनिचन्द्र, देवचन्द्र, रामचन्द्र, गुणचन्द्र और विजयपाल संस्कृत के प्रसिद्ध जैन कवि हुए हैं। हेमचन्द्र में वैयाकरण, दार्शनिक, आलंकारिक, कोशकार एवं महाकवि का व्यक्तित्व एक साथ सम्पृक्त है। इनका काव्यानुशासन अलंकार-शास्त्रियो के लिये महत्त्वपूर्ण तो है ही पर हैमशब्दानुशासन १२ वीं शताब्दी तक की समस्त भाषा-प्रवृत्तियों का अनुशासन करने में पूर्णतया सक्षम है। पाणिनि के द्वारा संस्कृत भाषा को एक सुष्ठुरूप प्राप्त हो जाने पर भी उसमे कुछ नैसर्गिक विकास होता रहा है। इन विकसित होने वाली प्रवृत्तियो की सूचना हेमचन्द्र जितनी प्रामाणिकता से दे सके है, भोज आदि वैयाकरण नही।

१३वी सदी में लगभग दो दर्जन संस्कृत के जैन कवि और आचार्य हुए हैं। इन आचार्यों में हस्तिमल्ल का जैन नाटक-रचयिता के रूप मे प्रमुख स्थान है। इस शताब्दी में लगभग २० संस्कृत के महाकाव्य रचे गये है। धर्मकुमार का शालिभद्रचरित, माणिकचन्द्र का पार्श्वनाथचरित, अर्हद्दास का मुनिसुव्रतमहाकाव्य, वस्तुपाल का नरनारायणानन्दमहाकाव्य, बालचन्द्र का वसन्तविलास महाकाव्य, वर्द्धमानभट्टारक का वरांगचरितमहाकाव्य, अमरचन्द्र का पद्मानन्दमहाकाव्य, जिनपाल उपाध्याय का सनत्कुमारचरितमहाकाव्य ऐसी अमूल्य काव्य-मणियाँ हैं जिनके आलोक को तिरोहित नहीं किया जा सकता।

१४वी सदी मे जिनप्रभ, लक्ष्मीतिलकगणि, मानतुंग, मेरुतुंग, प्रभाचन्द्र के शिष्य पद्मनन्दि आदि लगभग एक दर्जन से अधिक कवि हुए है। मानतुंग का श्रेयांसनाथचरित, कमलप्रभसूरि का पुण्डरीकचरित, मेरुतुंग का जैनमेघदूत काव्यगुणों की दृष्टि से प्रथमश्रेणी के महाकाव्य हैं। जिनप्रभसूरि द्वारा विरचित श्रेणिकचरित में महाकाव्य के समस्त लक्षण सन्निहित है।

१५-१६वीं शताब्दी तो संस्कृत-काव्य के विकास के लिये स्वर्णयुग ही है। अकेले भट्टारक सकलकीर्ति ने इतने अधिक काव्य और चरित ग्रंथों का प्रणयन किया है, जिससे एक अच्छा-सा पुस्तकालय इन्हीं की कृतियों से समृद्ध किया जा सकता है। मेधावी पण्डित का चित्रबंध-स्तुतिकाव्य काव्यालोचकों के लिये मनोरंजन की वस्तु है। मुनिभद्र ने शान्तिनाथचरित और चरित्रसुन्दर ने कुमारपालचरित की रचनाकर महाकाव्य की विधा को एक नई दिशा प्रदान की है। वर्णन विस्तार-मुक्त

सीधी-साधी कथा का आश्रय लेकर आन्तरिक और बाह्य संघर्षों की अभिव्यञ्जना ही इस शती के जैन महाकाव्यों की विशेषता है। दोड्डय कवि का भुजबलिचरितम् एक सरस और मधुर खण्डकाव्य है। जैन-सिद्धान्त-भास्कर भाग १० किरण २ में इस काव्य की मूल पाण्डुलिपि प्रकाशित हुई थी। कवि ने खण्डकाव्य की सीमित सीमा में बंधकर भी पात्रों के चरित को महाकाव्योचित उदात्तता प्रदान की है।

१७वीं शताब्दी में वादिचन्द्र, मेघविजय और राजमल्ल ये तीन ऐसे संस्कृत के महाकवि हुए हैं, जिन्होंने सरल, परिष्कृत और समासहीन संस्कृत-शैली में काव्यो की रचना की है। सन्धान-काव्य-विधा के समृद्ध होने की दृष्टि से यह शती अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। मेघविजयगणि का सप्तसंधान-महाकाव्य एक साथ ७ अर्थों को लेकर लिखा गया है। जैनकवि जगन्नाथ ने एक ही पद्य मे २४ अर्थों की योजना की है। श्रीभूषण भट्टारक द्वारा विरचित शान्तिनाथचरित भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं है।

१५ वीं और १७ वी शताब्दी के मध्य यशोधरनृपति का आख्यान बहुत ही लोकप्रिय रहा है, यही कारण है कि लगभग १५-२० काव्य विविध भाषाओ में यशोधरचरित पर ही लिखे गये है। काव्यगुणों की दृष्टि से पद्मनाभ कायस्थ का यशोधरचरित एक सुन्दर काव्य है।

जैन लेखकों द्वारा अलंकार-साहित्य पर वाग्भट कवि का वाग्भटालंकार, द्वितीय वाग्भट का काव्यानुशासन, हेमचन्द्रका काव्यानुशासन, अरिसिंह की काव्यकल्पलतावृत्ति, अजितसेन का अलंकारचिन्तामणि, रामचन्द्र-गुणचन्द्र का नाट्यदर्पण, भावदेव का काव्यालंकारसार, विजयवर्णी की शृङ्गारार्णवचन्द्रिका, अमृतनन्दि का अलंकारसंग्रह आदि ग्रन्थ अलंकार-साहित्य की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं। काव्यप्रकाश पर माणिक्यनन्दि कवि ने 'संकेता' नामकी प्रथम संस्कृत-टीका लिखी है। रुद्रट के काव्यालंकार पर नमिसाधु की सर्वोत्तम संस्कृत-टीका है।

कोश की दिशा में धनञ्जय को नाममाला, अनेकार्थनिघण्टु, हेमचन्द्र का अभिधानचिन्तामणि, अनेकार्थसंग्रह, श्रीधर का विश्वलोचनकोश, राजचन्द्र का देश्यनिर्देशनिघण्टु, शिवशम्भु का एकाक्षर-नाममालाकोश, पुण्यरत्नसूरि का द्व्यक्षरकोष, असगकवि का नानार्थकोश, हर्षकीर्त्ति की नाममाला, भानुचन्द्र का नामसंग्रहकोष आदि कोश-साहित्य की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है।

ज्योतिष-विषयक साहित्य में भद्रबाहु का अर्हच्चूडामणिसार, ऋषिपुत्रका निमित्तशास्त्र, भद्रबाहु भट्टारक का निमित्तशास्त्र, चन्द्रसेन का केवलज्ञानहोरा, श्रीधर का ज्योतिषशास्त्र एवं ज्योतिर्ज्ञानविधि, मल्लिसेन का आयसद्भाव, उदयप्रभ की व्यवहारचर्या, राजादित्यका व्यवहाररत्न, पद्मप्रभसूरि का भुवनदीपक, नरचन्द्र का लग्नविचार, ज्योतिषप्रकाश, प्रश्नशतक एवं वेडाजातकवृत्ति, अर्हद्दास का अट्टमत, महिन्द्रसूरि का यंत्रराज, भद्रबाहुकी भद्रबाहुसंहिता, समन्तभद्र का केवलज्ञानप्रश्नचूडामणि, हेमप्रभ का त्रैलोक्यप्रकाश और मेघमाला, रत्नशेखर का दिनशुद्धि-प्रकरण, मेघमहोदय का वर्ष-प्रबोध और हस्तसंजीवन, उभयकुशल का विवाहपटल प्रभृति ग्रन्थ उल्लेख्य हैं। भट्ट वोसरि का आयज्ञानतिलक तो ज्योतिष का एक बहुमूल्य ग्रन्थ है।

गणित के क्षेत्र में महावीर का गणितसारसंग्रह एवं ठक्कुर फेरु का गणितसार आदि गणित के महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ हैं।

इस प्रकार संस्कृत-भाषा में जैन विद्वानों ने विविध विषयक साहित्य का प्रणयन किया है।

प्राकृत-साहित्य :

अर्धमागधी प्राकृत के ४५ आगम-ग्रन्थों के अतिरिक्त शौरसेनी आगम-ग्रन्थों में आचार्य कुन्दकुन्द के पवयणसार, समयसार, पंचत्थिकाय, बारसअणुवेक्खा एवं अट्ठपाहुड, स्वामिकार्त्तिकेय की कट्टिगेयाणुवेक्खा, वट्टकेर का मूलाचार, वसुनन्दि का उपासकाध्ययन, सिद्धान्तचक्रवर्ति नेमिचन्द्राचार्य के गोम्मटसार, लब्धिसार, क्षपणासार, त्रिलोकसार एवं द्रव्यसंग्रह प्रभृति ग्रन्थ उल्लेखनीय हैं।

काव्य और कथा-साहित्य की दृष्टि से विमलसूरि का पउमचरिय, संघदासगणि की वसुदेव-हिण्डी, हरिभद्रसूरि की समराइच्चकहा, उद्योतनसूरि की कुवलयमालाकहा, पादलिप्तसूरि की तरंगवइकहा, जिनेश्वरसूरि की निर्वाणलीलावइकहा, जिनचन्द्र की संवेगरंगशाला, महेश्वरसूरि की नागपंचमीकहा, चन्द्रप्रभमहत्तर का विजयचन्द्रकेवलिचरियं, गुणचन्द्र का महावीरचरियं, देवभद्र का श्रीपासणाहचरियं, नेमिचन्द्र का महावीरचरियं, रयणचूडरायचरियं, सुमतिसूरि का जिनदत्ताख्यान, जिनहर्ष की रयणसेहरनिव-कहा, वीरदेव की महीवाल-कहा एवं सिंहतिलक की आरामसोहा-कहा, आदि लघुकथाएँ महत्वपूर्ण है। इन कथा और काव्यों को मनोरंजक और सरस बनाने के हेतु विविध सम्वाद, प्रहेलिका, समस्यापूर्त्ति, सुभाषित, सूक्ति, विष्णुगीतिका, चर्चरी, गीत एवं प्रगीतों की भी योजना की गई है। चरित-काव्यों में प्रयुक्त उपमान अनेक दृष्टियों से नवीन हैं। पतित और दलित समाज का उत्थान तथा उस समाज के मार्मिक चित्र बड़ी उदारता के साथ प्राकृत काव्य और कथाओं में अंकित किये गये हैं। राम, कृष्ण, पाण्डव, हनुमत् आदि के आख्यानों के विविध प्रकार के मनोरम एवं बुद्धिसंगत रूप प्राकृत काव्यो में चित्रित है।

अलंकार-शास्त्र की दृष्टि से हेमचन्द्र का कुमारपालचरित संस्कृत के भट्टिकाव्य के समान ललित और शास्त्रीय है। कथाओं को लोकरंजक बनाने के लिये समन्वयवादी वृत्ति को अपनाया गया है। दान, शील, तप और सद्भावना के प्रचार द्वारा मानवचरित को उन्नत बनाने का अथक प्रयास किया गया है। सौन्दर्य-पिपासा की शान्ति के हेतु नारी-सौन्दर्य के अतिरिक्त वन, उपवन, नदी, सरोवर, सूर्य, चन्द्र, उषा, सन्ध्या एवं ऋतु आदि का चित्रण विस्तृत और सरस हुआ है। संस्कृत-काव्य-परम्परा का अनुसरण करने पर भी प्राकृत के जैन कवियों में वस्तु-कल्पना और वस्तु-संगठन की दृष्टि से मौलिकता और नवीनता है।

अपभ्रंश-साहित्य :

बहुमुखी प्राकृत साहित्य के अतिरिक्त अपभ्रंश का साहित्य भी विविध प्रवृत्तियों की दृष्टि से बहुत ही महत्वपूर्ण है। जैन कवियों ने लोकभाषा को काव्य और साहित्य का माध्यम प्राचीन काल से ही बनाया है। यही कारण है कि अपभ्रंश में केवल काव्य, कथा, चरित्र एवं पुराण-विषयक रचनाएँ ही नहीं हैं, अपितु गणित, आयुर्वेद, वास्तुशास्त्र आदि अनेक विषय सम्बन्धी रचनाएँ उपलब्ध हैं। अपभ्रंश का सबसे पहला कवि चतुर्मुख है। इस कवि ने पद्धड़िया छन्द का अविष्कार किया, जो छन्द अपभ्रंश के अनेक स्तरों को पारकर हिन्दी में भी इसी नाम से प्रयुक्त हुआ है।

प्रबन्ध-काव्य की दृष्टि से महाकवि स्वयम्भू आठवीं शताब्दी का वह कवि है, जिसने राम एवं कृष्ण कथा पर पृथक-पृथक अपभ्रंश में काव्य-ग्रन्थ लिखे हैं। पउमचरिउ एवं रिट्ठणेमिचरिउ मात्र पुराण नही है किन्तु महाकाव्य के अनेक तत्त्व इन काव्यों में समवेत हैं। काव्यारम्भ की पुरानी

परम्परा का पालन करते हुए आरम्भ में स्वयम्भू ने पण्डितों से निवेदन किया है कि मेरे समान कुकवि कोई दूसरा न होगा। न तो मैं व्याकरण जानता हूँ और न पाँचों महाकाव्यों को ही। पिंगल और अलंकारका भी मुझे ज्ञान नही। कवि की यह उक्ति मात्र नम्रता का सूचक ही नही, बल्कि कवि की अभिज्ञता की सूचना है। राम के चरित में कवि ने आदर्श मानव के समस्त गुणों का संयोजन किया है। उसने उन मानव-मूर्तियों को गढ़ा है जो मानव-विकारों और कमजोरियों का आगार है। कवि मार्मिक प्रसंगो के नियोजन में भी अत्यन्त पटु है। संस्कृत एवं हिंदी के राम-काव्यों में लक्ष्मण को शक्ति लगने पर राम का ही विलाप उपलब्ध होता है। पर कवि स्वयम्भू ने ऐसे सन्दर्भ का भी नियोजन किया है, जिसमें आहत लक्ष्मण की मूर्च्छित अवस्था को सुन भरत भी विलाप करते है। भरत के हृदय की दशा का बहुत ही सरस और हृदयग्राही चित्र प्रस्तुत हुआ है। भरत के करुण विलाप के समान ही रावण की मृत्यु पर विभीषण ने विलाप किया है। भाई को छोड़ विभीषण राम से मिल गया, पर रावण की मृत्यु के अनन्तर उसके हृदय में आत्मग्लानि, क्षोभ, पश्चाताप आदि कितने प्रकार के भाव उठे होंगे। अत: कवि स्वयम्भू ने अपनी सहानुभूति विभीषण को भी प्रदान की है। मैं यहाँ एक ऐसी उदात्त कल्पना आप के सामने प्रस्तुत करना चाहता हूँ, जिस कल्पना की बाल्मीकि आदि संस्कृत के कवि तो प्रस्तुत कर ही नही सके है, हिन्दी के महाकवि तुलसी आदि भी उसका स्पर्श नही कर सके। कल्पना वन-गमन के करुण प्रसंग की है। राजभवनों में रहने वाली राजवधू जानकी घर से बाहर चरण रखती है। स्वयम्भू की कल्पना पंख खोलकर आकाश में उड़ जाती हैं। वह कहता है—"जानकी अपने मन्दिर से क्या निकली, मानों हिमवान् से गंगा निकल पड़ीं, छन्दम् से गायत्री निकल पडी, शब्द से विभक्ति निकल पड़ी हो[१]।

स्वयम्भू के अनन्तर पुष्पदन्त, त्रिभुवनस्वयम्भू, धनपाल आदि कई अपभ्रंश भाषा के जैन कवि प्रबंध-काव्य-प्रणेताओ में अपना उत्तम स्थान रखते है। धनपाल की भविसयत्तकहा मार्मिक स्थलों की दृष्टि से बेजोड़ है। कवि ने बड़ी करुणा और सहानुभूति के साथ भविष्यदत्त का चरित्र अंकित किया है।

मुक्तक काव्यो में पाहुडदोहा, सावयधम्मदोहा, वैराग्यसार, योगसार आदि रचनाएँ भी महत्वपूर्ण है। अपभ्रंश मे गद्य-साहित्य के सन्दर्भ भी मिलते हैं। हिन्दी गद्य-साहित्य और हिन्दी भाषा के स्वरूप स्थिरीकरण के लिये अपभ्रंश का यह गद्य-साहित्य एक अमूल्य वरदान है। इस दिशा में अन्वेषण की आवश्यकता है।

हिन्दी-साहित्य :

हिन्दी साहित्य के क्षेत्र में जैन कवियो की देन अमूल्य है। हिन्दी साहित्य के आदि काल का पुनर्संशोधन, जैन कवियो की रचनाओं के आधार पर ही किया गया है। गौतमरासा, सप्तक्षेत्ररासा, संघपतिसमरारासा, कच्छुलिरासा, यशोधररासा, धनपालरासा, सम्यक्त्वरासा, नेमीश्वररासा आदि रासा-ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं। हिन्दी महाकाव्य के क्षेत्र में भूधरदास का पार्श्वनाथचरित, जिनदास का श्रेणिकचरित, दयासागर का धर्मदत्तचरित, विनोदीलाल का श्रीपालचरित लक्ष्मीदास का यशोधरचरित, विश्वभूषण भट्टारक का जिनदत्तचरित, विमलसाह का वर्धमानचरित, भारामल का

१. पउमचरिउ २।२३।६।

चारुदत्तचरित एवं श्रीपालचरित, सेवाराम का हनुमतचरित आदि प्रसिद्ध काव्य हैं। गीति-काव्य के क्षेत्र में बनारसीदास, भूधरदास, आनन्दघन, दौलतराम आदि के नाम विशेष रूप से उल्लेख्य हैं। चर्चरी और बारहमासा साहित्य भी हिन्दी के लिये एक नई विधा है। राजुलबारहमासा, सीता-बारहमासा, अंजनाबारहमासा प्रभृति बारहमासा-साहित्य महत्त्वपूर्ण है। चौबीसी, पच्चीसी एवं बत्तीसी साहित्य-विधा भी जैन-कवियों की अपनी ही सूझ है। इन रचनाओं में खण्डकाव्य के समस्त तत्त्व तो हैं ही, पर विरह और हृदय की मार्मिक स्पन्दनशीलता भी वर्तमान है।

कन्नड-साहित्य :

कन्नड-साहित्य में मौलिक चेतना तरंगित होती है। गम्भीर चिन्तन, समुन्नत हार्दिक प्रसार एव गोदावरी और कावेरी के द्वन्द्व इस साहित्य में मिलते हैं। ९ वीं शताब्दी में राष्ट्रकूट राजा नृपतुंग के राज्यकाल से जैन कवियों ने कन्नड में काव्य-रचना का श्रीगणेश किया है। कवि चक्रवर्त्ती पम्प ने कन्नड-साहित्य में एक ऐसे भव्य मन्दिर का निर्माण किया जिसकी कलाकृति उत्तरवर्त्ती कवियों के लिये आदर्श मार्ग बनी। आदिपुराण और भारत ये दोनो ही इनके प्रसिद्ध चम्पूकाव्य हैं। 'भारत' में काव्यतत्त्वो का प्राचुर्य है। इसमें कल्पना की उड़ान और मनोरम दृश्यो का चित्रण किसी भी भाषा के समालोचक के लिये अमूल्य वस्तु है। इस लोक-प्रसिद्ध कवि की रामायण तो दक्षिण भारत की जनता का कण्ठहार ही है। ओड्डय कवि द्वारा विरचित कव्विगरकाव इतिवृत्त, वस्तु-व्यापार-वर्णन और दृश्य-चित्रण की दृष्टि से बेजोड़ है। नयसेन ने 'धर्मामृत' नामक कथाग्रन्थ को रचनाकर संस्कृत एवं कन्नड मिश्रित भाषा में कन्नड-काव्य को एक नया ही रूप प्रदान किया है। महाकवि जन्न ने यशोधर-चरित और अनन्तनाथचरित को रचना की है।

कर्णपार्य ने नेमिनाथचरित, नेमिचन्द्र ने अर्धनेमिपुराण, गुणवर्म ने पुष्पदन्तपुराण, रत्नाकरवर्णी ने भरतेशवैभव एवं शतकत्रय लिखे हैं। कवि वर्णी का भरतेशवैभव माधुर्य और संगीत तत्वमें गीति-गोविन्द से भी बढ़कर है। इस ग्रन्थ की ४-६ पंक्तियाँ दक्षिण भारत के एक निरक्षर भट्टाचार्य को भी याद हैं। महाकाव्य और गीतिकाव्य का ऐसा संयोग अन्यत्र शायद ही उपलब्ध हो सकेगा।

लक्षण-ग्रन्थों में कविराजमार्ग, छन्दोऽम्बुनिधि, रतनकन्द आदि महत्त्वपूर्ण कन्नड जैन ग्रन्थ है। चन्द्रालोक और दण्डी के काव्यादर्श के अनुकरण पर कन्नड में जैनाचार्यो ने अलंकार-शास्त्रों का प्रणयन किया है। अतः स्पष्ट है कि कन्नड-साहित्य की बहुमुखी अन्तश्चेतना को अभिव्यक्त करने में जैन-साहित्यकारों का अमूल्य योगदान रहा है।

तमिल-साहित्य :

तमिल के पंचमहाकाव्यों में जीवकचिन्तामणि, शिलप्पडिकारम और वलैय्यापति ये तीन जैनाचार्यों द्वारा लिखित महाकाव्य हैं। 'जीवकचिन्तामणि' काय में तो विशाल है ही पर गुणों में भी सर्वोत्कृष्ट है। कल्पना की महत्ता, शैली को सुन्दरता और प्राकृतिक सौन्दर्य के चित्रण इस काव्य में बेजोड़ हैं। इसके रचयिता तिरुतक्कदेव ने प्रेम और सौन्दर्य के विविध रूपों का चित्रण किया है।

यशोधरकाव्य, चूलामणि, नीलकेशि उत्तम काव्य हैं। तमिल साहित्य में श्रेष्ठ व्याकरण-ग्रन्थों का निर्माण जैन लेखकों द्वारा ही हुआ है। कुरलकाव्य तो तमिल-साहित्य में पंचम वेद माना गया है। नालडियार भी महत्त्वपूर्ण गीतिकाव्य है।

मराठी-साहित्य व अन्य साहित्य :

मराठी भाषा में जैन कवियों ने शक संवत् ९८३ से ही रचनाएँ प्रारम्भ की है। जिनदास, गुणदास, मेघराज, कामराज, सूरिजन, गुणनन्दि, पुष्पसागर, महेन्द्रचन्द्र, महेन्द्रकीर्त्ति, विशालकीर्त्ति आदि मराठी जैन कवि प्रसिद्ध है। इसी प्रकार गुजराती, राजस्थानी और बुन्देली में भी विविध विषयक साहित्य उपलब्ध होता है। विस्तार-भय की दृष्टि से मैं यहाँ आँकड़े उपस्थित करने में असमर्थ हूँ।

हमें यह स्वीकार करते हुए तनिक भी संकोच नही होता है कि जैन साहित्य के अध्ययन और स्वाध्याय से कुछ समय के लिये सांसारिक विषमताओं को भूला जा सकता है। पाठक के समक्ष आदर्श का ऐसा मनोरम चित्र उपस्थित होता है जिससे वह अपनी कुत्सित वृत्तियों से जीवन को परिष्कृत करने के लिये दृढ़ संकल्प कर लेता है। जीवन को परिष्कृत करने की जितनी क्षमता जैन साहित्य मे है, उतनी ही मनोरंजन शक्ति भी वर्त्तमान है। अतः एक सम्प्रदाय-विशेष के कवि और लेखको द्वारा निर्मित यह विविध भाषा-विषयक विशाल और समृद्ध साहित्य मानव मात्र की सौदर्य-पिपासा, चारित्रिक उत्थान एवं जीवन-निर्माण के करने में उपादेय है। जैन साहित्य-स्रष्टाओ ने अखण्ड चैतन्य आनन्दरूप आत्मा का अपने अन्तस् में साक्षात्कार किया और साहित्य में उसी की अनुभूति को मूर्त्तरूप प्रदान कर सौदर्य के शाश्वत प्रकाश की रेखाओ द्वारा वाणी का चित्र अंकित किया है।

वर्त्तमान में इस साहित्य के अध्येताओ मे मुनि श्री जिनविजयजी, मुनि श्री पुण्यविजयजी, स्व० ब्रह्मचारी शीतलप्रसादजी, स्व० पं० नाथूरामजी प्रेमी स्व० बैरिस्टर चम्पतरायजी जैन, ब्रह्म० चन्दाबाई जी जैन, आचार्य जुगलकिशोर मुख्तार, पं० सुखलाल जी संघवी, डा० हीरालाल जैन, डा० ए० एन० उपाध्ये, डा० परशुराम लक्ष्मण वैद्य, डा० एन० वी० वैद्य, प्रो० एच० डी० वेलंकर, डा० बिमलाचरण ला, डा० कालिकर मुखर्जी, डा० वासुदेवशरण अग्रवाल, स्व० प्रो० ए० चक्रवर्ती, प्राचार्य कैलाशचन्द्र शास्त्री, पं० फूलचन्द्र जी शास्त्री, स्व० डा० महेन्द्रकुमार न्यायाचार्य, पं० बेचरदास दोषी, प्रो० दरबारीलाल जी कोठिया, डा० ज्योतिप्रसाद जी, स्व० डा० कामताप्रसाद जैन, डा० नेमिचन्द्र शास्त्री, डा० हरिसत्य भट्टाचार्य आदि विद्वानो के नाम उल्लेख्य है।

यह सत्य है कि अभी तक जैन साहित्य पर जितना और जैसा कार्य हुआ है वह बहुत ही अल्प है। अतः संसद् के समक्ष मैं निम्न लिखित समस्याएँ प्रस्तुत करता हूँ। विद्वान इन समस्याओ पर ध्यान देने की कृपा करें—

समस्याएँ :

१. जैन साहित्य का अभी तक विषयानुसार इतिहास नहीं लिखा गया है, अतः क्रमबद्ध लिखे गये इतिहास की महती आवश्यकता है।

२. पारिभाषिक जैन शब्दो के अर्थ जानने के लिये साधारण पाठक को कठिनाई का अनुभव करना पड़ता है। अतः एक पारिभाषिक शब्द-कोष की आवश्यकता है।

३. जैन आचार्य और कवियों के समय के सम्बन्ध में अभी तक विवाद चला आ रहा है। समन्तभद्र और सिद्धसेन जैसे विश्रुत कवि और दार्शनिकोंकी तिथियाँ ही प्रायः अनिर्णीत समझी जाती हैं। अतः जैनाचार्य और कवियो की तिथियों की एक तालिका सर्वसम्मतरूप से प्रकाशित होनी चाहिये।

४. अद्यावधि विविध ग्रन्थागारों में सहस्रों की संख्या में अप्रकाशित ग्रन्थरत्न भरे पड़े हैं अतः राजस्थान की ग्रन्थ-सूचियों के समान समस्त ग्रन्थागारों के ग्रन्थों की सविवरण ग्रन्थ-सूचियाँ

प्रकाशित होनी चाहिये। विविध विषयों पर यह ग्रन्थ-संपत्ति किस प्रकार विभक्त हुई है और किस प्रकार क्रमशः भिन्न-भिन्न काल-खण्डों में ग्रन्थों का निर्माण हुआ है, यह जानना आवश्यक है।

५. संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश और हिन्दी के उपयोगी एवं महत्त्वपूर्ण काव्यों का एक विवरण प्रकाशित करने की परम आवश्यकता है, जिन ग्रन्थों पर जिज्ञासु विद्वान् शोध-कार्य कर सकें।

६. प्रत्येक छह महीने पर साहित्य, दर्शन, कला, राजनीति, अर्थशास्त्र प्रभृति विषयों से सम्बद्ध कुछ ऐसे शीर्षक प्रकाशित करने की आवश्यकता है, जिन पर शोध और अन्वेषण का कार्य किया जा सके। भारत में संशोधन-कार्य कई एक महाविद्यालयों, विश्वविद्यालयों और संशोधन-संस्थाओं में हो रहा है। परन्तु उसका विहंगम दृष्टि से अवलोकन करने में कठिनाइयाँ रहती हैं, जिनको दूर करना संशोधन-कार्य की प्रगति के लिए अत्यन्त लाभदायक होगा।

७. प्रमेयकमलमार्तण्ड, अष्टसहस्री, न्यायकुमुदचन्द्र और अनेकान्तजयपताका जैसे महनीय दार्शनिक ग्रंथों की हिन्दी टीकाएँ प्रकाशित करने की आवश्यकता है।

८. देश के नवनिर्माण और चारित्रिक विकास के लिये आधुनिक भारतीय भाषाओं में जैन कथाओं के सार को लेकर अहिंसा, सत्य, संयम और त्याग के सिद्धान्त का निरूपण होने की आवश्यकता है। अतः उपन्यास, काव्य, कथा-कहानियाँ आदि नवीन शैली में लिखी जानी चाहिये।

९. राम, कृष्ण, हनुमान आदि भारतीय धर्म-नेताओं के चरित जैन दृष्टि से हिन्दी एवं अंग्रेजी मे प्रकाशित होने की आवश्यकता है।

१०. राजनीति, अर्थशास्त्र, मुद्राशास्त्र प्रभृति लोकोपयोगी जैन ग्रन्थों की सविवरण परिचयात्मक पुस्तिका के प्रकाशित होने की महती आवश्यकता है जिससे अन्वेषण करने वाले विद्वानों को उक्त विषय के जैन ग्रन्थों से सहायता प्राप्त हो सके। जिज्ञासु निष्पक्ष होने पर भी ग्रन्थो के ज्ञात न होने से यथार्थ स्थिति से अपरिचित रह जाता है।

११. मेरा यह विश्वास है कि विहार का प्रामाणिक इतिहास जैन साहित्य के सम्यक् अध्ययन के बिना अपूर्ण है। अतः संसद् के सदस्य जैन वाङ्मय से विहार सम्बन्धी ऐतिहासिक तथ्यों के साथ विहार के प्राचीन ग्राम और उनकी आर्थिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक स्थिति के सम्बन्ध में सन्दर्भ सहित तथ्य प्रस्तुत कर सकें, तो विहार-राज्य के इतिहास के लिये बहुमूल्य सामग्री उपलब्ध हो जायगी। इसी प्रकार महाराष्ट्र, गुजरात, दक्षिण भारत एवं राजस्थान के सम्बन्ध में भी प्रामाणिक तथ्य जैन साहित्य से संकलित किये जा सकते है।

मैंने एक संक्षिप्त रूपरेखा आप के सामने उपस्थित करने का प्रयास किया है। वाङ्मय अखण्ड और अद्वैत होता है। उसके साम्प्रदायिक भेद नहीं किये जा सकते। यहाँ जैन साहित्य कहने का मेरा आशय इतना ही है कि जो वाङ्मय जैनधर्म के उपासक कवियों आचार्यों और लेखको द्वारा प्रसूत हुआ है वह जैन साहित्य है। वस्तुतः यह साहित्य सौन्दर्य-लालसा की पूर्ति एवं मानवता के निर्माण-पथ मे बाल्मीकि, व्यास, कालिदास, शंकराचार्य आदि विद्वानों के साहित्य के समान ही उपयोगी है।

मैंने आपका बहुत समय लिया। मैं आपको एवं संसद् के सदस्यों के लिये धन्यवाद देता हूँ, जिन्होंने मुझे यह अवसर प्रदान किया।

ज्ञान-देवता की जय। सर्वे सुखिनः भवन्तु।

९ जनवरी, १९६५

स्वागताध्यक्ष

श्री सुबोध कुमार जैन, आरा

का

अभिभाषण

माननीय अध्यक्ष महोदय, देवियो और सज्जनो !

मुझे इस मंच से आपका स्वागत करते हुए परम हर्ष हो रहा है। गत वर्ष मैंने इसी मंच से श्री जैन-सिद्धान्त-भवन आरा को हीरक-जयन्ती महोत्सव के अवसर पर आपका स्वागत किया था। उस समय यहाँ एकत्र हुए विद्वानो ने जैन साहित्य के महत्त्व का मूल्यांकन किया, नई दृष्टि से कार्य करने की आवश्यकता का अनुभव किया और साथ ही यह अनुभव किया कि नवलेखन को भी प्रश्रय मिलना चाहिये। अतएव भारतीय जैन-साहित्य-संसद् की स्थापना कतिपय साहित्य-मनीषियो के सहयोग से सम्पन्न हुई है।

बीसवीं सदी के, उत्तरार्द्ध में इतिहास, कला और जीवन साहित्य के आलोचनात्मक मूल्यांकन की दृष्टि से प्राचीन जैन वाङ्मय पर कार्य करने का शुभारम्भ पाश्चात्य विद्वानों ने किया। तब से अब तक इस परम्परा का अनुसरण करने वाले स्व० श्री नाथूराम जी प्रेमी, आचार्य जुगलकिशोर मुख्तार, प्राचार्य कैलाशचन्द्र शास्त्री, पं० फूलचन्द्र शास्त्री, प्राचार्य चैनसुखदास, डा० ए० एन० उपाध्ये, डा० हीरालाल जैन, डा० ज्योति प्रसाद, प्रो० दरबारीलाल कोठिया, डा० कस्तूरचन्द्र कासलीवाल, डा० नेमिचन्द्र शास्त्री, पं० परमानन्द शास्त्री, पं० के० भुजवली शास्त्री, सिद्धांताचार्य श्री अगरचन्द नाहटा, स्व० डा० कामताप्रसाद आदि विद्वान् हैं। यद्यपि पाश्चात्य विद्वानों की आलोचनात्मक प्रणाली से जैन साहित्य को जहाँ अनेक लाभ हुए वहाँ एक हानि यह भी हुई कि मौलिक रचनात्मक साहित्य-धारा क्षीण-सी हो गई। यही कारण है कि इधर ५०-६० वर्षों में ऐसी कोई प्रतिभा अवतरित न हुई, जिसने संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश एवं हिन्दी के प्राचीन आचार्यों के समान युगान्तरकारी किसी रचना को प्रस्तुत किया हो। हमारी दृष्टि में जहाँ प्राचीन साहित्य के प्रकाशन और आलोचनात्मक अध्ययन की आवश्यकता है वहाँ नव-साहित्य सृजन की भी। महाकवि बनारसीदास और भूधरदास के समान हिन्दी में काव्यात्मक रचना करने के युग की बहुत बड़ी मांग है। इसी प्रकार उपन्यास, कहानी आदि का सृजन भी महाकवि रइधू के समान किसी बहुमुखी प्रतिभा द्वारा होना चाहिये।

प्राचीन जैन प्राचार्य एवं कवियों ने भारत की समस्त भाषाओं में विविध विषयक साहित्य का निर्माण रस, अलंकार, ध्वनि, व्यंग्य आदि काव्य-गुणों की दृष्टि से किया है। प्राकृत भाषा में लिखित विमलसूरि का पउमचरिय, अपभ्रंश में स्वयम्भू का पउमचरिउ एवं संस्कृत में लिखित रविषेण का पद्मचरितम् बाल्मीकि और तुलसी की कृतियों के समान हैं। इन तीनों भाषाओं में निबद्ध रामकथा चरित्र-चित्रण की दृष्टि से अद्वितीय है। प्रमुख पात्रों के अतिरिक्त गौणपात्रों के चरित्र भी विभिन्न वर्गों का प्रतिनिधित्व करते हैं। इसी प्रकार जिनसेन ने संस्कृत में, विमलसूरि ने प्राकृत में और पुष्पदन्त ने अपभ्रंश में अमूल्य काव्य-ग्रंथ लिखे हैं। समाज, संस्कृति, राजनीति, अर्थशास्त्र आदि विभिन्न विषयक विपुल सामग्री इन ग्रंथों में निहित है। हमें यह स्वीकार करते हुए थोड़ा-सा क्लेश हो रहा है कि जैकोबी एवं विटंरनिट्ज्म के पश्चात् राम और कृष्ण कथा पर जैन कार्यो का मूल्यांकन नहीं हुआ है। प्राचीन भारतीय भाषाओं के अतिरिक्त कन्नड़ में महाकवि पम्प की सर्वश्रेष्ठ रामायण है। पम्प ने पात्रों के चरित्रों को बड़े ही सुन्दर रूप में प्रस्तुत किया है। दक्षिण की तमिल, तैलगू, कन्नड़ और मलयालम इन चारों ही प्रधान भाषाओं में जैन साहित्य का बाहुल्य है। पम्प की रामायण और जन्न का कृष्ण-काव्य कन्नड़-साहित्य के लिये अमूल्य निधि है।

संस्कृत के ललित काव्यों में धनञ्जय का द्विसन्धान-महाकाव्य, वीरनंदि का चंद्रप्रभचरित, हरिचंद का धर्मशर्माभ्युदय, असग कवि का वर्धमानचरित, महासेन का प्रद्युम्नचरित, अमरचन्द्र का बालभारत, बालचन्द्र का वसन्तविलास, वास्तुपाल का नरनारायणानन्द-महाकाव्य, कमलप्रभ का पुण्डरीकचरित, नयचन्द्र का हम्मीर-महाकाव्य, सोमदेव का यशस्तिलकचम्पू प्रधान है। आश्चर्य है कि साहित्य-जगत् के बीच इन ग्रन्थों का प्रचार बहुत कम है।

गद्य-काव्य के क्षेत्र में वादीभसिंह की गद्यचिन्तामणि एवं धनपाल की तिलकमंजरी किसी भी दृष्टि से महाकवि बाण की कादम्बरी से कम महत्वपूर्ण नहीं। अलंकार, छंद और कोश-साहित्य के निर्माताओं में स्वयम्भू, धनञ्जय, हेमचंद्र, वाग्भट, अजितसेन, विजयवर्णी एवं श्रीधर को किसी प्रकार भूला नहीं जा सकता। विश्वलोचनकोश, जिसका रचनाकाल १३ वी सदी ईस्वी है, आधुनिक कोशों की शैली में लिखा गया है।

आत्मकथा लिखने की प्रणाली का श्रीगणेश करने वाले १६वीं शताब्दी के महाकवि बनारसीदास ने 'अर्धकथानक' के रूप में अपना ५० वर्षों का प्रामाणिक इतिवृत्त प्रस्तुत कर आत्म-कथालेखन की शैली का आरम्भ किया है।

इसी प्रकार हिन्दी में कोष लिखने की परम्परा का श्रीगणेश भी कवि बनारसीदास ने ही किया है। उनकी 'नाममाला' हिन्दी का प्रथम कोश-ग्रन्थ है। हिन्दी साहित्य में जिस दोहा-चौपाई वाली परम्परा का आरम्भ हुआ है उसका मूल अपभ्रंश के जैन कवियों की रचनाओं में है। पटना विश्वविद्यालय के भूतपूर्व हिन्दी विभागाध्यक्ष श्री प्रो० जगन्नाथ राय शर्मा ने अपनी अपभ्रंश-दर्पण नामक पुस्तक में धनपाल कवि का उल्लेख करते हुए लिखा है कि जैन कवियों ने हिन्दी साहित्य के आदियुग की बहुत कुछ सामग्री प्रदान की है।

इधर के प्राकृत संबंधी शोध-कार्यों पर दृष्टिपात करने से स्पष्ट अवगत होता है कि पद्मावत का मूलरूप जिनहर्षगणिका रयणसेहरनिवकहा-काव्य है। इस काव्य की कथावस्तु से पद्मावत

अनुप्राणित ही नहीं है अपितु इसकी कथा और अनेक उपमा-उत्प्रेक्षाओं को लेकर 'पद्मावत' लिखा गया है।

कथा-साहित्य के क्षेत्र में प्राचीन आचार्यों की देन बेजोड़ है। विंटरनित्स ने अपने 'भारतीय वाङ्मय के इतिहास' में इसे स्वीकार किया है।

अब तक ३०० बड़ी कथाएं और लगभग ६०० छोटी कथाएं जैन साहित्य में उपलब्ध हो चुकी है। हिंदो के प्रेमाख्यानक काव्य का निकास और विकास प्राकृत की प्रेम-कथाओं से हुआ है। पादलिप्त की तरंगवइकहा, संघदास की वसुदेवहिण्डी, उद्योतनसूरि की कुवलयमाला ऐसे सुन्दर प्रेमाख्यानक प्राकृत-काव्य है, जिनसे हिंदी के प्रेमाख्यानक काव्यों का सम्बन्ध सहज में ही जोड़ा जा सकता है।

ललित-साहित्य के अतिरिक्त भूगोल और खगोल के क्षेत्र में यतिवृषभ की तिलोयपण्णत्ति, नेमिचंद्राचार्य का त्रिलोकसार, सिंहसूरि का लोकविभाग; आगम ग्रन्थो के अंतर्गत परिगणित वृहत्क्षेत्र-समास और लघुक्षेत्रसमास आदि गून्थ बेजोड़ है। इन गून्थो में द्वीप और समुद्रो के अतिरिक्त ज्योतिर्लोक-विभाग, भवनवासिलोक-विभाग, अधोलोक-विभाग एवं ऊर्ध्वलोक-विभाग विशेष महत्वपूर्ण है। उक्त गून्थ हिन्दो और गुजराती अनुवाद सहित प्रकाशित है। पद्मनंदि की जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति भी इस दिशा में अमूल्य है। खगोल और भूगोल सम्बन्धी अनेक भारतीय प्राचीन परम्पराएं इन गून्थो में प्रतिपादित है।

गणित, ज्योतिष और खगोल-भूगोल के क्षेत्र मे प्राचीन आचार्यों ने इस्वी पूर्व चौथी सदी से ही कार्य किया है। उक्त विषय का वर्णन सूर्यप्रज्ञप्ति, चंद्रप्रज्ञप्ति, गणिविज्जा, गणितसारसंगृह, गणितसूत्र, त्रैविद्यमुनि विरचित सिद्धांतशिरोमणि, गणितशास्त्र, गणितसार, केवलज्ञानहोरा, लोकविजय-यंत्र आदि गून्थों में निबद्ध है। डा० श्यामा शास्त्री ने वेदागज्योतिष की भूमिका में लिखा है—

"ज्योतिष, गणित एवं खगोल-भूगोल की दिशा में जैनो ने विपुल साहित्य का निर्माण किया है। इस साहित्य के अध्ययन के बिना वेदाग ज्योतिष का अध्ययन अधूरा ही समझा जायगा। ज्योतिष-करण्डक ग्रीकपूर्व मान्यताओ पर सम्यक् प्रकाश डालता है।"

राजनीतिक और अर्थशास्त्र संबंधी साहित्य में भद्रबाहु एवं हेमचंद्र की अर्हन्नीति, सोमदेव का नीतिवाक्यामृत, वादीभसिंहसूरि की क्षत्रचूड़ामणि तो उक्त विषय की स्वतंत्र रचनाएं ही हैं। काव्य, कथा एवं नाटक आदि में उपलब्ध राजनीति और अर्थशास्त्र संबंधी सिद्धांत भी कम महत्वपूर्ण नहीं हैं। डा० मोतीचंद ने 'सार्थवाह' नामक रचना में जल और स्थल से होने वाले भारतीय व्यापार की पुष्टि में लगभग एक-सौ जैन गून्थों के उद्धरण प्रस्तुत किये है। गुप्तकाल में होने वाले जल-वाणिज्य का यथार्थ लेखा-जोखा 'समराइच्चकहा' और जिनसेन के 'आदिपुराण' में पाया जाता है। डा० वासुदेवशरण अग्रवाल ने सार्थवाह की भूमिका में लिखा है कि जैन साहित्य की चूर्णियों और निर्युक्तियों से सार्थ और उनके माल के सम्बन्ध में कई महत्वपूर्ण बातें ज्ञात होती हैं।

आचार-मूलक प्राचीन साहित्य तो प्रचुर परिमाण में उपलब्ध है। मानव का नैतिक उत्थान करनेवाले सहस्रों सिद्धांत इन गून्थों में वर्णित है। जिस साम्यवाद की आज चर्चा की जा रही है उसका प्रथम उद्घोष तीर्थंकर महावीर ने २५०० वर्ष पूर्व किया था। जाति, वर्ग एवं सम्प्रदाय-भेद को भूलकर मानव के रूप में संगठित होने के लिये उन्होने शंखनाद किया था। अर्थ-सम्बन्धी विषमताओं के कारण के निराकरण के लिये अपरिगृहवाद एवं विचार-सम्बन्धी विषमताओं को दूर करने के लिये अनेकान्त या स्याद्वाद का प्रणयन इनके द्वारा हुआ था। इसमें सन्देह नहो कि तीर्थंकर महावीर का यह साम्यवाद अध्यात्ममूलक आदर्श पर आधारित है। राष्ट्रपिता महात्मा गांधी और राष्ट्रनायक नेहरू, जैन और बौद्ध गून्थों में प्रतिपादित साम्यवाद का ही अनुसरण करने का प्रयास कर रहे थे।

अध्यात्म, तत्त्वज्ञान, कर्मसिद्धांत विषयक साहित्य तो विपुल परिमाण में उपलब्ध है। यह जैन वाङ्मय की अमूल्य निधि है और प्राचीन जैन साहित्य का मूलस्रोत है। प्रथम शताब्दि में तीर्थंकर महावीर के ६८३ वर्ष उपरान्त आचार्य भूतबलि पुष्पदन्त ने षट्खंडागम की रचना की। इन आगमगृन्थों की धवला-जयधवला-टीकाएँ वीरसेनाचार्य और जिनसेनाचार्य ने नवी शताब्दी में की। पहली शताब्दी के महान् आचार्य कुन्दकुन्द ने समयसार आदि गून्थ लिखे। ये सारे गून्थ प्राकृत में है। आचार्य उमास्वामि ने सर्व प्रथम जैन वाङ्मय को संस्कृत-सूत्रों में निबद्ध करके 'तत्वार्थसूत्र' जैसे सर्वमान्य गून्थ की रचना की। १० वीं शताब्दी में आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धांतचक्रवर्ति ने गोमट्टसार आदि ग्रन्थों की रचना की। जिस अणु और परमाणु शक्ति की आज चर्चा की जा रही है, उसके सम्बन्ध मे ई० पू० की ४-५ सदी से ही जैनाचार्य लिखते आ रहे है। वनस्पति-शास्त्र तो इन आचार्यों का बहुत ही प्रिय विषय रहा है। कन्नड़ और संस्कृत इन दोनों ही भाषाओं मे दो प्राचीन वनस्पति-कोश भी उपलब्ध हैं। इसी प्रकार दर्शन और न्याय-शास्त्र में स्वामी समन्तभद्र, सिद्धसेन और अकलंकदेव की महत्त्वपूर्ण कृतियाँ उपलब्ध हैं।

विषय-विस्तार होता जा रहा है। अतः मैं उपर्युक्त संक्षिप्त विवेचन की पृष्ठभूमि में कतिपय मौलिक आवश्यकताओ की ओर आज के साहित्यकारो का ध्यान आकर्षित करना चाहता हूँ।

१. विषय-क्रमानुसार जैनवाङ्मय का एक प्रामाणिक इतिहास लिखे जाने की आवश्यकता है।

२. वनस्पतिशास्त्र, मुद्राशास्त्र, व्यापार-वाणिज्य-विषयक साहित्य का परिचय शीघ्र ही प्रकाशित होना चाहिये।

३. शास्त्रों में प्रतिपादित अणु-परमाणु शक्ति पर वैज्ञानिक प्रक्रिया द्वारा अन्वेषण करने की आवश्यकता है।

४. ज्योतिष, भूगोल, गणित, आयुर्वेद प्रभृति लोकोपयोगी गून्थों के प्रकाशन के अतिरिक्त उक्त विषयों पर शोध एवं अन्वेषण कार्य होने चाहिये।

५. आचार-संहिता के अन्तर्गत जिन भक्ष्याभक्ष्य पदार्थों का निर्देश किया गया है उन पदार्थों पर वैज्ञानिक शोध-प्रणाली द्वारा तथ्यों का संकलन करना चाहिये।

६. साहित्य की किस विधा पर अब तक कितना कार्य सम्पन्न हुआ है, इसका प्रामाणिक लेखा-जोखा सामने आना चाहिये। शोध की दिशा में यह ध्यान देने की आवश्यकता है कि

किये गये कार्यों में पुनरावृत्ति न हो। अतएव संसद् के मान्य सदस्य एक वर्ष के लिये शोध-संबंधी शीर्षकों की तालिकाएं प्रस्तुत करें और उन तालिकाओं को शोध-संस्थानों को भेजें।

इस प्रकार मैंने कतिपय आवश्यक समस्याओं की ओर आप का ध्यान आकृष्ट करने की चेष्टा की है।

मान्य अतिथियों ने यहाँ पधारने की कृपा की, इसके लिये मैं स्वागत-समिति एवं अपनी ओर से आभार व्यक्त करता हूँ। आप लोगों के आतिथ्य में भूलें होनी हम से सम्भव है, आशा है आप हमें उनके लिये क्षमा करेंगे।

मैं आज के अध्यक्ष एवं सेमिनारों के अध्यक्षों, संयोजकों और उद्घाटन-कर्त्ताओं के प्रति भी अपना आभार प्रकट करता हूँ।

अन्त में स्वागत-समिति के सभी सदस्यों को भी धन्यवाद देता हूँ, क्योंकि इस समारोह के आयोजन में मुझे उनका सर्वाङ्गीण सहयोग मिला है।

अन्त में हमारी यही शुभकामना है कि यह साहित्य-संसद् जन-मन में शुद्ध दृष्टि और शुद्ध ज्ञान द्वारा शुद्ध चारित्र का बीजारोपण करती रहे।

आरा,
९ जनवरी, १९६५।

स्थायी अध्यक्ष

आचार्य पं० कैलाशचन्द्रजी शास्त्री

का

वक्तव्य

जैन साहित्य का भारतीय साहित्य मे अपना एक विशिष्ट स्थान है। जैनाचार्यों ने समय की गति के अनुसार प्राकृत, संस्कृत, अपभ्रंश और लोक-भाषाओ में उच्चकोटि के साहित्य की रचना के द्वारा भारतीय वाङ्मय के भण्डार को समृद्ध बनाने में पूरा-पूरा योगदान किया है।

भगवान महावीर की धर्म-देशना उस समय की लोक-भाषा अर्धमागधी में हुई थी। १६ वीं शताब्दी के ग्रन्थकार श्रुतसागरसूरि के अनुसार अर्धमागधी भाषा में आधे शब्द मगध देशकी भाषा के थे और आधे शब्द अन्य सर्व भाषाओं के थे। इसी से उसे अर्धमागधी-भाषा कहते थे। चूंकि भगवान महावीर की धर्म-देशना का प्रधान स्थल मगध देश था, अतः उनके श्रोताओं में मगधदेश की जनता का भाग अधिक होना स्वाभाविक है। शायद उसीके अनुपात से अर्धमागधी में मगध देश के शब्दों का बहुभाग था। भगवान महावीर की धर्मदेशना की यह विशेषता भी शायद उसीका परिणाम है कि सब श्रोता अपनी-अपनी भाषा में उनके अभिप्राय को समझ जाते थे। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि भाषा एक माध्यम है और वह माध्यम ऐसा होना चाहिये कि जिसके द्वारा अधिक-से-अधिक श्रोता या पाठक लाभान्वित हो सकें—उस माध्यम के द्वारा प्रदर्शित विचार-धारा को सुगमता से हृदयंगम कर सकें। फलतः महावीर के अनुयायी जैनाचार्यों ने किसी भाषा-विशेष के आग्रह को कभी स्थान नहीं दिया और 'बहुजन-हिताय, बहुजन-सुखाय' की भावना के अनुसार जब, जहाँ, जिस भाषा की उपयोगिता और चलन देखा उसीको अपनी रचना का माध्यम बनाकर जनता का उपकार किया। इसी से जब भारत में संस्कृत वाङ्मय को प्राधान्य मिला तो प्राकृत भाषा के स्थान में संस्कृत-भाषा में ग्रन्थ-रचना की और जब अपभ्रंश का विकास तथा विस्तार हुआ तो अपभ्रंश-भाषा में रचना की। संस्कृत-भाषा के हिमायती विद्वानों ने तो अपभ्रंश को भ्रष्ट भाषा कहकर उसकी उपेक्षा ही कर दी थी। इसी से अपभ्रंश भाषा का अधिकांश साहित्य मात्र जैनाचार्यों की देन है।

सम्राट् चन्द्रगुप्त मौर्य के समय में जब मगध में बारह वर्ष का भयंकर दुर्भिक्ष पड़ा, तो जैनाचार्य श्रुतकेवली भद्रबाहु ने बारह हजार मुनियों के महासंघ के साथ दक्षिण की ओर प्रयाण किया था और इस तरह दक्षिण के तामिल और कन्नड़ प्रदेश जैन साधुओ के आवास-स्थल बन गये थे। उस समय के जैन ग्रन्थकारों ने तमिल और कन्नड़ भाषा को अपनी ग्रन्थ-रचना का माध्यम बनाकर उन भाषाओं को समृद्ध किया और उन्हीं के द्वारा ऐसी लोक-विश्रुति प्राप्त की कि शताब्दियों तक दक्षिण प्रदेश जैनधर्म के केन्द्र बने रहे और अनेक राजवंश तक उससे प्रभावित हुए तथा उन्होंने जैनधर्म की अभ्युन्नति में योगदान किया। जैन साहित्य की एक विशेषता यह है कि वह प्रायः

आचार-सम्पन्न सन्तों की देन है। उन सन्तों-महर्षियों ने शृङ्गार-प्रधान काव्यों की भी रचना की है। किन्तु उनका शृंगार-वर्णन भी उद्दीपक नहीं है, किन्तु उपशामक है। उसके पर्यवसान में प्रवाहित होने वाली शान्त-रस की धारा कामुक के मन को भी निष्काम कर देती है। क्योंकि वह शृंगार-रसिक हृदय की देन नहीं है, किन्तु शान्त-रस में निमग्न उन महर्षियों की देन है जो शृङ्गार-रस के अनुभविता नहीं होकर भी उसके मर्मज्ञ थे। ऐसे ही एक जैनाचार्य जिनसेन थे। वह बचपन से ही प्रव्रजित होगये थे। उन्होंने काव्यमयी वाणी में भगवान ऋषभदेव को लेकर महापुराण की रचना की। उसके शृङ्गारपरक वर्णनों को देखकर लोगों को उनके ब्रह्मचर्य में सन्देह हुआ। जब यह बात आचार्य के कानों तक पहुँची तो उन्होंने एक दिन जन-समाज को एकत्र किया और शृङ्गार-रस का ऐसा उद्दीपक वर्णन किया कि श्रोता मद-विह्वल हो उठे, किन्तु आचार्य के नग्न शरीर पर उसका रत्तीमात्र भी प्रभाव परिलक्षित नहीं हुआ। इन्हीं आचार्य जिनसेन ने कविवर कालिदास के शृङ्गार-प्रधान मेघदूत के पदों को लेकर वैराग्य-प्रधान 'पार्श्वाभ्युदय' काव्य की रचना अपनी युवावस्था में की थी। मेघदूत की तरह उसकी समस्यापूर्ति रूप 'पार्श्वाभ्युदय' काव्य भी काव्य-शास्त्र की एक अमूल्य निधि है, किन्तु जैन रचना होने के कारण विद्वानों का ध्यान उस ओर नहीं जा सका है।

हमारे देश में साम्प्रदायिकता ने साहित्य के क्षेत्र में भी चौकाबन्दी कर रखी है। साहित्य को साहित्य की दृष्टि से देखने वाले विद्या-रसिकों की कमी है। इसीसे जैन साहित्य एक तरह से उपेक्षणीय-सा रहा है। और उसका यथार्थ मूल्यांकन आज तक भी नहीं हो सका है। यदि ऐसा हुआ होता तो क्या 'क्षत्रचूड़ामणि' जैसी नीतिपूर्ण उद्बोधक, सरल, सरस काव्य-रचना क्या विद्या-रसिकों के भी परिचय में न आती। यदि वह जैन रचना न होती तो उसे हितोपदेशकी-सी ख्याति अवश्य मिलती। यही बात सोमदेव के यशस्तिलकचम्पू के विषय में भी है। उस कोटि की रचना संस्कृत-वाङ्मय में अत्यन्त विरल है। किन्तु फिर भी वह उपेक्षणीय है। ज्ञान के क्षेत्र की इस चौकाबन्दी ने हमारा कम अहित नहीं किया है। किन्तु फिर भी ज्ञानियों के मनों से साम्प्रदायिकता का वह विकार जाता नहीं, स्वतंत्र भारत में भी उसकी तूती बोलती है। उस तूती की ध्वनि को अनसुनी करने के लिये आवश्यकता है कि असाम्प्रदायिकता का डिंडिमनाद किया जाये, जिसमें उसकी ध्वनि डूब जाये। किन्तु अभी ऐसा होने में देर है। इसीसे हम लोगों को जैन साहित्य को समुन्नत करने और प्रकाश में लाने के लिये भारतीय जैन साहित्य संसद् की स्थापना करनी पड़ी है। इसके द्वारा हम जैन साहित्य में योगदान करने वाले उन सभी मनीषी लेखकों तक पहुँचना चाहते है जो जैन साहित्य पर कुछ लिखते हैं या लिखने की भावना रखते हैं। हम उनकी कठिनाइयों को दूर करने में भी यथाशक्ति हाथ बटाना चाहते हैं और चाहते हैं कि विद्या-रसिक जन जैन-साहित्य को भी भारतीय-साहित्य का एक अभिन्न अंग मानकर उसे अपनावें और अपनी अमर लेखनी से उसके पृष्ठों को भी भूषित करें तथा उसके साथ यथार्थता का ही व्यवहार करें। खेद है कि कोई-कोई लेखक अपनी अभिज्ञता में कमी होने के कारण जैन-सम्मत विषयों पर लिखते समय गलत लिख जाते हैं। और उनकी उस गलती का फल जैन धर्म, जैन साहित्य और जैन समाज को गलतफहमी के रूप में भोगना पड़ता है। आज भी 'स्याद्वाद' को संशयवाद समझने वाले लेखक वर्तमान हैं और जैन धर्म को भगवान महावीर की देन तथा उसके उद्गम को केवल एक तात्कालिक

वैचारिक क्रान्ति का परिणाम बतलाने वाले तो अनेकों हैं। अच्छे-अच्छे दार्शनिक मनीषी भी उपनिषदों को केवल वैदिक ऋषियों की ही देन मानते हैं जो यथार्थ नहीं है। भारतीय तत्त्वज्ञान में श्रमण-विचारधारा का योगदान वैदिक-विचारधारा से कम नहीं है। इन्हीं दोनों विचार-धाराओं के सम्मिश्रण और संघर्षण का परिणाम कतिपय उपनिषदों का तत्त्वज्ञान है जिनसे जैनधर्म की विचार-धारा का मेल खाता है। किन्तु इसका यह मतलब नहीं है कि जैन धर्म उन उपनिषदों से प्रभावित है, किन्तु वे उपनिषद् जैन धर्म की विचारधारा से प्रभावित हैं। जैन धर्म का सुनिश्चित उद्‌गम आज से तीन हजार वर्ष प्राचीन है। उस समय वाराणसी नगरी में जैनों के तेईसवें तीर्थंकर भगवान पार्श्वनाथ का जन्म हुआ था। वह एक ऐतिहासिक महापुरुष थे, केवल पौराणिक नहीं। उपनिषदों की रचना तो उनके पश्चात् ही हुई है। उनके समय में पञ्चाग्नि-तपस्या करने वाले वैदिक जन थे। तप श्रमणों की देन हैं, वैदिकों की नहीं, अग्नि-आहुति वैदिकों की देन है। इन दोनों का मिश्रण पञ्चाग्नि-तप है, जो बतलाता है कि वैदिक ऋषियों ने यद्यपि श्रमणों की विचारधारा से प्रभावित होकर तप को अपनाया, किन्तु फिर भी वे अग्नि को नहीं छोड़ सके थे। अतः तत्त्वज्ञान के विश्लेषण के लिये भी नवीन दृष्टिकोण की आवश्यकता है, उसके बिना सत्य तक पहुँचना कठिन है।

इतने शब्दों के साथ मैं अपना वक्तव्य समाप्त करता हूँ। और उपस्थित विद्वानों से आशा करता हूँ कि भारतीय जैन साहित्य संसद् में योगदान करके वे अपने नैतिक कर्तव्य का ही पालन करेंगे।

आरा,
६ जनवरी १९६५।



आचार्य देवेन्द्रनाथ शर्मा

हिन्दी-विभागाध्यक्ष, पटना विश्वविद्यालय

का

उद्घाटन-भाषण

[साहित्य और कला संगोष्ठीका उद्घाटन करते हुए श्री शर्मा द्वारा दिये गये भाषण का संक्षिप्त सार] ।

उपचार इस युग का धर्म है । इस धर्म का पालन करना आज आवश्यक है । मै आज जिस संगोष्ठी का उद्घाटन करने जा रहा हूँ, वस्तुत यह भी मेरी एक अनधिकारपूर्ण चेष्टा है । मै जैन साहित्य और जैन कला का विशेषज्ञ नही हूँ, पर आप लोगो के स्नेहवश ही यहा उपस्थित हुआ हूँ ।

साहित्य का मूल व्यंग्य है । जिस साहित्य मे समाज और युग का व्यंग्यात्मक चित्रण रहता है, वह साहित्य मेरी दृष्टि मे शाश्वत है । जीवन का सच्चा रूप साहित्यकार ही प्रस्तुत करता है । साहित्य मे सभी प्रकार की क्रिया प्रतिक्रियाओ का प्रतिफलन समवेत रहता है । जीवन को जितनी सूक्ष्मता से कवि, कलाकार या अन्य साहित्यिक देखता है, सभवत वैज्ञानिक उतनी सूक्ष्मता से नही । अत जीवन की अनिवार्य आवश्यकताओ और शाश्वतिक भावनाओ का अध्ययन साहित्य के आलोक मे ही सभव है ।

जैन साहित्य गुण और परिमाण दोनो ही दृष्टियो से महान है । सस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश, कन्नड, तमिल, गुजराती, मराठी, राजस्थानी, ब्रजभाषा प्रभृति भारत की समस्त प्रादेशिक भाषाओ मे जैनाचार्य और जैन मनीषियो ने साहित्य का सृजन किया है । जितने ग्रन्थ अभी प्रकाश मे आये है, उनसे सहस्र-गुणित ग्रन्थ भण्डारो मे अप्रकाशित पडे है । यदि सारा वाड्मय प्रकाश मे आ जाय तो भारतीय वाड्मय को अगणित अमूल्य मणि रत्न प्राप्त हो सकते है । हिन्दी-साहित्य के अध्ययन और ऐतिहासिक कालविभाजन मे जैन साहित्य का बहुमूल्य सहयोग भुलाया नही जा सकता । यह स्मरणीय है कि हिन्दी साहित्य की आदिकाल सम्बन्धी सामग्री मे जैन मनीषियो की रचनाएँ सर्वाधिक है । अपभ्रश के ग्रन्थो का मूल्य केवल भाषा की दृष्टि से ही नही है, अपितु साहित्यिक तत्त्वो की दृष्टि से भी है । चरित-काव्य की वास्तविक रूपरेखा का निर्धारण अपभ्रंश के चरित-ग्रन्थो के आधार पर किया जा सकता है । पौराणिक और चरित काव्य के बीच सीमा-रेखा खीचना सहज नही है, पर स्वयभू के पउमचरिउ, पुष्पदन्त का महापुराण और रइधू का सुकोसल-चरिउ इस प्रकार की रचनाएँ है, जिनके अध्ययन से पौराणिक और चरित-काव्य की सीमा-रेखा निर्धारित की जा सकती है ।

जैन साहित्य का मुख्याधार सप्तभंग-पद्धति है, जो विभिन्न दृष्टिकोणों से सत्य को उपस्थित करती है। विचार-वैविध्य को एक धरातल पर उपस्थित कर समन्वयात्मक जीवन-मूल्यों का विश्लेषण ही इस पद्धति का उद्देश्य है। वस्तुतः सत्य का साक्षात्कार अनेकान्त-सिद्धान्त द्वारा ही किया जा सकता है। साहित्य-स्रष्टाओं के उदार विचार अनेकान्त-सिद्धान्त के आलोक में ही पनप सकते हैं। यद्यपि आरम्भ से ही जैन साहित्य जन-क्रान्ति को अपनाता रहा है, तो भी इस साहित्य में श्रेण्य-प्रवृत्तियाँ पूर्णरूपेण वर्तमान है। जैन साहित्य के जन्म की कहानी ही, क्रान्ति की कहानी है। जातिवाद, वर्गवाद एवं अन्य वाद-विवादों के वात्या चक्र को जैन मनीषियों ने बुद्धि की कसौटी पर कसकर 'स्याद्वाद' की शीतल धारा द्वारा अशान्ति का उपशमन किया है। लोक और परलोक दोनों का समन्वयात्मक विश्लेषण एवं विवेचन जैन साहित्य में पाया जाता है। मेरी दृष्टि से जैन साहित्य का महत्व निम्न लिखित पहलुओं से है :—

१. भाषा की अपेक्षा

२. भाव-विचारों की अपेक्षा

३. शान्त-रस के व्यापक रूप के विश्लेषण की अपेक्षा

४. विधि-रचना विधान की अपेक्षा

५. ऐतिह्य तथ्यों की अपेक्षा

६. आधुनिक भारतीय भाषाओं के विकास-क्रम और स्वरूप को सम्यक् प्रकार से अवगत करने की अपेक्षा।

साहित्य के निर्माण में जिस प्रकार की दृष्टि को अपनाया जाता है, वही दृष्टि 'दर्शन' बन जाती है। अतः किसी-न-किसी रूप में साहित्य का दर्शन अवश्य पाया जाता है। यतः साहित्य में अनिवार्यतः दृष्टि और दर्शन का प्रतिफलन रहता है। जैन साहित्य का भी अपना दर्शन है। इस दर्शन के आधार पर जैन साहित्य को साम्प्रदायिक नहीं कहा जा सकता है। साहित्य में कोई-न-कोई सिद्धान्त वर्णित रहता है और यह सिद्धान्त ही उसका दर्शन बन जाता है। यदि हम जैन साहित्य को सिद्धान्त-भिन्नता के कारण साम्प्रदायिक कहें, तो फिर वर्तमान समाजवादी साहित्य या सन्त-कवियों अथवा अन्य किसी भी काल-खण्ड के कवियों के साहित्य को भी साम्प्रदायिक मानना पड़ेगा। अतः उक्त प्रकार के साहित्य में किसी-न-किसी सिद्धान्त-विशेष का विवेचन है। मेरा अभिमत है कि जैन साहित्य जीवन को समझने के लिए किसी भी साहित्य से कम मूल्यवान् नहीं है। जैन साहित्य के अध्ययन न करने का ही यह परिणाम है कि उसे शान्त-रस के अस्तित्व के कारण ही साम्प्रदायिक कह दिया जाता है। यदि वस्तुतः इस साहित्य का अध्ययन किया जाय तो शृङ्गार, वीर, करुण प्रभृति रसों की रचनाएं कम नहीं है। स्वयंभू ने शृङ्गार की जो धारा बहाई है, वह क्या रीति-कालीन हिन्दी-कवियों से कम है? भक्ति के क्षेत्र में अपभ्रंश के कवि जोइन्दु और रामसिंह को किस प्रकार हीन कहा जा सकता है? कबीर की पारिभाषिक शब्दावली में निरंजन, अवधूत, प्रभृति शब्दों का मूल स्रोत अपभ्रंश की जैन रचनाओं में पाया जाता है। संस्कृत काव्य-ग्रन्थों में हरिचन्द का धर्मशर्माभ्युदय, वस्तुपाल का नरनारायणानन्द, महासेनका प्रद्युम्नचरित, वाग्भट का नेमिनिर्वाण, वीरसेन का चन्द्रप्रभचरित, अमरचन्द्र का बालभारत एवं मुनिभद्र का शान्तिनाथचरित उत्तमकोटि के महाकाव्य है। आश्चर्य यही है कि अभी तक इन काव्य-ग्रन्थों का अध्ययन, अनुशीलन प्रस्तुत नहीं किया गया है। इन काव्यों में राष्ट्रीयता का चित्रण देश, नगर

और राष्ट्र के निरूपण के साथ सार्वजनीन समाज के चित्रण मे उपलब्ध है। तीर्थंकरो का जीवन अंकित रहने पर भी आचार और जीवन-शोधन की काव्यात्मक प्रक्रियाएँ वर्णित हैं। यह ध्यातव्य है कि आचार का एक निश्चित सीमा के भीतर निरूपण पाया जाना सत्-साहित्य का लक्षण है।

जैन कला के अवशेष आज भी अपना गौरव व्यक्त कर रहे है। मूर्त्ति, चित्र और संगीत कला के क्षेत्र मे जैनाचार्यों ने अद्‌भुत कार्य किया है। बौद्ध मूर्त्तियो के समान जैन मूर्त्तियाँ विभिन्न मुद्राओ में भले ही उपलब्ध न हो, पर उनका शान्त और वीतरागी स्वरूप दर्शक को अपनी ओर आकृष्ट कर ही लेता है। लोहानीपुर से प्राप्त पटना म्यूजियम मे स्थित दो तीर्थंकरो की प्रतिमाओ की पालिश मौर्य-काल की विशेषता को प्रकट कर रही हैं। ये मूर्तियाँ कला की दृष्टि से बेजोड हैं। मथुरा सग्रहालय मे आयागपट्ट के अवशेष गुप्तकाल की कला सम्बन्धी विशेषताओ को सहज मे व्यक्त करते हैं। भारत का ऐसा शायद ही म्यूजियम होगा, जिसमे जैन तीर्थंकर और शासन देवियो की मूर्त्तियाँ सकलित न हो। उदयपुर के संग्रहालय मे स्थित अम्बिका की मूर्त्ति ९-१० वी शताब्दी की कारीगरी का अनुपम उदाहरण है।

चित्रकला के क्षेत्र मे जैन मुनि और यतियो ने सचित्र पाण्डुलिपियो के माध्यम से कार्य किया है। आरा के ग्रन्थागार मे स्थित जैन रामायण, भक्तामर और तिलोयपण्णत्ति की सचित्र प्रतियाँ किसके मन को मोहित न करेंगी? चित्रो का वेशभूषा और भाव भंगिमाएँ इतनी सजीव और आकर्षक है जिससे सहज मे ही उनके शिल्पत्व का ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। रंगो की चटक और ताजगी को समय की धूलि भी धूसरित नही कर सकी है। सगीत पर 'सगीतसमरसार' जैसी स्वतन्त्र रचनाएँ भी उपलब्ध है। तत, अतत, वितत जैसी वाद्य-ध्वनियो का निर्देश तत्त्वार्थवार्तिक सर्वार्थसिद्धि प्रभृति ग्रन्थो मे पाया जाता है। सप्त स्वरो का आरोह एव अवरोह पुद्‌गल की विभिन्न पर्यायो मे विवेचित है। अत जैन साहित्य और कला भारतीय वाङ्‌मय के दैदीप्यमान रत्न है।



साहित्य-संगोष्ठी के प्रधान पद से दिया गया

अभिभाषण

श्री पं० फूलचन्द्र शास्त्री, सिद्धान्ताचार्य,

वाराणसी

मंगलं भगवान् वीरो मंगलं गौतमो गणी।
मंगलं कुन्दकुन्दार्यो जैनधर्मोऽस्तु मंगलम् ॥

इसके पहले कि आज की संगोष्ठी के मुख्य विषय 'जैन साहित्य-कला' को स्पर्श करूँ, 'भारतीय जैन साहित्य संसद्' के प्रमुख संस्थापक श्री डा० नेमिचन्द्र जी एम० ए०, ज्योतिषाचार्य तथा उनके पृष्ठबलस्वरूप प्रमुख सहयोगी श्री बाबू सुबोधकुमार जी जैन के प्रति अपनी हार्दिक कृतज्ञता व्यक्त कर देना अपना प्रधान कर्तव्य समझता हूँ।

आज से लगभग एक वर्ष पूर्व इसी स्थान पर देश-विदेश में प्रसिद्ध यहाँ की प्रमुख संस्था श्री जैन सिद्धान्त-भवन (ओरियंटल रिसर्च इन्स्टीट्यूट) के हीरक-जयन्ती महोत्सव के निमित्त हम सब यहाँ उपस्थित हुए थे। उस आयोजन की मनोरम झांकी आज भी मेरे चित्त-पटल पर अंकित है। इसमें सन्देह नहीं कि भाई नेमिचन्द्र जी इस संस्था के लिए वरदान सिद्ध हुए हैं। उनकी अध्ययनशीलता, सूझ-बूझ और सतत कार्यरत रहने की क्षमता का ही यह सुपरिणाम है कि एक वर्ष बाद लगभग उसी रूप में पुनः यहाँ उपस्थित होने का सुअवसर मिला है। इन दोनों सम्मेलनों में यदि कोई अन्तर है तो इतना ही कि वह उक्त संस्था का हीरक-जयन्ती महोत्सव था और यह भारतीय जैन साहित्य संसद के प्रथम अधिवेशन के रूप में हो रहा है। वस्तुतः ऐसे सम्मेलनों की अपनी महत्ता है। जैन परम्परा के प्राचीन गौरव को प्राप्त करने की दिशा में जहाँ हम प्रयत्नशील हैं वहाँ उसे मूर्तरूप देने की दृष्टि से देश-विदेश के विविध नगरों में सुनियोजित ढंग से ऐसे सम्मेलनों का होते रहना आवश्यक ही नहीं, उपयोगी भी हैं, इसे हमें नहीं भूलना चाहिए।

आज की इस संगोष्ठी का मुख्य विषय 'जैन साहित्य-कला' है। इसके अध्यक्ष श्री डा० ज्योतिप्रसाद जी जैन एम० ए०, एल-एल-बी०, पी-एच० डी० लखनऊ है। उन्हें इस संगोष्ठी का अध्यक्ष होने के लिए सादर आमन्त्रित किया गया, इसी से उनकी महत्ता स्पष्ट है। किन्तु कुछ आवश्यक कार्यवश इच्छा होते हुए भी वे इस सम्मेलन में उपस्थित न हो सके, यही कारण है कि कार्यकर्त्ताओं के अनुरोधवश उस स्थान की पूर्ति मुझे करनी पड़ रही है।

डा० सा० का मुद्रित अभिभाषण सबके हाथ में है। अन्य उपयोगी विषयों और सूचनाओं के साथ उसमें प्रकृत विषय को प्राञ्जल शब्दों में स्पर्श किया गया है। उससे भारतीय परम्परा में

'जैन साहित्य और कला' की क्या महत्ता और उपयोगिता है, इसे हृदयंगम करने में पर्याप्त सहायता मिलती है। उसके प्रकाश में इस समय मैं जो भी भाव व्यक्त कर रहा हूँ उन्हें मात्र उसका पूरक ही समझना चाहिए।

भारतवर्ष सदा से धर्मप्राण देश रहा है। आज भी इसकी यह विशेषता विश्व के लिए स्पृहा का विषय बनी हुई है। वर्तमान युग में महात्मा गाँधी ने इससे अनुप्राणित हो राजनैतिक और आर्थिक दृष्टि से अकिंचन इस देश की उस विशेषता को विश्व के मानस-पटल पर अंकित करने में पर्याप्त सफलता प्राप्त कर उसे सब दृष्टियों से पुनः सप्राण बनाने का प्रयत्न किया है। यदि वर्तमान भारतवर्ष को अतीत कालीन भारतवर्ष बन कर रहना है तो यहाँ की जनता और सरकार को उस ओर पुनः विशेष ध्यान देना होगा, जिसके कारण भारतवर्ष अभी तक समुन्नत संस्कृति का प्रमुख केन्द्र बना हुआ है। मेरे विचार से 'साहित्य और कला' ये दो ऐसे विषय हैं जो हमें भारतवर्ष के प्राचीन गौरव की याद तो दिलाते ही हैं, साथ ही इनकी महत्ता को ठीक तरह से समझने पर हमें अपना कर्त्तव्य-पथ निश्चित करने में भी सहायता मिलती है।

प्रयाग का संगम प्रसिद्ध है। यह गंगा, यमुना और सरस्वती का संगम माना जाता है। इसी प्रकार भारतवर्ष भी लगभग ढाई हजार वर्ष से जैन, वैदिक और बौद्ध धर्म का संगम बना हुआ है। इसके पूर्व भारतवर्ष मे मुख्यरूप से दो ही धर्म प्रचलित थे—जैन धर्म और वैदिक धर्म। जैनधर्म यह श्रमण-धर्म का नामान्तर है। यद्यपि वर्तमान काल मे बौद्ध धर्म सर्वथा स्वतन्त्र धर्म माना जाता है, परन्तु प्राचीन तथ्यो पर दृष्टिपात करने से विदित होता है कि यह धर्म भी श्रमण-परम्परा का एक परिवर्त्तित रूप है।

जैन धर्म की दृष्टि से विचार करने पर प्रकृत्या यह मात्र बाह्य क्रियाकाण्ड पर आधारित न होने से इसका अनादि होना उतना ही सुसंगत है जितना लोक मे अवस्थित आत्मादि प्रत्येक द्रव्य का अनादि होना सुसंगत है। जिस प्रकार किसी वस्तु का मूल स्वभाव बदलता नही। यदि उसमे किसी प्रकार का विकार दृष्टिगोचर होता है तो वह मात्र अपने से विरुद्ध स्वभाववाली वस्तु के संयोग करने का ही दुष्परिणाम होता है। उसी प्रकार वस्तु-स्वभाव के आश्रित प्रवृत्त हुए जैन धर्म की मूल प्रकृति अनादि है। यदि उसमे कही किसी प्रकार का विकार (भेद-प्रभेद) दृष्टिगोचर होता है तो उसे मात्र विरुद्ध स्वभाववाली अन्य वस्तुओ (वस्त्रादि) के बुद्धिपूर्वक किये गये या अबुद्धि पूर्वक हुए सयोग मे हानि न मानने का ही दुष्परिणाम समझना चाहिए।

यह वस्तुस्थिति है। इसके प्रकाश में जैन धर्म का स्वभाव-धर्म के अनुरूप जितना धार्मिक साहित्य उपलब्ध होता है वह कितना प्राचीन है, इसकी सीमा नही बाँधी जा सकती, क्योंकि साहित्य की आत्मा शब्द-रचना नहीं है, उसमें जिन तथ्यों का निर्देश किया गया है उनकी यथार्थता है। स्पष्ट है कि काल्पनिक साहित्य ही मात्र सादि होता है, यथार्थता को स्पर्श करनेवाला साहित्य नही। कोई ग्रन्थ किसी काल में लिखा गया, एतावता उसमें प्ररूपित तथ्य मात्र उस काल की देन हैं, यह नहीं स्वीकार किया जा सकता। इससे हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि जैन धर्म का जितना भी धार्मिक साहित्य है वह शब्द-रचना की दृष्टि से काल-विशेष की मर्यादा को लिये हुए होकर भी वस्तुतः अनादि है। जैन आगम मे तीर्थंकरों को अर्थकर्ता और गणधरों को ग्रन्थकर्ता इसी अभिप्राय से लिपिबद्ध किया गया है।

इतना सब होने पर भी जब हम ग्रन्थरूप में लिपिबद्ध हुए वर्तमान साहित्य की दृष्टि से विचार करते हैं तो हमें वह मात्र उन्हीं महर्षियों की कृति नहीं मालूम देती, जिन्होंने उसे प्राकृत, संस्कृत या अन्य किसी भाषा में लिपिबद्ध किया है। उदाहरणार्थ—आचार्य कुन्दकुन्दके समयप्राभृत को लीजिए। इसे लिपिबद्ध करते हुए वे इसकी प्रथम मंगल-गाथा में कहते हैं—'मैं उस समयप्राभृत को कहूँगा, जिसे केवली और श्रुतकेवली ने कहा है।' यह एक उदाहरण है, समग्र जैन साहित्य की रचना का स्रोत क्या है यह इससे जाना जा सकता है। जिस प्रकार अन्य धर्मों के साहित्य में विविधता दृष्टिगोचर होती है, वैसी विविधता जैन धर्म के साहित्य में दृष्टिगोचर नहीं होती, इसका मूल कारण यही है कि अनुश्रुति के रूप में वह सुदीर्घ प्राचीन काल से एकरूप में चला आ रहा है। वर्तमान युग की दृष्टि से विचार करने पर उसका प्रारम्भ भगवान् ऋषभदेव से मानना सर्वथा उचित ही है, एक तीर्थंकरके बाद दूसरे तीर्थंकरके काल में उसकी अर्थरूप से प्ररूपणा होकर ग्रन्थरूप से उसका पुनरुद्धार होता रहा है, इतना अवश्य है।

यह जैन धर्म के साहित्य का सामान्य पर्यालोचन है। वर्गीकरण की दृष्टि से वर्तमान में उपलब्ध साहित्य चार भागों में विभक्त है—प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग और द्रव्यानुयोग। जैन धर्म का प्राकृत, संस्कृत, अपभ्रंश, कनडी, हिन्दी आदि विविध भाषाओं में लिपिबद्ध जितना साहित्य है उस सबका समावेश उक्त चार प्रकार के वर्गीकरण में हो जाता है। इसके सिवाय जैनाचार्यों ने राजनीति, छन्द, अलंकार, काव्य, नाटक आदि विविध विषयों पर भी विपुल मात्रा में मौलिक रचनाएँ की है। यह सब इस देश की अनमोल निधि है। आध्यात्मिक जीवन के निर्माण में तो इससे सहायता मिलती ही है। नैतिक जागरण का भी यह प्रहरी है। यह इसकी प्रकृति है। अतीत काल से अब तक भारतवर्ष को आध्यात्मिक दृष्टि से जो स्वरूप मिला है उसे प्रमुख रूप से इसी की देन समझना चाहिए।

कला की दृष्टि से विचार करने पर विदित होता है कि जैन धर्म को केन्द्र-बिन्दु बनाकर इस दिशा में अब तक जो भी कार्य हुआ है उसमें अपनी शिक्षाओं के अनुरूप विशिष्ट दृष्टिकोण को भुलाया नहीं गया है। मानव-जीवन के निर्माण में साहित्य का जो स्थान है, कला का उससे कम नहीं है। यह वह दृश्य है जो तत्काल आबाल-बद्ध मानव-मन को अपनी ओर आकर्षित कर लेता है। अभी कई वर्ष पूर्व मैं देवगढ़ गया था। पहाड़ी पर तीर्थंकरों की मूर्ति के दर्शन करते समय एक बालक मेरा साथ दे रहा था। कला की दृष्टि से वहाँ ऐसी अगणित मूर्तियाँ दृष्टि-पथ में आवेंगी, जिन्हें देखते ही मालूम पड़ेगा कि ये हमसे कुछ कह रही है। एक मूर्ति के दर्शन कर भाव-विभोर हो बालक हमसे पूछता है—'पण्डित जी ! यह देव-मूर्ति क्या कह रही है ? पहले तो जिज्ञासा-भाव से मैंने उसकी ओर देखा। उसके बाद उसकी बढ़ती हुई जिज्ञासा को जानकर मैंने उससे कहा—'बेटा। यह देवमूर्ति कह रही है कि तुम दूसरे को अपना जानकर उसकी सम्हाल में तो सदा से लगे हो, पर कभी अपने को जानकर उसकी सम्हाल में लगे ? आओ हमारे पास, हम तुम्हें बतलावेंगे कि अपने को जानकर उसकी सम्हाल कैसे की जाती है।'

यह एक घटना है। इससे विदित होता है कि कला को मूर्तरूप प्रदान करने में जैन दृष्टिकोण क्या रहा है। ललित कला के नाम पर रतिक्रिया करते हुए या इसी प्रकार के दूसरे दृश्यों को जैनों ने विशेष प्रोत्साहन नहीं दिया, यह [illegible] सूचक है, वहाँ समाज-निर्माण को केन्द्र में रखकर मनोवैज्ञानिक दृष्टि से उन्होंने मूर्तिकला, चित्रकला, भित्तिकला, [illegible]कला आदि में पर्याप्त रस लिया

हैं, इसमें सन्देह नहीं। षट्खण्डागम में प्राचीन काल में स्थापनानिक्षेप के प्रसंग से कला के कितने प्रकार प्रचलित थे, इस पर पर्याप्त प्रकाश डाला गया है। जैसे लकड़ी में उकेरे गये विविध कलात्मक रूप, चित्रकर्म, वस्त्रों को बुनने समय अंकित किये गये विविध मनोहारी दृश्य, लेप द्वारा बनाये गये विविध दृश्य, पर्वत-गुफा आदि में बनाई गई देवमूर्तियाँ आदि, अलग से पत्थर को गढ़कर बनाई गई देवमूर्तियाँ आदि, गृहों का निर्माण करते समय बनाई गई शिक्षाप्रद विविध देवमूर्तियाँ या दृश्य, विविध आकारों को लिये हुए गृहों का निर्माण, हाथी दाँत पर उकेरे गये विविध दृश्य तथा भांडे-वर्तनों में अंकित किये गये विविध रूप। (वेदना खण्ड, कृति अनुयोगद्वार पृ० ९)।

क्रोधी, मानी, मायावी और लोभी मनुष्य का आकार कैसा विकृत हो जाता है, इसकी शिक्षा देने के अभिप्राय से भी तीर्थंकरों के मन्दिरों आदि में विविध चित्र बनाये जाते थे। वे कैसे होने चाहिये, इसका विचार करते हुए 'कसायपाहुड' पुस्तक एक में बतलाया है—जिसके ललाट पर तीन बली पड़ गई हैं और जिसने भौंह चढ़ा ली हैं ऐसे रुष्ट मनुष्य का चित्र बनाना क्रोधी मनुष्य का चित्र है। उद्धत रूप से मनुष्य को चित्रित करना मानी मनुष्य का चित्र है। भीतर कुछ छिपा रहा है, ऐसे भाव के साथ मनुष्य को चित्रित करना मायावी मनुष्य का चित्र है और पूरे धन आदि का स्वयं स्वामी बन जाना चाहता है, ऐसे भाव के साथ लम्पट मनुष्य का चित्र बनाना लोभी मनुष्य का चित्र है।

जैनों के द्वारा निर्माण कराये गये तीर्थंकरों के मन्दिरो, शिलाखण्डों और गिरि-गुफाओ आदि में शिक्षाप्रद ये विविध दृश्य आज भी दर्शकों को दृष्टिगोचर होंगे। आप प्राचीन किसी भी जैन मन्दिर में चले जाइए। वहाँ एक ओर भित्ती पर आप देखेंगे कि एक बड़ा भारी बड़का वृक्ष है। उसे हाथी जड़मूल से उखाड़ना चाहता है। दो सफेद और काले चूहे उस टहनी को काट रहे है जिस टहनी के सहारे लटका हुआ एक मनुष्य ऊपर मधु के छत्ते से बीच-बीच में टपकने वाली मधुकी एक-एक बूँद का स्वाद ले रहा है। जहाँ वह मनुष्य लटका हुआ है वही नीचे जमीन मे बने हुए एक खड्डु में पाँच विकराल साँप उसकी ओर देख रहे है कि कब वह गिरे और उसे निगल जायँ। मनुष्य की बाजू में आकाश में एक विमान है। उसमें बैठा हुआ मनुष्य उसे समझा रहा है कि तू इस मधुकी बूँद के स्वादको छोड, मेरे पास आजा, अन्यथा तेरा निस्तार नहीं है। किन्तु वह मनुष्य मधु-बूँद के उस क्षणिक स्वाद में ऐसा मस्त है कि उस सदुपदेष्टा की बात को बिल्कुल ही अनसुनी कर रहा है।

जैनों द्वारा निर्मित समग्र कलाका यह अनोखा शिक्षप्रद रूप है। ऐसी शिक्षप्रद कलाको जैनोंने उतना ही प्रोत्साहन दिया हैं जितना कि उन्होंने सर्वजीवानुग्रहकारी साहित्यके निर्माण की ओर ध्यान दिया है। जनता इस ओर कितना ध्यान देती है, इसकी उन्हे चिंता नहीं, वे अपने इस लोकोपकारी कर्तव्य-पथ पर सदा से चलते आये हैं और चलते रहेंगे। तीर्थंकरों और संतो की यही शिक्षा है।

मैंने आपका बहुत समय ले लिया। फिर भी आपने मेरी बात ध्यान से सुनी, इसके लिए मैं आपका आभारी हूँ।

● ● ●

साहित्य-कला संगोष्ठी

का

अध्यक्षीय भाषण

डा० श्री ज्योतिप्रसाद जैन

विद्वद्‌बंधुओ !

आज का युग अत्यन्त द्रुतगामी है। कभी अब से सौ वर्ष पूर्व ही बैलगाड़ी, ऊँट गाड़ी-घोड़ा गाड़ी आदि से सुगमतया मनुष्य का काम चल जाता था; किन्तु आज तो वाष्पयन्त्र-चालित स्थलयान और जलयान भी पुराने पड गये, और उनकी गति अत्यन्त मन्द प्रतीत होती है। जल और स्थल पर तो मनुष्य विजय पा ही चुका था, वह अब अन्तरिक्ष-विजय की चेष्टा कर रहा है। पृथ्वीतल का प्रत्येक भाग तो उसके लिये अत्यन्त संकुचित, सुगम एवं सुलभ हो ही गया है। सहस्रों मील की यात्रा कुछ ही घण्टों में अनायास सम्पादित की ही जा सकती है। वह तो सौरमण्डल के अन्य ग्रह-उपग्रहो तक पहुंचने का प्रयत्न कर रहा है। यातायात के इन अत्यन्त द्रुतगामी साधनों ने इस पृथ्वीतल पर विद्यमान मानव जगत् को एक परिवार सरीखा बना दिया है। विश्व के किसी भी भाग में होनेवाली क्रियाओ, प्रतिक्रियाओं के प्रभाव से उसके दूसरे भाग के निवासी अछूते नही रह पाते। विभिन्न देशो, जातियो एवं संस्कृतियो के इस निरन्तर एवं निकटतर सम्पर्क ने मनुष्य के दृष्टिकोण को विशाल बना दिया है और उसे स्व-अस्तित्वसंरक्षण के हित में सम्पूर्ण विश्व की पृष्ठभूमि में स्वयं का मूल्यांकन करने के लिये बाध्य कर दिया है। आज यदि कोई कूपमण्डूक बना रहना चाहे तो यह असंभव है। यदि वह वैसी चेष्टा करता है तो उसका अस्तित्व खतरे में पड़ जाता है।

युग की यह द्रुतशीलता, व्यस्तता एवं व्यापक-विस्तार जीवन के प्रायः प्रत्येक क्षेत्र में लक्षित होते है। ज्ञान-विज्ञान का भी जैसा प्रसार एवं विस्तार इस समय हो रहा है वैसा शायद पहले कभी नहीं हुआ था। प्रायः प्रत्येक विषय में अभूतपूर्व शोध, खोज, अन्वेषण, अनुसंधान तथा विपुल एवं विविध साहित्य का निर्माण और प्रकाशन तेजी के साथ हो रहा है। कोई नवीन सामग्री तथ्य या अध्ययनीय विषय प्रकाश में आने भर को देर है, उस पर कार्य करनेवालों की कमी, इस देश में ही नही, विदेशों में भी नही है।

लगभग डेढ़-सौ वर्ष पूर्व भारतवर्ष के बाहर के लोग प्रायः यह भी नही जानते थे कि जैन-धर्म और संस्कृति नाम की कोई स्वतन्त्र सत्ता है। स्वयं भारतवर्ष में भी, पारसी, यहूदी, मुसलमान आदि की तो बात ही क्या, शैव-वैष्णव आदि तथा कथित हिन्दू भी उसके स्वरूप एवं वैभव से प्रायः अनभिज्ञ थे। तदनन्तर लगभग एक-सौ वर्ष की शोध, खोज, अन्वेषण एवं अध्ययन ने,

जिसका बहुभाग श्रेय यूरोपीय प्राच्यविदों को है; यह प्रमाणित कर दिया कि इस देश की अपनी प्राचीन संस्कृति वैदिक परम्परा-मात्र से उद्भूत ब्राह्मणीय (तथाकथित हिन्दू) संस्कृति ही नहीं है; वरन् एक अन्य भी शुद्ध एतद्देशीय सांस्कृतिक धारा है, जो पर्याप्त समर्थ, समृद्ध, व्यापक एवं सजीव है और जो कदाचित् उक्त ब्राह्मणीय धारा से भी प्राचीनतर है। इस श्रमण-संस्कृति के पुरस्कर्त्ता श्रमण तीर्थंकर थे। भारत के आद्य मानववंशी आर्यजन और विद्याधरवंशी नाग-ऋक्ष-यक्षादि उनके अनुयायी थे। उसमें विकास भी होता रहा, काल-दोष से विकार भी होते रहे और उन विकारों का समय-समय पर परिमार्जन भी होता रहा। ईस्वीपूर्व प्रथम सहस्राब्द के प्रथम पाद के अन्त (लगभग ७५० ई० पू०) तक इस श्रमण-परम्परा की मौलिकता एवं एकसूत्रता प्रायः अक्षुण्ण बनी रही प्रतीत होती है। उसके उपरान्त उसमें से कई उपधाराएँ फूटनी प्रारंभ हुई। इनमें से आजीवक आदि जो प्रमुख थी वे भी अल्पाधिक समय के उपरान्त शुष्क एवं समाप्त हो गई। सर्वाधिक प्रभावक एवं स्थायी उसकी बौद्धनामक उपधारा रही। प्रथम ६-७ शताब्दियो मे वह इस देश में द्रुतवेग से फैली। दो-तीन-सौ वर्ष पर्यन्त सर्वाधिक प्रभावशाली भी रही। तदुपरान्त उसकी अवनति भी वैसे ही द्रुतवेग से हुई और १० वी ११ वी शताब्दी में यहाँ वह नामशेष भी हो गई; किन्तु इस बीच भारत के बाहर एशिया के प्रायः अन्य सभी देशों में वह पूर्ण तरह छा गई। उसी श्रमण-संस्कृति की मूलधारा का प्रतिनिधित्व जैन संस्कृति चिरकाल से करती आई है। उसने अपनी मूलधारा में से उपर्युक्त उपधाराओं को निकलते देखा। उनकी प्रतिद्वन्द्विता को सहन किया, ब्राह्मणीय परम्परा के साथ क्रिया-प्रतिक्रिया एवं आदान-प्रदान भी किया, अनेक विषम परिस्थितियो को पार किया, आन्तरिक फूट भी देखी और अनुयायियो की संख्या में भी, विशेष कर दो-तीन सौ वर्षो में, पर्याप्त ह्रास देखा; तथापि अपने प्रवाह को अद्यावधि अविच्छिन्न बनाये रखा और अपने मूल रूप एवं मौलिक मूल्यों को प्रायः अक्षुण्ण रखा।

यह तथ्य भी प्रमाणित हो चुका है और इसकी उत्तरोत्तर अधिकाधिक पुष्टि होती जाती है कि जैनों का तत्त्वज्ञान, दार्शनिक चिन्तन, लोकोत्तर अध्यात्म एवं लोकोन्नायक आचार, शान्तिपूर्ण अहिंसक जीवन दृष्टि, विपुल विविध साहित्य भंडार और कला-वैभव इस देश की किसी भी अन्य परम्परा की अपेक्षा हीन कोटि का अथवा उपेक्षणीय नहीं है; वरन् यह कि यदि उनका समावेश एवं समुचित अध्ययन नहीं किया जाता है तो समग्र भारतीय धर्म, दर्शन, आचार-विचार, ज्ञान-विज्ञान, इतिहास-पुरातत्त्व, साहित्य और कला का अध्ययन अपूर्ण, अधूरा और सदोष रहता है और उसका सही मूल्याङ्कन हो ही नहीं सकता।

प्रारंभ में यूरोपवासियो द्वारा पूर्वीय (एशियाई) देशों का जो सांस्कृतिक अध्ययन चालू हुआ वह प्राच्य-विद्या (ओरियंटल स्टडीज या ओरियंटलॉजी) कहलाया। भारतवर्ष में उक्त प्राच्य-विद्या ने शनैः शनैः भारतीय विद्या (इन्डोलॉजी) का रूप ले लिया। और, अब उक्त भारतीय विद्या के एक महत्त्वपूर्ण एवं आवश्यक अंग के रूप में जैनविद्या (जैनोलॉजी) स्पष्ट से स्पष्टतर होती हुई अपना स्वतन्त्र रूप ग्रहण कर चुकी है। इसके स्वयं अपने अनेक अंग एवं पक्ष है और उनमें से प्रत्येक में अध्ययन का क्षेत्र अधिकाधिक विस्तृत होता चला जा रहा है। आज भारतवर्ष के विभिन्न विश्वविद्यालयों मे ही नहो, यूरोप और अमेरिका के भी अनेक विश्वविद्यालयों में जैनाध्ययन एक स्वीकृत विषय बन चला है और अनेक स्नातक जैनोलॉजी के विभिन्न अंगो से सम्बद्ध विषयों पर शोध, खोज, और अनुसंधान कर रहे हैं। जैनों की कई शोध-संस्थाएँ तथा कई जैन

विद्वान् व्यक्तिगत रूप से भी इस शोध-कार्य में यथाशक्य सहायक हो रहे है—इस प्रकार के लगभग एक दर्जन देशी-विदेशी शोधकर्त्ताओं से स्वयं मेरा सम्पर्क चल रहा है। इस प्रसंग में यह तथ्य भी उल्लेखनीय है कि जैनों में पुरानी परिपाटी के शास्त्रीय पंडितों की परम्परा समाप्तप्राय: है। जो विद्यमान है उनमें से दो-चार अपवादों को छोड़कर शेष प्राय: एकाङ्गी हैं और समय की गति से बहुत पिछड़ गये है। किसी-किसी विषय में उनका अध्ययन अच्छे-से-अच्छे आधुनिक विद्वान् से भी अधिक गहन, गंभीर और तलस्पर्शी हो सकता है; किन्तु उनकी सङ्कीर्ण मनोवृत्ति, सीमित अध्यनय-परिधि, कदाग्रह एवं अहम् उन्हे आधुनिक युग की शोध-विद्या के लिये अनुपयुक्त एवं अनुपयोगी बना देते हैं। यह प्रसन्नता का विषय है कि गत दश-पन्द्रह वर्षों में नवीन शैली एवं विद्या के अनुसार विभिन्न विश्वविद्यालयों के तत्वावधान मे विधिवत् सफल शोध-कार्य करके और डाक्टरेट की उपाधि से विभूषित होकर अपने में एक-डेढ़ दर्जन के लगभग विद्वान् तैयार हो गये है। इन विद्वानों की अध्ययन-पिपासा अभी अतृप्त है, संस्कृति-संरक्षण और उसके प्रसार की उत्कट लालसा है, शोध-कार्य मे होनेवाली—विशेष कर जैन विषयों से संबद्ध—कठिनाइयों एवं बाधाओं का उन्हें अनुभव है और इस बात की भी कटु प्रतीति है कि अत्यन्त परिश्रम, समय एवं मनोयोग की आहुति देकर जिस साहित्य का उन्होंने निर्माण किया है, करने है या कर सकते है उसको उत्तम प्रकाशन के रूप में देख पाना कितना दुष्कर है। शोध-कार्य एवं विशेषाध्ययन के लिये उपयुक्त एवं पर्याप्त संदर्भ-ग्रन्थों, संग्रहालयों, पुस्तकालयों और विशेषज्ञों की भी अनिवार्य आवश्यकता है।

अतएव इन्हीं सब उद्देश्यो से प्रेरित होकर अभी कुछ मास पूर्व इस 'भारतीय जैन साहित्य संसद्' की स्थापना हुई है। संसद् के नाम से यह भारत के जैन पुस्तक-लेखकों की एक ट्रेड यूनियन-सी प्रतीत होती है; किन्तु जहाँ तक मैं समझता हूँ, इसका यह रूप नही है और न वैसा कोई उद्देश्य। इसका घोषित लक्ष्य तो जैन संस्कृति के संरक्षण एवं प्रसार के हित मे जैनाध्ययन को अधिकाधिक प्रगतिवान् बनाना, उसमें शोधकार्य करनेवाले विद्वानो को दिशा-दर्शन, सहायता, सहयोग आदि प्रदान करना, आवश्यक एवं तदुपयोगी साहित्य का निर्माण करना-कराना और उसके उपयुक्त प्रकाशन की व्यवस्था करना है। इसकी नीति साम्प्रदायिक भी नहीं है। वस्तुत: जैन-विद्या दिगम्बर, श्वेताम्बर, स्थानकवासी, तारणपन्थी या तेरापन्थी मात्र नहीं है—वह समग्र जैन विचार-धारा, साहित्य इतिहास, पुरातत्व और कला को समाविष्ट करती है। अतएव यही आशा की जाती है कि यह संसद् जैन-विद्या एवं जैनाध्ययन में समग्र रूप से निष्पक्ष एवं समदृष्टि रखेगी और इस क्षेत्र में कार्य करनेवाले सभी विद्वानों से, चाहे वे किसी भी जैन सम्प्रदाय के अनुयायी हों अथवा देशी या विदेशी अजैन हो, सम्पर्क और सहयोग स्थापित करेगी तथा इस क्षेत्र में हुए एवं किये जानेवाले समस्त कार्य और प्रवृत्तियों का पूर्णतया लाभ उठायेगी।

अपने इस प्रथम अधिवेशन के लिये संसद् ने जो आरा का उर्वर क्षेत्र चुना है वह भी अकारण नही है। यत: आरा के निकट राजगृह और पावापुर पवित्र तीर्थस्थल हैं। राजगृह तो कुशाग्रपुर, पञ्चशैलपुर आदि नामो से प्रसिद्ध है। इस अति प्राचीन महानगरी का जैन-संस्कृति के साथ अटूट सम्बन्ध है। बीसवें तीर्थङ्कर मुनिसुव्रतनाथ का यह जन्मस्थान रही है, इसीके निकटस्थ वन-पर्वतों में उन्होने तपस्या की और केवलज्ञान प्राप्त किया। २२वें तीर्थङ्कर नेमिनाथ के तीर्थ में यह नगरी प्रतिनारायण जरासंध की राजधानी थी और कई सौ वर्ष-पर्यन्त उसके वंशजों ने यहाँ राज्य किया। सातवीं शती ईसापूर्व के लगभग यहाँ शैशुनाग वंश की स्थापना हुई। अन्तिम

तीर्थङ्कर भगवान महावीर के समय में इस महानगरी का शासक उसी वंश का महाराज श्रेणिक बिम्बिसार था। वह भगवान महावीर का अनन्य भक्त एवं श्रावकोत्तम हुआ। उसकी पट्टरानी महारानी चेलना, जो भ० महावीर की मौसी भी थी, उनके श्राविका-संघ की नेत्री हुई। श्रेणिक के अभयकुमार, आर्द्रकुमार, अजातशत्रु-कुणिक आदि पुत्र भी भगवान के परम भक्त थे। बिम्बिसार और अजातशत्रु के समय से ही राजगृह के मगध राज्य ने भारतवर्ष के प्रथम ऐतिहासिक साम्राज्य का रूप लेना प्रारम्भ किया। उस काल (६ठी शती ई० पू०) में यह महानगरी न केवल भारतवर्ष का एक सर्वमहान् राजनीतिक केन्द्र बन रही थी; वरन् सर्वमहान् सांस्कृतिक केन्द्र भी बन गई थी। उस युग के सभी विचारक और धर्मप्रचारक यहाँ एकत्र होते थे और अपने-अपने मन्तव्यों का प्रचार करते थे। उस काल की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण घटना भी इसी स्थल पर घटी—ईसापूर्व ५५७ को श्रावण कृष्ण प्रतिपदा, दिनांक १ अगस्त को प्रातःकाल इसी महानगरी के विपुलाचल पर निग्रन्थ ज्ञात्रिक पुत्र (निगंठनातपुत्त) भ० वर्द्धमान-महावीर ने, जो श्रमण-परम्परा के, अतः जैनों के अन्तिम तिर्थङ्कर थे, सर्वप्रथम अपना धर्मचक्र-प्रवर्तन किया और उनके इन्द्रभूति, गौतम आदि गणधर शिष्यों ने उनके उपदेशों का सार लेकर ऐतिहासिक जैन वाङ्मय के ग्रन्थ-प्रणयन का ॐ नमः किया। अस्तु, वर्तमान में उपलब्ध जैन धर्म, दर्शन, साहित्य और कला का ऐतिहासिक स्रोत अन्तिम बार इसी परम पुनीत स्थल से प्रवाहित हुआ था। उसी सांस्कृतिक स्रोत का संरक्षण करने एवं उसे प्रवहमान रखने के उद्देश्य से स्थापित संसद का प्रथम अधिवेशन बिहार की इस पुण्य भूमि में सर्वथा उपयुक्त ही है। प्रस्तुत आरा नगर शिक्षा, संस्कृति एवं साहित्य-निर्माण की दृष्टि से कम महत्त्वपूर्ण नहीं है।

संसद ने अपने अधिवेशन को जो यह दो विद्वद्गोष्ठियों (सेमिनारों) का रूप दिया है वह भी सर्वथा समीचीन है और उसके स्वरूप एवं उद्देश्यों के अनुरूप है। प्रथम गोष्ठी जैन साहित्य इतिहास और पुरातत्त्व से संबद्ध है और दूसरी जैन दर्शन, आचार एवं अध्यात्म से।

'जैन साहित्य, इतिहास और पुरातत्त्व' विभाग के अन्तर्गत नियोजित प्रस्तुत गोष्ठी का आज का विवेचनीय विषय है—'जैनों का असाम्प्रदायिक साहित्य और कला।' इस शीर्षक से ऐसा ध्वनित होता है कि मानों जैनों का समस्त साहित्य और कला मुख्यतया साम्प्रदायिक ही हैं और उनमें यदि कुछ ऐसा है जो साम्प्रदायिक नहीं है वही यहाँ अपेक्षित है!

जैन साहित्य अथवा जैन कला का यह 'साम्प्रदायिक' और असाम्प्रदायिक जैसा विभाजन कुछ विचित्र-सा लगता है, विशेषकर जब कि भारत की अन्य धार्मिक परम्पराओं—ब्राह्मणीय (शैव, वैष्णवादि तथाकथित हिन्दू), बौद्ध, मुसलमान, सिक्ख, ईसाई, पारसी आदि के साहित्य अथवा कला में प्रायः वैसा विभेद नहीं किया जाता। अब तो हिन्दू कला, बौद्ध कला, मुस्लिम कला जैसे नाम भी बहुत कम प्रयुक्त किये जाते है और युगानुसारी—प्राचीन भारतीय कला, पूर्वमध्यकालीन भारतीय कला, मध्यकालीन भारतीय कला, उत्तरमध्यकालीन भारतीय कला, आधुनिक भारतीय कला—नामों का ही प्रायः प्रयोग किया जाता है। कभी-कभी क्षेत्रीय या प्रादेशिक नाम, यथा—उत्तर भारतीय, दक्षिण भारतीय, पूर्वी, पश्चिमी अथवा गुजराती, बंगाली आदि; अथवा आर्य, द्रविड़ आदि भी प्रयुक्त होते है। विशिष्ट राजवंशो के नाम से भी कला-शैलियों का सृजन किया जाता है। यथा—मौर्यकालीन या मौर्यकला, शुङ्गकला, शक-कुषाण कला, गुप्त-कला, चालुक्य-कला, चोल-कला, होयसल-कला, मुगल-कला आदि। इस प्रकार साहित्य भी युगानुसारी—

प्राचीन, मध्यकालीन आदि, अथवा भाषावार—प्राकृत, संस्कृत, कन्नड, तामिल, आदि, अथवा विषयवार—दार्शनिक, आध्यात्मिक नैतिक, काव्य, तर्क, छन्द, व्याकरण, कोष, कथा, इतिहास, पुराण आदि विशेषणो के साथ तत्तद्रूपी भारतीय साहित्य या वाङ्मय के नाम से ही अभिहित किया जाता है। तब इस संसद् ने जैन साहित्य और कला के क्षेत्र में साम्प्रदायिक भेद की कल्पना क्यों की ? इसके भी कारण हैं :—

भारतीय साहित्य एवं कला के उदय, विकास, वर्णन, इतिहास, मूल्यांकन आदि से सम्बद्ध जितने ग्रन्थ लिखे गये वे प्रारम्भ में यूरोपीय विद्वानो द्वारा ही लिखे गये। उन विद्वानो ने साम्प्रदायिक असाम्प्रदायिक जैसा कोई विभेद नहीं किया, या तो प्रमुख धार्मिक परम्पराओ—हिन्दू, बौद्ध, जैन आदि के आधार से अथवा प्रसिद्ध राज्यवंशो के आधार से या फिर विभिन्न युगों के आधार से ही विवेचन किया। किन्तु उसके उपरान्त इन विषयो पर जो विपुल साहित्य आये दिन प्रकाश में आ रहा है, भले ही उसका आधार उपर्युक्त पाश्चात्य कृतियाँ ही अधिकतर हैं, वह अधिकांशतः जैनेतरों विशेषकर तथाकथित हिन्दू-धर्मियों द्वारा रचा जा रहा है। इन लेखकों को, न जाने क्यो हिन्दू साहित्य और कला को, चाहे वह कितना ही धार्मिक या साम्प्रदायिक क्यों न हो—असाम्प्रदायिक अथवा केवल भारतीय साहित्य और कला कहने की, और जैन-बौद्धादि के, विशेष कर जैनो के साहित्य और कला को सेक्टेरियन या साम्प्रदायिक कहने की कुटेव पड़ गई है। वेद, स्मृति, पुराण, रामायण, महाभारत, दार्शनिक सूत्र, सब भारतीय असाम्प्रदायिक साहित्य है और प्राचीन जैनों द्वारा रचित लौकिक साहित्य भी धर्म-विशेष का साम्प्रदायिक साहित्य है। शिव, विष्णु और सूर्य के मंदिर भारतीय कला के नमूने हैं; किन्तु जैन मन्दिर, स्तूप, निषद्या, आदि जैनों की धार्मिक कला है। आश्चर्य की बात है कि वही रामचरित वाल्मीकि की रामायण या तुलसीदास के रामचरितमानस के रूप में तो असाम्प्रदायिक है, सर्वश्रेष्ठ काव्य है और भारतीय साहित्य का अमूल्य रत्न है; किन्तु विमलसूरि का प्राकृत पद्मचरित्र, रविषेण का संस्कृत पद्मचरित, स्वयंभू की अपभ्रंश रामायण, पम्प की कन्नड रामायण, आदि साम्प्रदायिक या सेक्टेरियन ग्रन्थ है और शुद्ध साहित्य की दृष्टि से उनके मूल्याङ्कन की कोई आवश्यकता हो नही। पार्श्वाभ्युदय एक साम्प्रदायिक कृति है और मेघदूत एक श्रेष्ठ लौकिक ग्रन्थ है ? संस्कृत, हिन्दी आदि किसी भी भारतीय भाषा के किसी भी आधुनिक साहित्यिक इतिहास को उठाकर देखलें, प्रथम तो उसमें जैन लेखको और उनकी कृतियों का बहुत कम उल्लेख प्राप्त होगा; जो होगा भी वह सदोष, अपूर्ण एवं भ्रामक और बहुधा इस टिप्पण के साथ 'जैन साम्प्रदायिक'। बनारसीदास के 'नाटक समयसार' को एक नाटक और 'अर्धकथानक' को एक साम्प्रदायिक धर्म-ग्रन्थ के रूप में उल्लेख हुआ हमने देखा है। कबीर की रचनाएँ साम्प्रदायिक नहीं हैं और जोइन्दु या रामसिंह की शुद्ध साम्प्रदायिक है ? इस प्रकार के अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं। प्रायः यही स्थिति कला के क्षेत्र में है।

वस्तुतः, भारतवर्ष की ही नहीं, प्रायः समस्त सभ्य संसार की आधुनिक काल से पूर्व का जितना भी साहित्य है और जितनी भी कलाकृतियाँ है वे अधिकांशतः लक्ष्य या अलक्ष्य रूप से धर्माश्रित ही हो रही है। मुसलमानों के आने के पूर्व इस देश के विभिन्न युगों एवं भागों में ब्राह्मण (हिन्दू), जैन और बौद्ध ये ही तीन प्रधान धार्मिक परम्पराएँ थी। उस समय तक के समस्त भारतीय साहित्य और कला का सृजन उन्हीं के अनुयायियों ने किया था। जनता के सभी वर्गों के स्त्री-पुरुष इन तीनों में से ही किसी-न-किसी के परम्परागत अथवा नव-दीक्षित भक्त होते थे। किन्तु जनसाधारण

का समस्त जीवन मात्र धर्म पर ही केन्द्रित नहीं था—अधिकांश तो इहलौकिक ही था। उनके लौकिक जीवन की आवश्यकताएँ, आकांक्षाएँ, इच्छाएँ, कामनाएँ और प्रवृतियाँ भी प्रायः समान ही थीं। उनके प्रबुद्ध नेता और विचारक जन-जीवन के स्पंदन के अनुभव से अछूते नहीं रह सकते थे। अतएव उन्होंने जो साहित्य-सृजन किया वह जन-जीवन के उत्थान और कल्याण को ही नहीं, उसकी सन्तुष्टि एवं रंजन को भी दृष्टि में रखकर किया। उनके कलाकारों द्वारा कलाकृतियों के निर्माण में भी ये ही तीनों दृष्टियाँ प्रेरक रहीं। यही कारण है कि उस काल की तीनों ही परम्पराओं के साहित्य और कला में, और तदुत्तर काल में भी हिन्दुओं और जैनों के (मध्यकालीन) साहित्य और कला में जन-सामान्य की भावनाएँ और आदर्श परिलक्षित होते है। उनकी कृतियों पर उनके अपने-अपने धार्मिक संस्कारों, आदर्शों, विचारों एवं मूल्यों की छाप तो पड़ती ही थी, और इसी कारण उनमें परस्पर अन्तर भी लक्षित हुए। किन्तु एतावतमात्र से एक साहित्यिक की कलाकृति लौकिक या असाम्प्रदायिक कहलाये और दूसरी धर्मविशेष से सम्बद्ध शुद्ध साम्प्रदायिक—यह एक विचित्र बात है!

इस वस्तुस्थिति का कारण यही हो सकता है कि वर्तमान जैनों की संख्या तथाकथित हिन्दू-धर्मियों की संख्या का लगभग एक प्रतिशत ही रह गई है। भारतीय संघ की पूरी जनसंख्या की अपेक्षा वह और भी कम है। उनकी शक्ति और प्रभाव भी उसी अनुपात में पर्याप्त न्यून है। इस पर यह छोटा-सा समाज कई सम्प्रदायों में बँटा हुआ है, जिसमें परस्पर यथेष्ट सौहार्द एवं एकोद्देश्यता का भी प्रायः अभाव दृष्टिगोचर होता है। विविध विषयों के वर्तमान प्रामाणिक जैन लेखकों की संख्या भी प्रायः नगण्य है। यदि प्रतिवादरूप कभी कभी कोई कुछ लिखता भी है तो वह नक्कारखाने में तूती की आवाज होकर रह जाता है।

अस्तु, विवक्षित विषय पर विचार करने के लिये कुछ मौलिक भ्रान्त धारणाओं के निरसन का प्रयास आवश्यक है जो निम्नोक्त तथ्यों को हृदयंगम करने और कराने से हो सकता है—(१) जैन धर्म जिस श्रमण-परम्परा का इतिहास-काल के प्रारम्भ के पूर्व से ही अविच्छिन्न, सजीव एवं सफल प्रतिनिधित्व करता रहा है वह विशुद्ध भारतीय परम्परा है, अत्यन्त प्राचीन है, वह मानव-परम्परा है, अवैदिक आर्य है और संभवतया वैदिक धर्म एवं सभ्यता के उदय के पूर्व से ही विद्यमान है। (२) इतिहास-काल के प्रारम्भ से लेकर उत्तर मध्यकाल पर्यन्त जैन धर्म का प्रचार-प्रसार सम्पूर्ण देश में, उसके समस्त वर्गों एवं जातियों में था—कहीं और कभी, अधिक, और कहीं और कभी कम किसी-किसी युग और प्रदेशों में तो सम्पूर्ण जनसंख्या का एक तिहाई से भी अधिक जैनों का अनुपात रहा है और यदि शूद्र आदि परिगणित एवं पिछड़ी जातियों एवं आदिम निवासियों को छोड़ दिया जाय तो तथाकथित हिन्दू द्विजों (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य) की अपेक्षा वह अनुपात पर्याप्त अधिक रहा है। (३) जैनों की जो अत्यल्प संख्या (लगभग ३० लाख) वर्तमान में रह गई है उसका कारण उनकी संख्या में होनेवाला वह ह्रास है जिसका आरम्भ मध्यकाल के प्रारम्भ में हो गया था और जिसका वेग गत १८वीं और १९वीं शताब्दियों में अत्यधिक बढ़ा। इस ह्रास का कारण शैवों, वैष्णवों, लिंगायतों, मुसलमानों और ईसाइयों की कृपा दृष्टि रही है जिनकी सबकी संख्या जैनों के बूते पर ही पर्याप्त बढ़ी हैं। (४) विशुद्ध ऐतिहासिक काल (६०० ई० पू०) से पूर्व की अनुश्रुतियाँ एवं ऐतिहासिक परम्पराएँ, विशेष कर श्रमण-धारा से सम्बद्ध, जैनों ने उसी प्रकार सुरक्षित रखी हैं जिस प्रकार वैदिक परम्परा के अनुयायियों ने अपनी परम्परा को सुरक्षित रखा है।

(५) ऐतिहासिक भारतीय साहित्य एवं कला का प्रारम्भ एवं विकास जैन, बौद्ध और तथाकथित हिन्दुओं ने ईसापूर्व प्रथम सहस्राब्द में प्रायः साथ-ही-साथ, समान उत्साह एवं मनोयोग के साथ किया। (६) जैन साहित्य की मौलिक परम्परा वेदों की रचना के बहुत पूर्व भ० ऋषभदेव के समय तक पहुँचती है। उनका ग्रन्थ-प्रणयन कम-से-कम गौतम गणधर (लगभग ५०० ई० पू०) तक और लिखित साहित्य की परम्परा भी ४थी-३री शती ई० पूर्व तक पहुँचती है। उसके पूर्व हिन्दुओं और बौद्धों की भी तत्तत् परम्पराएं नहीं पहुँचती (७) कला के क्षेत्र में, यदि सिन्धुघाटी की प्रागऐतिहासिक एवं विवादास्पद कला-कृतियों को छोड़ भी दिया जाय, तो भी स्तूपों, चैत्यो, पर्वतीय गुफाओं, देवमन्दिरों, मूर्तियों आदि का निर्माण जैनों ने पहिले प्रारम्भ किया, उसके बाद ही बौद्धो और हिन्दुओं ने इस क्षेत्र में पदार्पण किया। (८) जैन पुरातत्त्व एवं जैनों का विविध कला-वैभव इस देश के कोने-कोने में व्याप्त है और वह प्रायः सभी युगों और शैलियों का प्रतिनिधित्व करता है। (९) विभिन्न भावात्मक रसमय एवं विविध विषयक विपुल साहित्य देश के विभिन्न जैन शास्त्र-भंडारों में अभी भी उपलब्ध है, उसका बहुभाग अभी भी अप्रकाशित है एवं अल्पप्रचारित है। (१०) जन-जीवन को स्पर्श करने के उद्देश्य से ही जन-भाषाओं—प्रादेशिक भाषाओं में प्रचार करने एवं साहित्य-सृजन करने मे जैन समस्त भारतीयों में अत्यंत प्राचीन काल से लेकर वर्तमान पर्यन्त सर्वाग्रणी रहे हैं।

इस दशसूत्री को ध्यान में रखते हुए जैनो द्वारा रचित एवं ज्ञात साहित्य को यदि उन अजैन लेखको की दृष्टि से ही देखा जाय तो इसे धार्मिक और लौकिक दो वर्गों में स्थूल रूप से विभाजित किया जा सकता है। धार्मिक वर्ग के अन्तर्गत मंत्र-तंत्र, पूजा-पाठ, प्रतिष्ठा-ग्रन्थ, व्रत-अनुष्ठानादि, मुनिचर्या, लोकालोक-वर्णन एवं शुद्ध तत्त्वज्ञान संबंधी रचनाएँ आती है। उसमें आगम और आगमिक साहित्य को, जो निर्युक्ति, चूर्णि, भाष्य, वृत्ति, शंका, पंजिका, टिप्पण आदि रूप व्याख्या-साहित्य से अत्यन्त समृद्ध एवं विपुल है, गर्भित किया जा सकता है। किन्तु इस साहित्य में भी प्रसंगवश अगणित सांस्कृतिक, ऐतिहासिक, भौगोलिक तथा अन्य लौकिक तथ्य प्राप्त होते है जो तथाकथित असाम्प्रदायिक अथवा लौकिक ज्ञान-विज्ञान के विकास एवं इतिहास के लिये अत्यन्त महत्त्वपूर्ण सिद्ध होते है। इन दोनों प्रकार के साहित्य के अतिरिक्त जितना अन्य जैन साहित्य है, जो पर्याप्त विविध एवं विशाल है, उसे प्रायः सबको असाम्प्रदायिक कहा जा सकता है। पुराण-पुरुषो के जितने चरित ग्रन्थ है, उनमें जहां-कहीं प्रसंगवश जैन तत्त्वज्ञान, आचार, लोकालोक, कालचक्र, धार्मिक क्रियाओं आदि का वर्णन है, उन्हे छोड़कर शेष कथाभाग रुचिकर, लोकरंजक एवं तत्कालीन लोकदशा एवं संस्कृति का परिचायक है। महाकाव्य, खण्डकाव्य, गीतिकाव्य, सुभाषित, चम्पू, नाटक, आदि विभिन्न साहित्यिक विधा के आश्रय से रचा गया यह साहित्य अन्य तथाकथित भारतीय असाम्प्रदायिक साहित्य के पूर्णतया समकक्ष है। स्वतंत्र एवं फुटकर जैन कथा-साहित्य का बहुभाग लोक-कथाओं से समन्वित है। जैनों की स्तुति-स्तोत्र आदि भक्तिपरक रचनाएँ भावुकता एवं भावप्रवणता में अन्य समकोटि साहित्य जैसी ही लोकोन्नायक है। दर्शन एवं न्यायशास्त्र विषयक जैन दार्शनिक ग्रन्थ भारतीय चिन्तन के अध्ययन के लिये उसी प्रकार उपयोगी एवं असाम्प्रदायिक हैं जैसे कि न्याय-सांख्य, वैशेषिक, योग, मीमांसा, वेदान्त आदि दर्शनों से सम्बद्ध ग्रन्थ हैं अथवा इंडियन फिलॉसफी पर लिखे जानेवाले आधुनिक ग्रन्थ है। इनके अतिरिक्त, तर्क, छन्द, व्याकरण, कोष, अलंकार काव्यशास्त्र इत्यादि विषयो पर संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश, कन्नड, तमिल, हिन्दी आदि भाषाओ में रचित जैन साहित्य तो शुद्ध

असाम्प्रदायिक माना ही जायेगा। इसी प्रकार गणित, ज्योतिष, भूगोल-खगोल, सामुद्रिक, चिकित्सा-शास्त्र—मनुष्यों का ही नहीं पशुओं का भी, पदार्थ-विज्ञान, पशु-पक्षि-शास्त्र, रत्नपरीक्षा, सूपसार, शिल्प-शास्त्र, संगीत-शास्त्र, वाणिज्य-शास्त्र, नीति, अर्थशास्त्र, ऐतिहासिक जीवन-चरित, आत्मचरित, इतिहास-ग्रन्थ, इत्यादि कौन ऐसा विषय है जिस पर उन युगों में किसी अन्य परम्परा के विद्वानों ने लिखा और जैनो ने न लिखा हो! जैनो द्वारा इन विषयों पर रचित साहित्य शुद्ध असाम्प्रदायिक हैं, साथ ही पर्याप्त महत्त्वपूर्ण एवं प्रामाणिक भी।

वास्तव में जिसे 'असाम्प्रदायिक' साहित्य कहना चाहिये वह अपने सम्प्रदाय को छोड़कर अन्य सम्प्रदायों के विषय पर रचित साहित्य है, और उसमे भी जैन विद्वानों ने ब्राह्मण-परंपरा के षड्दर्शनो पर ग्रन्थ रचे, ब्राह्मण और बौद्ध दार्शनिक ग्रन्थो की टीकाएँ लिखी, जैनेतरो द्वारा रचित व्याकरण-कोषादि तथा काव्य-ग्रन्थों की भी सुप्रसिद्ध टीकाएँ रची। महाकवि कालिदास को यदि मल्लिनाथसूरि जैसा जैन टीकाकार न मिलता तो शायद उसकी वह प्रसिद्धि न हो पाती, जो हुई। अनेक महत्वपूर्ण अजैन ग्रन्थ जैन भंडारों और जैन टीकाकारों की कृपा से ही सुरक्षित रह पाये। आधुनिक युग में भी सैकड़ों जैन विद्वानों ने विशुद्ध लौकिक विषयों पर वैज्ञानिक एवं कलात्मक साहित्य-सृजन किया है और कर रहे है।

जहां तक जैन का प्रश्न है, विशुद्ध असाम्प्रदायिक, धर्मनिरपेक्ष या लौकिक कला, जो जन-साधारण या व्यक्तिविशेष के रंजन अथवा उपयोग के लिये हो उसका तो जैन भी उसी प्रकार निर्माण करते और कराते रहे है, जैसा कि अन्य जन। किसी नरेश ने यदि नगर-निर्माण किया, किसी ने दुर्ग या प्रासाद बनवाया, या जन-हित में कूप, वापी, तड़ाग, कुल्या, बांध, पुल आदि बनवाये, तो यदि वह जैन था तो उसकी ये कृतियाँ जैन नही हो जाती, वह हिन्दू या बौद्ध था तो वे हिन्दू और बौद्ध नहीं हो जाती। बड़े-बड़े प्रतापी जैन नरेश और सम्राट् हुए है, उन्होंने इन सब वस्तुओ का निर्माण किया है; किन्तु उन्हे किसी भी धार्मिक परम्परा से सम्बद्ध करना अनुचित है। शेष समस्त कृतियाँ प्रायः धर्माश्रित हा होती थी, चाहे किसी भी परम्परा से वे सम्बद्ध क्यो न हो। अतएव जिन्हें जैन कलाकृतियां कहा जाता है उनमें से जैनों द्वारा निर्मापित स्तूप, चैत्य, गुहामंदिर, लेण, देवालय, मंडप, विहार या मठ अथवा सांस्कृतिक अधिष्ठान, निषद्याएँ, मानस्तंभ आदि स्थापत्य कला के और अर्हन्तों अथवा तीर्थङ्कर-विशेषों की प्रतिमाएँ, शासनदेवताओ, यक्ष-यक्षणियों, अन्य जिन-भक्त देवी-देवताओं तथा उपासक-उपासिकाओ की मूर्तियाँ, पुराण-कथाओं, ऐतिहासिक घटनाओ या लोक-जीवन संबंधी दृश्यो के प्रस्तराङ्कन, अन्य नानाविध मूर्त्त अलङ्करण, जिनमें जीवजगत—पशुपक्षी आदि, वनस्पतिजगत—फलपुष्प वृक्ष आदि अथवा प्राकृतिक नदी, सरोवर, पर्वतादि तथा अनेक प्रतीक आदि उत्कीर्ण किये गये है; जैन मूर्तिकला के सुन्दर उदाहरण है। विभिन्न कालों एवं प्रदेशो में प्रचलित विविध शैलियो में इन कलाकृतियों का निर्माण हुआ है। कलाकार जैन भी होते थे और अजैन भी; किन्तु जिस उद्देश्य से और जिसकी प्रेरणा से उक्त कृति का निर्माण करना होता उसका वे ध्यान रखते ही थे। लोक-प्रचलित रुचियों एवं शैलियों को भी वे अपनाते थे, जो आपत्ति-योग्य स्थल या प्रसंग नहीं होते, वहाँ वे कला में अपनी स्वतंत्रता भी प्रदर्शित करते। अतएव जिन प्रतिमाओं तथा विशिष्ट शास्त्रीय मूर्तियो को छोड़कर अन्य मूर्त्ताङ्कनों में, विशेषकर जिन-मन्दिरों की छतों, दीवारों, स्तंभों, द्वारों, तोरणों, स्तूप आदि को वेष्टित करनेवाली वेदिकाओं के स्तंभों एवं सूचियों आदि के अलङ्करण में स्वतन्त्रता, लोकरञ्जक कलावैचित्र्य इन जैन कृतियों में भी प्रचुर मात्रा

में प्राप्त होता है। यथा खजुराहो के मंदिरों, देवगढ़ के स्तंभों और विशेषकर मथुरा के वेदिका-स्तंभों पर उत्कीर्ण शालभंजिका, पुष्पचयनमग्ना प्रसाधनरता, नृत्यवती, दाम्पत्य-केलि-मुग्धा, शुकसारिका-सहक्रीड़ासंलग्ना इत्यादि विविध नारीरूप भी उपलब्ध होते हैं।

इसी प्रकार चित्रकला जिनमंदिरों एवं गुहामंदिरों की भित्तियों को सजाने में, कथा-ग्रन्थों को सचित्र करने में तथा अन्य ग्रन्थ-प्रतियों के अथवा विज्ञप्ति-पत्रों के अलङ्करण आदि में विकसित हुई और बहुधा अपने विषय के अनुसार 'असाम्प्रदायिक' ही रही। जिन-भक्ति के प्रसंग से जैनों ने वाद्य एवं गेय संगीत की विधाओं को भी प्रोत्साहन दिया। संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश, प्राचीन हिन्दी, ब्रजभाषा, बुन्देली, छत्तीसगढ़ी, अवधि, खड़ी बोली, गुजराती, मराठी, कन्नड़, तमिल, तेलगू, मलयालम प्रभृति भारतीय भाषाओं में क्रमबद्ध वाङ्मय का प्रणयन करनेवाले जैन लेखक किसी एक जाति और वर्ग से नहीं आये। ये राजपरिवार से लेकर किसान की कुटिया तक तथा ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, कायस्थ, प्रभृति सभी जातियों से आये हैं। साहित्य में चित्रित पात्र भी सभी जाति और वर्गों के हैं। सम्यग्दर्शन-सम्पन्न मातङ्ग को भी देवतुल्य कहा गया है। यतः चारित्र-विकास की सभी संभावनाएँ इस वाङ्मय में सर्वाधिक निरूपित है। विधाओं की दृष्टि से केवल संस्कृत भाषा में निबद्ध महाकाव्य लगभग पचास आज उपलब्ध है, जबकि संस्कृत-साहित्य के इतिहासकार पन्द्रह से अधिक महाकाव्यों का परिचय प्रस्तुत नहीं कर सके है। इसी प्रकार उच्च कोटि के रसमय काव्य प्राकृत, अपभ्रंश, प्राचीन हिन्दी और कन्नड़ मे सौ से कम नही है। ललित साहित्य की दृष्टि से जैन वाङ्मय बहुत ही समृद्ध है। भाषाविज्ञान, संस्कृति, इतिहास और काव्यानन्द की दृष्टि से सैकड़ों जैन ग्रन्थ महत्त्वपूर्ण है। जैनों में एक-एक ऐसा लेखक और कवि है, जिसने अपने जीवन मे एक लाख श्लोक लिखे है। आचार्य वीरसेन ने अकेले ही अपने जीवन मे एक लाख श्लोक-प्रमाण टीका लिखी है। इनकी विश्वसाहित्य में धवला और जयधवला टीकाएँ विषय और भाषा दोनों ही दृष्टियों से उल्लेख्य हैं। अतः जैन साहित्य के अध्ययन, अनुशीलन और अन्वेषण की आज आवश्यकता है। शोध-खोज के लिए जैन साहित्य मे सैकड़ों विषय हो सकते है। अभी तक जो भी कार्य हुआ है, वह समुद्र में एक बून्द के समान है।

इसमें प्रायः कोई सन्देह नही है कि जैनों का उपर्युक्त 'असाम्प्रदायिक' साहित्य एवं कलाकृतिया अपनी बहुलता, विविधता, महत्त्व एवं उपादेयता की दृष्टि से अन्य किसी भी भारतीय परम्परा के साहित्य एवं कला की अपेक्षा हीन, निम्न कोटि की या गौण समझे जाने के योग्य नही है। किन्तु उनका सम्यक् अध्ययन एवं मूल्याङ्कन नही हो पाया है। अभी तक उनके प्रामाणिक विवरण भी तैयार नहीं हो पाये हैं, जो कुछ योरोपीय प्राच्यविदों ने लिख दिया है उसका भी विधिवत् संकलन एवं समीक्षा नहीं हुई है। आवश्यकता इस बात की है कि साहित्य एवं कला दोनों ही क्षेत्रों में, व्यवस्थित विषय-विभाजन करके समर्थ विद्वान् उनका पृथक्-पृथक् सूक्ष्म एवं घनीभूत करके सर्वेक्षण-पर्यवेक्षण करें और उसके आधार पर प्रामाणिक विवरण तैयार किये जायँ। दूसरे प्रत्येक वर्ग की साहित्यिक एवं कलात्मक कृतियों का विवेचन एवं मूल्याङ्कन उसके समकालीन एवं पूर्वापर समकक्ष कृतियों के परिप्रेक्ष्य में किया जाय। इस भ्रान्त धारणा का उन्मूलन करने की भी आवश्यकता है कि जैन तो एक छोटा-सा अति गौण धार्मिक सम्प्रदायमात्र है; अतएव इसके जो भी सांस्कृतिक योगदान हैं वे सेक्टेरियन साम्प्रदायिक या धर्मविशेष मात्र से संबद्ध ही हैं। यदि यह भारतीय जैन साहित्य

संसद् आरा के देवकुमार रिसर्च इंस्टीट्यूट जैसी पुरानी प्रतिष्ठित संस्था को अपनी प्रवृत्तियों का केन्द्र बनाकर उनमें उपर्युक्त दिशा-संकेतों का समावेश करले तो उसके मूलभूत उद्देश्यों की बहुत कुछ पूर्ति हो जाय।

मैंने इस विवेचन में जैनों के तथाकथित असाम्प्रदायिक साहित्य और कला का, जो इस गोष्ठी का प्रकृत विषय है, संकेत-मात्र-सूचन ही किया है, उक्त साहित्य और कला के वर्गीकृत विस्तार में मैं नहीं गया, क्योंकि वैसा करना गोष्ठी में भाग लेने वाले विद्वानों के अधिकार-क्षेत्र में अनधिकार प्रवेश करना होता। अपने-अपने विषयो पर, आशा है, वे विस्तार से प्रकाश डालेंगे ही।

अन्त में, मैं संसद् के कार्यकर्त्ताओं भाई डा० नेमिचन्द्र जी आदि का, इस अधिवेशन के नियोजक बा० सुबोधकुमार जी का; प्रस्तुत गोष्ठी के संयोजक भाई डा० कस्तूरचन्द कासलीवाल का तथा समस्त उपस्थित सज्जनों का हृदय से आभारी हूँ कि उन्होंने मेरी अयोग्यता एवं अक्षमता की उपेक्षा करके मुझे इस गोष्ठी का अध्यक्षीय पद देकर गौरवान्वित किया है और मेरी बात शान्ति के साथ सुनने की कृपा की है। मेरी हार्दिक कामना है कि 'भारतीय जैन साहित्य संसद' अपने सदुद्देश्यों की पूर्ति से उत्तरोत्तर प्रगतिशील होती जाय।

जय सर्वज्ञ !



साहित्य-कला-संगोष्ठी के संयोजक

डा० कस्तूरचन्द्र कासलीवाल

का

भाषण

आदरणीय डा० शर्मा, माननीय अध्यक्ष महोदय, उपस्थित विद्वत्वर्ग भाइयो एवं बहिनो !

भारतीय जैन साहित्य संसद के प्रथम अधिवेशन के अवसर पर आयोजित जैन साहित्य-कला संगोष्ठी के संयोजन का भार डाल कर मेरा जो सम्मान बढाया है उसके लिये मैं आप लोगों का पूर्ण आभारी हूँ। यद्यपि मैंने मान्य डा० नेमिचन्द्र जी संयुक्त-संयोजक भारतीय जैन साहित्य संसद से ही उस कार्य को सम्पन्न करने का बार-बार निवेदन किया था। लेकिन उन्होंने मेरे नम्र निवेदन को न मानते हुए मुझे ही इस कार्य को सम्पन्न करने का आदेश दिया। इस संगोष्ठी को सफल बनाने में अधिकांश कार्य उन्होने ही किया है, इसके लिये मैं उनका हृदय से आभारी हूँ।

आपने अभी माननीय डा० शर्मा सा० एवं पं० फूलचन्द्र जी सा० के सारगर्भित भाषण सुने। दोनों ही विद्वानों ने जैन साहित्य की महत्ता, उसके प्रकाशन एवं प्रचार पर जो विस्तृत प्रकाश डाला है वह अत्यधिक महत्वपूर्ण है। मैं आशा करता हूं कि साहित्य संसद उनकी योजना को मूर्त्त रूप देगा। जैन साहित्य एवं कला भारतीय साहित्य एवं कला का एक प्रमुख अंग है। इसलिये जब तक यह अंग पूर्णत: प्रकाश मे नही आवेगा, उसके विविध पक्षों पर खोज नही की जावेगी, उसका अज्ञात एवं अप्रकाशित साहित्य प्रकाशित नहीं किया जावेगा तथा भाषा-विशेष के इतिहास में एवं कला के इतिहास में उसे उचित स्थान नही मिलेगा; तब तक उस इतिहास को भारतीय साहित्य के विविध अंगों का प्रतिनिधित्व करने वाला इतिहास नहीं कहा जा सकता। वह अपूर्ण इतिहास ही माना जावेगा। इसलिये यह आवश्यक है कि जैन विद्वानों एवं मान्य आचार्यों द्वारा निबद्ध साहित्य को उचित स्थान मिले और उसे केवल धार्मिक साहित्य समझ कर अब तक उसकी जो उपेक्षा की जाती रही है उसका सर्वथा त्याग किया जावे।

जैन आचार्यों एवं विद्वानों ने सदा ही अपनी ज्ञान-साधना एवं आत्म-साधना से जन-साधारण का जीवन साहित्य के माध्यम से ऊँचे उठाने का प्रयास किया है। ये विद्वान् एवं आचार्य विविध भाषाओं के ज्ञाता होते थे और भाषा विशेष से कभी मोह नहीं रखते थे। जिस किसी भाषा की कृतियों की जनता द्वारा मांग की जाती उसी भाषा में वे अपनी लेखनी चलाते और उसे अपनी आत्मानुभूति द्वारा परिप्लावित कर देते। कभी उन्होंने पुराण-ग्रन्थ लिखे तो कभी काव्य-ग्रन्थों को लिखने में अपनी लेखनी चलायी। ज्योतिष, आयुर्वेद, गणित, रस, अलंकार आदि भी उनके प्रिय विषय

रहे। सुभाषित, उपदेशी, स्तोत्र, बत्तीसी, छत्तीसी आदि के रूप में उन्होंने कितने ही ग्रंथों का निर्माण किया। इन विद्वानों एवं आचार्यों ने सैकड़ों की संख्या में हिन्दी एवं राजस्थान की भाषा में चरित एवं कथा-ग्रंथों की तथा फागु, वेलि, शतक एवं बारहखडी, बारहमासा आदि के रूप में रचनायें संरचित करके पाठकों को अध्यात्म-रस का पान कराया। प्रान्तवाद एवं भाषा-विशेष के झगड़े में ये कभी नहीं पड़े; क्योंकि इन विद्वानों की साहित्य-सर्जना का उद्देश्य तो सदैव ही आत्म-संतोष एवं जन-कल्याण का रहा है। जैन आचार्यों, सन्तों एवं विद्वानों ने साहित्य-सर्जन के अतिरिक्त साहित्य-संग्रह एवं उसकी सुरक्षा में इतनी अधिक रुचि ली कि आज भी राजस्थान, गुजरात, महाराष्ट्र, उत्तरप्रदेश, विहार, देहली एवं दक्षिण भारत में सैकड़ों की संख्या में ग्रन्थ-संग्रहालय है। और इन जैन संग्रहालयो में मेरे अनुमान से दस-लाख से कम हस्त-लिखित प्रतियाँ नहीं होंगी। अकेले राजस्थान में १५० से अधिक ग्रन्थ-संग्रहालय है और उनमें २ लाख के करीब हस्त-लिखित ग्रंथों का संग्रह होगा। लेकिन दुःख इस बात का है कि साहित्य की इस अमूल्य निधि की ओर अब तक जैन एवं जैनेतर विद्वानों का बहुत कम ध्यान गया है। न तो अभी उनकी कोई व्यवस्थित सूचियाँ बन कर प्रकाशित हुई है और न उनमें संग्रहीत अज्ञात एवं अप्रकाशित साहित्य पर कोई प्रकाश डाला जा सका है। अभी मुझे राजस्थान के जैन ग्रन्थ-भण्डारों पर शोध-निबन्ध लिखने एवं श्री महावीर क्षेत्र के शोध-संस्थान की ओर से राजस्थान के इन भण्डारों को देखने एवं उनकी सूचियां बनाने का अवसर मिला। उस अवसर पर हिन्दी एवं अपभ्रंश की सैकड़ों अज्ञात एवं अप्रकाशित रचनायें प्राप्त हुईं। संस्कृत ग्रंथों की प्राचीनतम प्रतियाँ इन भण्डारों में संग्रहीत है। इसलिये संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश एवं हिन्दी में भी विद्वानों को जैन भण्डारों में संग्रहीत साहित्य की खोज करनी चाहिये। और तभी जाकर हमें साहित्यिक क्षेत्र में नव-उपलब्धियाँ प्राप्त होंगी। मैं उन्हे राजस्थान में एवं विशेषतः जयपुर मे पधारने का निमन्त्रण देता हूँ तथा उनके खोज के सम्बन्ध में पूर्ण सहयोग देने का विश्वास देता हूँ।

इन जैन साहित्यकारों ने साहित्य-जगत् को जो रचनायें भेंट की है वे सभी उच्च स्तर की है। वे विविध विषयों पर लिखी गयी हैं तथा उनमें विषय का अच्छा प्रतिपादन हुआ है। संस्कृत-साहित्य को ही लीजिये। उसमें निबद्ध कृतियाँ दर्शन, सिद्धान्त, काव्य, पुराण, कथा, ज्योतिष, आयुर्वेद गणित-शास्त्र, स्तोत्र एवं पूजा आदि विषयों से सम्बन्धित हैं। इनमें कितनी ही कृतियाँ तो ऐसी हैं, जिनमें किसी एक कृति पर ही शोध-प्रबन्ध लिखा जा सकता है। दर्शन-शास्त्र में अष्टसहस्री, प्रमेय-कमलमार्तण्ड, सिद्धान्त-ग्रन्थों मे तत्त्वार्थराजवार्तिक, सर्वार्थसिद्धि, काव्य-साहित्य में चन्द्रप्रभचरित, यशस्तिलकचम्पू, वरांगचरित एवं पुराण-साहित्य में महापुराण, हरिवंशपुराण, पद्मपुराण आदि कुछ ऐसी कृतियाँ है जो सभी दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण हैं और जिनपर स्वतंत्र रूप से शोध-प्रबन्ध लिखे जा सकते है। प्राकृत-भाषा मे निबद्ध जैन आगमों के अतिरिक्त आ० कुन्दकुन्द, देवसेन, आचार्य नेमिचन्द्र की कृतियाँ उच्चस्तर की रचनायें हैं। इसी तरह स्वयंभू, पुष्पदत्त, धनपाल, वीर, नयनन्दि, धवल, एवं रइधू अपभ्रंश के जगमगाते हीरे है। इनके द्वारा लिखा हुआ साहित्य किसी भी भाषा के उच्चस्तरीय साहित्य के समकक्ष रखा जा सकता है। इसी तरह योगीन्द्र, रामसिंह, रल्ह, सधारु, ब्रह्मजिनदास, कुमुदचन्द्र, बनारसीदास, भूधरदास, एवं द्यानतराय आदि कवियों द्वारा लिखे साहित्य पर भी पूर्ण खोज होने की अति आवश्यकता है। यद्यपि जैन विद्वानों का अधिकांश साहित्य अप्रकाशित अवस्था में है और वह हस्तलिखित रूप में ही है। इसलिये उनकी खोज में पर्याप्त व्यय भी

करना पड़ेगा। लेकिन इससे उन्हें नया साहित्य मिलेगा एवं नयी-नयी अनुभूतियाँ प्राप्त होंगी। नयी दिशा के साथ साहित्य-रचना की नयी शैली मिलेगी।

भारतीय जैन साहित्य संसद का जन्म इसी उद्देश्य को लेकर हुआ है और मुझे आशा है कि साहित्य के इस पुनीत यज्ञ में अब सब विद्वानों का सहयोग मिलेगा। प्राचीन जैन साहित्य की खोज के साथ-साथ उसका तुलनात्मक अध्ययन भी आवश्यक है। जैन विद्वानों एवं आचार्यों ने जो कुछ लिखा है वह काव्य, भाषा एवं शैली की दृष्टि से कितना विकासोन्मुख है, उसके निर्माण से जन-जीवन को क्या-क्या लाभ मिले है तथा विषय-प्रतिपादन मे लेखक कहाँ तक सफल रहा है, इन सबका तुलनात्मक अध्ययन होना आवश्यक है।



दर्शन और आचार संगोष्ठी के उद्घाटक

डॉ० भुवनेश्वरनाथ मिश्र 'माधव'

का

उद्घाटन-भाषण

[दर्शन और आचार संगोष्ठी का उद्घाटन करते हुए श्री माधवजी द्वारा दिये गये भाषण का संक्षिप्त सार]

जीवन-शोधन के लिए दर्शन और आचार का अध्ययन अत्यावश्यक है। वस्तुत: जीवन-शोधन की वैज्ञानिक प्रक्रिया ही दर्शन का वर्ण्य विषय है। जीवन के प्रति विभिन्न दृष्टिकोणों का रहना और परमतत्त्व की प्राप्ति के हेतु विभिन्न मार्गों का अनुसरण करना मानव का स्वभाव है। अत: आत्मा, परमात्मा, जगत् और इन तीनों के सम्बन्धका विश्लेषण सभी दार्शनिकों ने किया है। दर्शनशास्त्र की यात्रा 'कोऽहं' से आरम्भ होती है। मनुष्य के मन में प्रश्न उत्पन्न होता है, कि मैं कौन हूँ और मेरा क्या कर्त्तव्य है तथा इस कर्त्तव्य की पूर्त्ति किस मार्ग के द्वारा होनी चाहिए, आदि प्रश्न उसके मन को कुरेदते रहते हैं। दर्शनशास्त्र इन प्रश्नों का उत्तर देता रहता है। यह यात्रा 'सोऽहं' में पूर्ण हो जाती है अर्थात् मैं वही हूँ जो परमात्मा या शुद्ध तत्त्व है। यदि मेरा स्वरूप साधना और तत्त्वज्ञान के द्वारा प्राप्त हो जाय तो फिर मैं वही हो जाऊँ, जो मुझे होना है।

भारतवर्ष में छः दार्शनिक सम्प्रदाय हैं, जिन्होंने मूल तत्वों के विवेचन और विश्लेषण द्वारा मोक्षप्राप्ति के उपायों का निरूपण किया है। जैनदर्शन की गणना यद्यपि इन छः आस्तिक सम्प्रदायों में नहीं है, पर है यह भी आस्तिक दर्शन। आत्मा के विभिन्न रूपों, पर्यायों और गुणों का विवेचन इस दर्शन में बड़े विस्तार के साथ किया गया है। यहाँ शुद्ध आत्मा को ही परमात्मा कहा जाता है। यह परमात्मा अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तसुख और अनन्तवीर्य से युक्त है। जैन दार्शनिकों ने आत्मा और परलोक का अस्तित्व स्पष्ट रूप से स्वीकार किया है। पुण्य-पाप-बन्ध-मोक्ष की व्यवस्था जैनदर्शन में विस्तार से वर्णित है। मोक्षमार्ग का निरूपण करते हुए सम्यक्‌दर्शन, सम्यग्ज्ञान एवं सम्यक्‌चरित्र के समवाय को अभीष्ट प्राप्ति का मार्ग कहा है। सम्यक्‌दर्शन-तत्व-सम्बन्धी अभिनिवेश या श्रद्धा है। जैनदर्शन में जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा एवं मोक्ष ये सात तत्त्व माने गये है। मूलतः दो ही तत्त्व है--जीव और अजीव। अनन्त चतुष्टय रूप आत्मा कषाय और प्रमाद से युक्त होकर कर्मों का आस्रव करता है और मिथ्यात्व, अविरति आदि के कारण बन्ध में अन्तर होता जाता है। संसार का प्रपञ्च द्रव्य-व्यवस्था द्वारा स्वभाव-गुणानुसार स्वयमेव घटित होता रहता है। यही कारण है कि जैन दार्शनिकों ने लोक व्यवस्था के लिए किसी परोक्ष शक्ति की कल्पना नहीं की। जैनदर्शन के अनुसार यह लोक अनादिनिधन एवं अकृत्रिम है। इसकी रचना का आधार षड्द्रव्य है, मनुष्य का उत्थान और पतन स्वयं उनके हाथ में है। अन्य कोई भी परोक्ष शक्ति इसे अपने हाथ की कठपुतली नहीं बना सकती है। जैसा जीव का उदय और बन्ध रहता है वैसा ही उसे फल प्राप्त होता है। यहाँ यह स्मरणीय है कि जैनदर्शन के अनुसार आत्मा स्वयं कर्त्ता और भोक्ता है। जीव ज्ञान और दर्शन युक्त है और इतर जगत् जड़ है।

जैन दर्शन में जीव की कर्माविष्ट विभिन्न अवस्थाओं का चित्रण पाया जाता है। कर्म, पदार्थ पुद्गल की एक पर्याय है, जिसे जैन-दार्शनिकों ने शास्त्रीय भाषा में कार्माणवर्गणा कहा है। ये कार्माणवर्गणाएँ मूर्तिक होती हुई भी इतनी सूक्ष्म है कि इन्हें अदृश्य कहा गया है। जिस प्रकार लोहे का पिण्ड अग्नि में गर्म किये जाने पर चारों ओर से जल का आकर्षण करता है, उसी प्रकार चेतन आत्मा अपनी वैभाविक शक्ति के कारण विकृत हो कर्म-परमाणुओं को सब ओर से आकृष्ट करता है। ये कर्मपरमाणु खिचकर मनुष्य की कषाय-प्रवृत्ति की तारतम्यता के कारण आत्मा से चिपट जाते हैं। तथ्य यह है कि मन-वचन-काय की योगमयी प्रवृत्ति कर्मपरमाणुओं को आकृष्ट करती है और कषाय-प्रवृत्ति उन परमाणुओं से आत्मा को श्लिष्ट कर देती है। उदाहरणार्थ—यों समझा जा सकता है कि आन्धी से धूल उड़ती है और यह धूल दीवाल पर चिक्कण या रूक्ष परमाणुओं के कारण चिपट जाती है। चिपटने का कार्य विजातियों में ही होता है। रूक्ष कागज चिकनी गोंद के संयोग से सटता है। अतः जैन दार्शनिकों ने बन्ध का कारण 'स्निग्धरूक्षत्वात्' कहा है। आत्मा में कषायभाव गोंद के समान श्लेष उत्पन्न करता है और योग—मन-वचन-काय कर्मों को आकृष्ट करते हैं। अतएव कर्म और आत्मा का यह संयोग अनादिकाल से चला आ रहा है।

यहाँ यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि जब आत्मा स्वभावतः ज्ञान-दर्शनयुक्त है तो यह विकारमयी प्रवृत्ति कहाँ से और कैसे उत्पन्न हो गई? यतः स्वभावतः निर्मल वस्तु को कोई भी विकृत नहीं बना सकता है। यदि विजातियों के संयोग से इस प्रकार की प्रवृत्ति निरन्तर होती रहे तो फिर निर्वाण

का प्रश्न ही नहीं आ सकता है। निर्वाण में आत्मा का शुद्ध स्वरूप अवस्थित रहता है और इस शुद्ध स्वरूप को विकृत करने वाले कारण सदा प्रस्तुत रहते हैं। अतः इस शुद्धि के बाद भी विकृति आती जाय तो फिर निर्वाण का महत्त्व ही क्या रहा ? जैन दार्शनिकों ने इस प्रश्न का समाधान आत्मा की दो शक्तियाँ मानकर किया है। उनका अभिमत है कि आत्मा में मूलतः दो शक्तियाँ पाई जाती है[1]—(१) वैभाविक शक्ति और (२) स्वाभाविक शक्ति। संसारावस्था में जीव की वैभाविक शक्ति कार्यशील रहती है। अतः आत्मा विभावरूप परिणमन करता रहता है। तपश्चरण और साधना द्वारा कर्मों की निर्जरा हो जाने पर जब पूर्ण शुद्ध दशा प्राप्त हो जाती है तो जीव की स्वाभाविक शक्ति का विकास हो जाता है। अतः निर्वाण प्राप्त होने जाने पर विकार उत्पन्न करने वाले कारणों के न रहने से आत्मा अविकारी बना रहता है। इस प्रकार जैन दार्शनिकों ने संसार और मोक्ष की व्यवस्था निरूपित की है।

आचार के क्षेत्र में दान, तप, शील और भावना-शुद्धि को विशेष महत्त्व दिया है। दान का वास्तविक अर्थ त्याग है। जब व्यक्ति ममता और अहंकार का पूर्ण त्याग कर देता है तो वह सच्चा दानी बन जाता है। जो जितने अंश में त्यागवृत्ति को अपनाता है वह उतने ही अंश में दानी कहा जाता है। जीव ममत्ववश ही संसार के पर-पदार्थों को अपना समझता है और उनमें स्वबुद्धि उत्पन्न कर आसक्त होता है। अतएव जिसने ममता और अहंकार को छोड़ दिया है और निज गुणों को ही सर्वस्व समझा है ऐसा व्यक्ति दान के वास्तविक महत्त्व को समझ जाता है। जैनदर्शन में सेवा को महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। "परस्परोपग्रहो जीवानाम्" का सिद्धान्त सेवा का उत्कृष्ट रूप उपस्थित करता है। अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह विश्वप्रेम के ऐसे विकसित रूप है जिनसे त्याग, संयम और सदाचार की पूर्ण शिक्षा प्राप्त होती है। जैन दर्शन का साधक श्रमण कहलाता है और यह निरालस भाव से कठोर श्रम करता है। साधना, ध्यान और इच्छा-निरोध के रूप में सम्पन्न होती है। संयम की पराकाष्ठा के कारण इन्द्रिय और मन के निग्रह के साथ समस्त प्राणियों को सुख-शान्ति पहुँचाने की भावना सदैव उच्च कोटि की रहती है। प्रमाद या असावधानी का त्याग समिति के रूप में और मन, वचन और काय का निग्रह गुप्ति के रूप में साधक करता है। शरीर-धारण के हेतु साधक समाज से जो भोजन भी ग्रहण करता है उसके बदले में समाजोत्थान के हेतु अपना उपदेश देता है। जिस प्रकार गाय घास खाकर मधुर दुग्ध प्रदान करती है उसी प्रकार जैन श्रमण समाज से रूखा-सूखा अल्पाहार ग्रहण कर आत्मोत्थान कारक उपदेश देता है। जैनाचार जीवन के विविध पहलुओं पर प्रकाश डालता है। गृहस्थ और मुनि दोनों के लिये विभिन्न प्रकार की साधनाओं का प्रतिपादन करता है। संक्षेप में गृहस्थ आचार-शुद्धि

---

१. जैन दर्शन में मूलतः एक वैभाविक शक्ति ही मानी गई है। उसके परिणमन दो स्वीकार किये गये हैं—१ विभाव और २ स्वभाव। विजातीय द्रव्य (कर्म) का जब तक आत्मा के साथ सम्बन्ध रहता है तब तक आत्मा में विभाव (कषायादि) परिणाम होता रहता है। पर विजातीय द्रव्य का सम्बन्ध आत्यन्तिक एवं ऐकान्तिक (पूर्णतः) समाप्त हो जाने पर उसमें स्वभाव परिणाम ही होता है। इसी स्वभाव परिणाम में आत्मा अनन्त काल तक निमग्न रहता है और फिर उसे पुनर्जन्म ग्रहण नहीं करना पड़ता; क्योंकि पुनर्जन्म का कारण विजातीय द्रव्य नहीं रहता। देखिए, राजमल, पंचाध्यायी। —सम्पादक।

के लिये शुद्ध भोजन ग्रहण करता है, भोजन में अहिंसा के सिद्धान्तों को पूर्णतया पालन करते हुए अभक्ष्य एवं अस्वास्थ्यकर पदार्थों के त्याग पर जोर देता है। मनशुद्धि के हेतु पंच-पाप, सप्त-व्यसन एवं विकारी प्रवृत्ति के त्याग पर जोर दिया गया है।

मुनि-आचार में महाव्रत, गुप्ति और समिति रूप आचार का निरूपण किया गया है। आध्यात्मिक उत्थान के लिये गुणस्थान-अवरोहण की प्रणाली अत्यन्त वैज्ञानिक है। साधक अपने ध्यान की तीव्रता से मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योगों का क्रमशः निराकरण करता हुआ अपनी कर्म-कालिमा को आत्मा से निकाल बाहर करता है और केवलज्ञान को प्राप्त कर लेता है। गुणस्थान-अवरोहण की प्रणाली बड़ी ही सुचिन्तित वैज्ञानिक प्रणाली है। एक साधक की साधना के विकास का यह इतिहास ही है।

जैनदर्शन में स्याद्वाद या अनेकान्तवाद का जो सिद्धान्त प्रतिपादित है वह द्रव्य की व्यवस्था पर तो प्रकाश डालता ही है, पर जन-जीवन के लिये भी उसकी उपयोगिता कम नही है। ससार में विचार-भिन्नता का रहना आवश्यक है, क्योंकि प्रत्येक मनुष्य के विचार, उसकी योग्यता, शक्ति, स्वभाव, वातावरण आदि के अनुसार बनते है। अतः किसी भी व्यक्ति के विचार पूर्णतः सत्य नही हो सकते। आंशिक सत्य विचारो मे निहित रहता है। स्याद्वाद इसी मत-भिन्नता मे समन्वय उत्पन्न कर सत्य का विश्लेषण करता है। हठ और पक्षपात स्याद्वाद सिद्धान्त से ही दूर हो सकते है, अतः समाज और व्यक्ति के विकास के लिये स्याद्वाद सिद्धान्त की उपयोगिता सर्वविदित है। विभिन्न राजनैतिक पार्टियाँ यदि स्याद्वाद सिद्धान्त को अपना लें तो उनमे मतभेद ही न रहे और वे सुगठित होकर देश के कार्यों में लग जांय।

मैं जैनदर्शन का एक सामान्य छात्र हूँ। इस दर्शन की सूक्ष्मताओ और विशेषताओ की जानकारी मुझे नही है, पर व्यक्ति-स्वातंत्र्य को जितना महत्त्व इस दर्शन मे दिया गया है, सम्भवतः उतना महत्त्व अन्य दर्शनो में नही मिलेगा।

अभी-अभी हमने सुना कि मरण भी एक उत्सव या त्यौहार है, जिसे जैनदर्शन मे सल्लेखना कहा गया है। आस्तिक—आत्मविश्वासी मरण और रोगों से घबड़ाता नहीं। वह कर्मठ बन मृत्यु से मल्लयुद्ध करता है। आत्मा के अमरत्व का विश्वास उसे निर्भय बनाता है। पुनर्जन्म और मरण का विवेचन जैन दार्शनिकों ने विभिन्न दृष्टियों से किया है। लोकभय, परलोकभय, वेदनाभय आदि सप्त-भयों से मुक्त कर निर्भय होने की ओर मैं आपको ले चलना चाहता हूँ।

●●●

दर्शन और आचार संगोष्ठी

का

अध्यक्षीय भाषण

डा० एन० के० देवराज

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

हमारा देश एक पुराना देश है। इसका लम्बा इतिहास है। इस देशमे दार्शनिक, धर्मचिन्तक एव विचारक प्राचीन काल से ही उत्पन्न होते चले आये है। सभीने अपनी ज्ञानराशि-द्वारा देश की सस्कृति के निर्माण मे योग दिया है। जीवन शोधन के सम्बन्ध मे इस देशके विचारको ने जितना कहा है, उतना शायद अन्य देश के विचारको ने नही। साथ ही कहना होगा कि यहाँ के मनीषियो ने राजनीति और समाज निर्माण के सम्बन्ध मे विशेष चिन्तन नही किया। वैयक्तिक जीवन की इतनी प्रमुखता रही, जिससे परलोक सम्बन्धी बातें ही अधिक कही जाती रही। क्रान्तिकारी, समाज-सुधारक इस देश मे भी जन्मे हैं। बुद्ध और महावीर का व्यक्तित्व क्रान्तिकारी चिन्तको मे परिगणित है। हमे यहाँ जैन-दर्शन के सिद्धान्तो और तत्सम्बन्धी जीवन मूल्यो की चर्चा करनी है। इस दर्शन के मनीषियो ने भी आध्यात्मिक जीवन मूल्यो का गम्भीर विश्लेषण किया है।

जैन साहित्य विशाल है। विशेषत उसका दार्शनिक-वाङ्मय अनेक दृष्टियो से महत्त्वपूर्ण है। जैन दर्शन को हम तीन युगो मे विभक्त कर सकते है--

१ मोक्षयुग, २. अनेकान्तवाद—समन्वयवादी युग एव ३ तर्क-युग।

मोक्ष की विचारधारा अतिवादी कर्मकाण्ड की प्रतिक्रिया मे उत्पन्न हुई प्रतीत होती है। वैदिक संस्कृति लौकिक अभ्युदय का सन्देश देती है। हम अपनी ऐहिक उपलब्धियो के लिये प्रयासशील रहते हैं। वैदिक परम्परा ऐश्वर्य, यश और सन्तान की प्राप्ति मे सहयोग देता है। वैदिक ऋषियो ने देवो की स्तुति और शसन द्वारा वित्तैषणा, लोकैषणा और पुत्रैषणा की पूर्ति चाही है। जीवन का लक्ष्य एषणात्रय तक ही सीमित है। उपनिषद्काल मे चिन्तन-क्षेत्र मे क्रान्ति आरम्भ हुई और जीवन को एक नये ही दृष्टिकोण से देखा जाने लगा। पुनर्जन्म और परलोक की व्यवस्था चिन्तन-क्षेत्र के भीतर समाविष्ट हुई। उपनिषद् के वेत्ता जनक आदि ने अध्यात्म-तत्त्वो की मीमासा की। इस ज्ञान-क्षेत्र मे श्रमणो की परम्परा विशेष योगदान देती हुई परिलक्षित होती है। मोक्षका अर्थ है—भीतर के पूर्णत्व को प्रकट करना। उपनिषद् मे अद्वैतवादी परम्परा भी पूर्णत्वको प्रतिष्ठा करती है, जैन-दर्शन मे भी समस्त कर्मोंका अभाव होने पर आत्माकी शक्तियो के पूर्ण विकास को मोक्ष कहा है। यह परम्परा एक गहरे अर्थ मे मानवतावादी है।

विभिन्न दार्शनिकों ने मोक्ष स्वरूप की मान्यता विभिन्न प्रकार से ही स्वीकार की है। मैं यहाँ इस मान्यता-भेद की चर्चा न कर मूल-सिद्धान्तों के सम्बन्ध में ही चर्चा करूँगा।

जैन-दर्शन मानवतावादी है। यह मनुष्य को ही महत्त्व देता है, ईश्वर को नहीं। सर्वाङ्गीण विकास के लिये व्यक्ति उत्तरदायी है। वह अपने पुरुषार्थ और प्रयत्नों से अपने अच्छे गुणों का विकास कर सकता है। उसे अपने विकास और ह्रास के लिये अन्य किसी अवलम्बन की आवश्यकता नहीं है।

अनेकान्तवाद जैन-दर्शन का प्रमुख, समन्वयवादी सिद्धान्त है। एक उदाहरण—कुछ दार्शनिक ज्ञानमात्र को स्वतः प्रमाण मानते है, कुछ परतः प्रमाण। अपने ग्रन्थ 'प्रमाणमीमांसा' में हेमचन्द्र कहते हैं—चूँकि कुछ ज्ञान-प्रकार स्वतः प्रमाण होते हैं, कुछ परतः प्रमाण।

तृतीय तर्क-युग मे ज्ञान-मीमांसा और प्रमाण-मीमांसा के अन्तर्गत तर्क ने प्रवेश पाया। भारत के सभी दार्शनिकों ने ज्ञान और प्रमाण की मीमांसा प्रस्तुत की है। जैन-दर्शन की ज्ञान-मीमांसा और प्रमाण-मीमांसा प्रायः इतर भारतीय दर्शनों से मिलती-जुलती है। जैन तार्किकों ने कैवल्य की चर्चा की है। यह चर्चा अन्यत्र भी पाई जाती है। प्रमाण के क्षेत्र मे अनुमान और उसके अवयवों पर जैन-दार्शनिकों ने सामान्यतः अन्य मनीषियो के समान ही विचार किया है।

जैन-दर्शन सृष्टि की उत्पत्ति और प्रलय नहीं मानता है और न वह स्रष्टा ईश्वर की कल्पना ही करता है। गुरुडम और अन्धविश्वासों में एक अन्धविश्वास ईश्वर का सृष्टिकर्तृत्व भी है। मनुष्य अपने विकास का सारा दायित्व ईश्वर पर छोड़ देता है और स्वयं अकर्मण्य बन जाता है। ईश्वर की कल्पना का कारण भय और अज्ञान है। जहाँ मनुष्य की बुद्धि पंगु हो जाती है वहाँ वह ईश्वर को ले आता है। जिस बात को हम नहीं जानते, हम कहने लगते है कि "भगवान् जाने।" अतः मनुष्य की अज्ञानमयी प्रवृत्ति भी ईश्वर की कल्पना का कारण है। हम भय से रक्षा प्राप्त करने के लिये एक संबल, एक सहारा खोजते हैं। मनुष्य ने भय-रक्षा के लिये एक ऐसा सबल सहायक कल्पित किया, जो दिव्य-शक्ति परिपूर्ण है। अतः भय की प्रवृत्ति ने ईश्वर को जन्म दिया है। ईश्वर-उत्पत्ति का एक अन्य कारण मनुष्य की कल्पनाशीलता भी है। मनुष्य ने अपनी कल्पना से ऐसी अनेक वस्तुएँ निर्मित की है, जो अप्रत्यक्ष है। प्राचीन भारत में दार्शनिकों ने अनेक विराट् वस्तुओं को कल्पना-द्वारा गढ़ा, फलतः ईश्वर, अमरत्व जैसे शब्द गढ़े गए। तथ्य यह है कि प्राचीन भारत के मनीषी बड़े क्रियाशील थे, वे अपनी कर्मठता से विराट् वस्तुओं के सम्बन्ध में विभिन्न प्रकार की धारणाएँ और व्यवस्थाएँ प्रस्तुत करते थे। यही कारण है कि अवतारवाद और जगत्-व्यवस्था के सम्बन्ध में मनोरंजक तथ्य उपस्थित किये गये है। जैन-दार्शनिकों ने अनेक रूढ़ियाँ तो स्वीकार की हैं। पर सृष्टि के सम्बन्ध में स्वतन्त्र रूप से विचार किया है। मुक्ति के सम्बन्ध में संसार त्याग और संन्यास की चर्चा मेरी समझ से बहुत उचित नहीं है। मैं जीवन्मुक्ति की धारणा को अधिक महत्त्व-पूर्ण समझता हूँ। व्यक्ति कर्म करता हुआ मोक्ष प्राप्त करे, यह जीने की कला का सुन्दर रूप हो सकता है। स्थितप्रज्ञता कर्मठता के साथ ही शोभित होती है। अकर्मण्यतापूर्ण संन्यासी जीवन मुझे रुचिकर नहीं है। वस्तुतः भारतीय दार्शनिक सफल लोक-जीवन के सम्बन्ध में कम सोचते हैं। विधि-निषेध परक सिद्धान्तों के आधार पर जीवन की मान्यताएँ स्थापित करते है, पर प्रज्ञाशील आधुनिक विचारक पुरानी मान्यताओं को ज्यों-के-त्यों रूप में स्वीकार करने को तैयार नहीं हैं।

आज समस्त चिन्तनशील मनीषियों को इस बात की आवश्यकता है कि जीवन-मूल्यों के सम्बन्ध में पुनर्विचार किया जाय और लौकिक और आध्यात्मिक लक्ष्यों के सम्बन्ध में नये समन्वयात्मक प्रयत्न किये जाँय। कोई भी प्रतिभाशाली जाति केवल पुरानी विचारधाराओं का ही अनुसरण नहीं करती, वह नये मूल्यों का अन्वेषण और नया चिन्तन भी प्रसूत करती है।

जैन-दार्शनिकों का भी यह दायित्व है कि वे पुरानी मान्यताओं के साथ जीवन की नई समस्याओं और जीवन के नये मूल्यों को आज की आवश्यकताओं के अनुरूप स्थापित करें। मोक्ष और उसकी साधना इतना ही जीवन का लक्ष्य नहीं होना चाहिए। हमारा लौकिक-जीवन कर्मठ, क्रियाशील और जागरूक बन सके, इसके लिये भी बुद्धि-सम्मत चिन्तन की आवश्यकता है। मात्र पारलौकिक या आध्यात्मिक चिन्तन से हमारा हित नहीं हो सकता है। कैवल्य या निर्वाण सभी प्राप्त नहीं कर सकते। अतएव व्यावहारिक जीवन के मानों की स्थापना भी दार्शनिकों को करनी चाहिए। पुरानी दर्शन को मान्यताओं को और आगे दूर तक ले जाने की आवश्यकता है। जीना एक कला है, यह कला विभिन्न जीवन-मूल्यों का समूह है। अतएव दार्शनिकों को दर्शन के आलोक में नये रूप से जीवन-समस्याओं का पुनर्मूल्यांकन करने की चेष्टा करनी चाहिये।



दर्शन और आचार संगोष्ठी

का

संयोजकीय भाषण

श्री दरबारीलाल कोठिया

यह हर्ष की बात है कि आरा नगर में एक वर्ष बाद पुनः ज्ञान-गोष्ठियो का आयोजन हो रहा है। गत वर्ष इसी स्थान पर जैन सिद्धान्त भवन की हीरक-जयन्ती का चिरस्मरणीय समारोह सम्पन्न हुआ था। उस समय भी विभिन्न गोष्ठियों का आयोजन किया गया था और समागत विद्वानों ने अपने शोध-पूर्ण निबन्धों के पाठ द्वारा ज्ञान की नई विधाओं का प्रदर्शन किया था। इस वर्ष भी आरा-नगर के उत्साही एवं ज्ञानोपासक बन्धुओं द्वारा इस ज्ञान-यज्ञ का अनुष्ठान किया जा रहा है। भारतीय जैन साहित्य संसद् के, जिसकी स्थापना अभी कुछ ही समय पूर्व हुई, प्रथम अधिवेशन का निमंत्रण देकर और उस प्रसंग से अनेक विद्वानों को उक्त ज्ञान-यज्ञ में भाग लेने के लिए आमंत्रित करके उन्होंने निश्चय ही अनुकरणीय एवं सराहनीय कार्य किया है।

इससे पहले साहित्य और कला संगोष्ठी हो चुकी है, जिसमें अनेक विद्वानों ने भाग लेकर उसे सफल बनाया है। अब दर्शन और आचार संगोष्ठी होने जा रही है। इस संगोष्ठी में भी अनेक विद्वान् भाग ले रहे हैं और वे अपने महत्त्वपूर्ण निबन्धों का पाठ करेंगे। आज की गोष्ठी के अध्यक्ष डा० देवराज और उद्घाटयिता श्री माधव हैं, दोनों ही दर्शन-शास्त्र के अधिकारी और गम्भीर चिन्तक विद्वान् हैं। यह संगोष्ठी का सरभाग्य है कि उसे इन विद्वानों के विचार सुनने का सुअवसर प्राप्त होगा।

जहाँ तक दर्शन और आचार संगोष्ठी का सीमा-क्षेत्र है वह व्यापक और विशाल होते हुए भी उसे जैन तक सीमित इसलिए रखा गया है, ताकि सुविधा के साथ जैन विचारों और आचारों की हम मीमांसा कर सकें और यह जान सकें कि जैन दर्शन और जैन आचार की भारतीय दर्शन तथा आचार को क्या देन है एवं उनका उनके लिए क्या योग-दान है?

विचार के क्षेत्र में जैन दर्शन ने **'अनेकान्तवाद'** और **'स्याद्वाद'** इन दो मौलिक सिद्धान्तों की स्थापना की है। विश्व का अणु-अणु अनुकूल-प्रतिकूल, विरोधी-अविरोधी, इष्ट-अनिष्ट आदि अवस्थाओं से समवेत है। जो पानी प्यासे की प्यास को बुझाता है वही पानी कण्ठ में अटक जाने या गुटका लग जाने पर प्राण-घातक भी है। वह खेतों की सिंचाई करके उन्हें हरा-भरा बना देता है और वही बाढ़ के रूप में खेतों का ही नहीं, पशुओं और मनुष्यों तक को भी बर्बाद कर देता है। अग्नि की दाहकता और पाचकता से कोई अपरिचित नहीं है। इस तरह सारा विश्व अनेकान्तमय है। कौन दृष्टि से वह अनुकूल है और कौन दृष्टि से वह प्रतिकूल, आदि विचार **'स्याद्वाद'** द्वारा होता है। विभिन्न दृष्टिकोणों का एकत्र समवाय का नाम **'स्याद्वाद'** है। हम पूरी वस्तु को एक दृष्टिकोण से पूर्ण नहीं कह सकते। उसे पूर्ण बतलाने के लिए हमें विभिन्न दृष्टिकोणों का सहारा लेना ही पड़ेगा। शब्द और संकेत हमेशा अधूरी वस्तु को ही बतलाते हैं। अतः वक्ता जब किसी वस्तु के बारे में

निर्देश करता है तो वह अपने अभिप्राय से उसका निर्देशन करता है। अन्य अभिप्राय से वह अन्य प्रकार की भी संभव है। इस प्रकार '**स्याद्वाद**' सबके अभिप्रायों का आदर करता है और सबसे भी वह अपने एकान्त आग्रहो को छोड़कर सबके अभिप्रायों का आदर करने की प्रेरणा करता है। '**स्याद्वाद**' से मानस अहिंसा (क्रोध, घृणा, आदि मानस-विकारों का अभाव) का असाधारण पालन होता है। अथवा, यों कहना चाहिए कि '**स्याद्वाद**' हमें समन्वय, सह-अस्तित्व, विचार-सहिष्णुता और अहिंसात्मक सत्य के अनुसरण के लिए प्रेरणा देता है। जैन दर्शन के ये दोनों अमूल्य सिद्धान्त—**अनेकान्त और स्याद्वाद**—चिन्तकों के तत्त्वचिन्तन में निश्चय ही योगदान करते हैं। इन दोनो सिद्धान्तो को स्पष्ट करने के लिए जैन दर्शन मे '**सप्तभंगी**' और '**नय**' का भी विचार प्रस्तुत किया गया है, जो जैन दर्शन की उपलब्धियाँ मानी जा सकती है। जैन दार्शनिको ने इन सबका बड़ा सूक्ष्म विवेचन किया है और उनकी कितनी उपयोगिता है, यह भी उन्होने स्पष्ट किया है।

आचार के क्षेत्र में जैन दर्शन ने अहिंसा के गूढ एवं सूक्ष्म रहस्य का उद्घाटन किया है। कायिक अहिसा से ऊँचे उठकर वाचिक और मानसिक अहिंसा के पालन पर बहुत बल दिया गया है। कितनी ही यातना सहना पड़े, पर क्रोध न आये, दूषित अभिप्राय मन मे न आने पाये, प्रतिक्रिया का भाव न जगे, तभी वह पूर्ण अहिंसा कही गई है। केवल जीव के मर जाने को हिंसा और उसकी रक्षा का नाम अहिंसा नही है। जैन साधु यत्नाचार से जा रहा है और उसके पैरो के नीचे कोई जीव आकर मर जाता है तो वह उसका हिंसक नही माना गया है, क्योकि उसके मन में उस जीव को मारने का न विचार है और न प्रयत्न। अतः उसे अहिंसक बताया गया है। साथ ही जैन विचारको ने अहिंसा पर विचार करते समय यह भी कहा है कि कोई आततायी देश पर, धर्म पर आक्रमण करता है तो चुपचाप उसे सहा न जाय। उसका सम्पूर्ण शक्ति के साथ प्रतिवाद किया जाय, चाहे उसमें कितनी ही हिंसा हो, वह आत्म-रक्षा की दृष्टि से हिंसक नही है, अहिंसक ही है, क्योकि वह आक्रान्ता नही है, उसका मानस दूषित नही है। इस तरह जैन साधु और जैन गृहस्थ अपनी सीमाओ में अहिंसा का पूर्णतया पालन करते है। हमारा ख्याल है कि जैन सन्त-विचारकों का आचार के क्षेत्र में यह शोभनतम विचार है और गहराई से उन्होने उसके रहस्य का अन्वेषण किया तथा जीवन मे उसे उतारा है। सत्य, अचौर्य, शील और अपरिग्रह ये सब उसी अहिंसक आचार की उसी प्रकार संरक्षिका सद्वृत्तियाँ है जिस प्रकार धान्य से पूर्ण खेत की रक्षिका बाढ़ होती है। जैन चिन्तकों ने इसी दिशा में अपने समग्र साहित्य का सृजन किया है। उनका मूल उद्देश्य किसी भी साहित्य को रचते समय यथार्थ ज्ञान होने और अहिंसा का पालन करने की प्रेरणा देने का रहा है।

हमे आशा है दर्शन और आचार गोष्ठी में समवेत विद्वान् अपने महत्त्वपूर्ण निबन्धों द्वारा जैन दर्शन और आचार की उपलब्धियाँ प्रस्तुत करके हमें लाभान्वित करेंगे।

अन्त में संयोजकीय भाषण समाप्त करते हुए हम अपने इन सभी मान्य विद्वानों का हार्दिक स्वागत करते हैं।

आरा,

६ जनवरी १९६५ ई०।



भारतीय जैन साहित्य संसद के

प्रथम अधिवेशन पर

साहित्य और कला

तथा

दर्शन और आचार

संगोष्ठियों में

विद्वानों द्वारा

पठित

निबन्ध

•

आदिकाल और सन्तकाव्य की पृष्ठभूमि में

हिन्दी का जैन साहित्य

प्रो० गदाधर सिंह, एम० ए०

[हिन्दी के आदिकाल की कहानी जैन कवियों की कहानी है। वीरत्व के अतिरिक्त उन्होंने परम्परा से जकड़े हुए आसक्ति पूर्ण मानव-मन को स्वस्थ नैतिकता के खुले वातावरण में साँस लेने की प्रेरणा दी। उनके अनुसार भोगों का बहिष्कार नहीं, उनका सम्यक् नियोजन होना चाहिए। भोगों की सार्थकता उनके त्याग में है। संक्षेप में कह सकते हैं, कि शृङ्गार की पंकिल भूमि से ऊपर उठकर शान्त की मधुमती भूमिका में आत्मा को प्रतिष्ठित करना ही जैन कवियों का लक्ष्य रहा है।]

ब्राह्मण, बौद्ध और जैन—भारतीय संस्कृति के महासमुद्र में समाहित होनेवाली इन तीन स्रोतस्विनियों का सम्यक् अवगाहन किये बिना हिमालय से लेकर दक्षिण समुद्र तक फैले हुए इस विशाल जन-मानस की अन्तश्चेतनाओं का साक्षात्कार कथमपि सम्भव नहीं है। यह हमारा दुर्भाग्य रहा है कि जहाँ बौद्ध और ब्राह्मण-साहित्य के मर्म उद्घाटन की तरफ हम सतर्क रहे हैं, वहाँ जैन साहित्य के सामान्य पचरिय के प्रति भी हमारी वृत्ति उदासीनता की रही है। हिन्दी साहित्य के इतिहास-लेखकों ने इस साहित्य के प्रति सदा उपेक्षा का भाव रखा; क्योंकि उनकी दृष्टि में :—

(क) जैन-साहित्य में ज्ञान-योग की साधना है, भाव-योग की नहीं।

(ख) यह साम्प्रदायिक साहित्य है, सार्वभौम साहित्य नहीं।

(ग) इसमे विषय-विस्तार नहीं, दृष्टि का एकांगीपन है।

(घ) इसका महत्त्व भाषा की दृष्टि से है, साहित्य की दृष्टि से नहीं।[1]

आचार्य शुक्ल का उपर्युक्त मत नवीन तथ्यों के प्रकाश में भ्रान्तिपूर्ण एवं महत्वहीन सिद्ध हो चुका है।

हिन्दी के आदिकाल की कहानी जैन कवियों की कहानी है। यों तो दसवीं शताब्दी से हिन्दी का वर्तमान रूप स्पष्ट होने लगता है, किन्तु वस्तुतः वह उसके ४०० वर्ष पीछे है। आचार्य हेमचन्द्र ने अपभ्रंश और देशभाषा को अलग-अलग बतलाया था। इस दृष्टिकोण को ध्यान में रखकर स्वयम्भू (वि० ६वीं), पुष्पदन्त (वि० १०२९) आदि के ग्रन्थों को हिन्दी के ग्रन्थों में नही गिना

१. "उनकी रचनाओं का जीवन की स्वाभाविक सरणिओं, अनुभूतियों और दशाओं से कोई सम्बन्ध नहीं। वे साम्प्रदायिक शिक्षा मात्र हैं। अतः शुद्ध साहित्य की कोटि में नहीं आ सकतीं। उनको रचनाओं की परम्परा को हम काव्य या साहित्य की कोई धारा नहीं कह सकते।"—रामचन्द्र शुक्ल।

जाता था, किन्तु राहुल जी ने इन्हें हिन्दी के कवियों में स्थान दिया और हिन्दी को काल-सीमा को बहुत पीछे खींचकर ले गये। चतुर्भुज, स्वयम्भू, पुष्पदन्त के अतिरिक्त एक ईशान भी है, जिनकी रचनाएँ अभी प्रकाश में नहीं आयी हैं। स्वयम्भू ने अपने 'पउमचरिउ' और 'रिट्ठनेमिचरिउ' में अपने पूर्ववर्ती कवियों के साथ ईशान का भी स्मरण किया है। पुष्पदन्त ने अपने पुराण में नम्रता प्रकट करते हुए कहा है कि उन्होंने न तो चतुर्मुख, स्वयम्भू और श्रीहर्ष को ही देखा है और न ईशान की रचनाओं का ही आस्वादन किया है। बाणभट्ट ने उन्हें अपना मित्र तथा भाषा का कवि बतलाया है (भाषाकविरीशानः परं मित्रम्) इन उल्लेखों से यह स्पष्ट है कि ईशान भाषा के महान् कवि थे। यद्यपि इसके पीछे कोई बहुत बड़ा प्रामाणिक आधार नहीं है किन्तु मेरा अनुमान है कि ईशान जैन धर्मावलम्बी थे। उस काल में जिन लोगों ने देशभाषा में रचनाएँ प्रस्तुत कीं, वे परम्परा के प्रति विद्रोह करने वाले जैन, बौद्ध या नाथपंथी थे। दसवीं शताब्दी के पूर्व किसी भी ब्राह्मण-धर्मी ने देशभाषा में रचना करने का साहस प्रदर्शित किया हो, ऐसा ज्ञात नहीं है। यों तो स्वयम्भू या पुष्पदन्त आदि जैन कवियों ने श्रीहर्ष का भी नाम लिया है किन्तु ईशान के प्रति उनकी भक्ति-भावना अत्यधिक सुदृढ़ है। सभी जैन-कवियों ने अपने पूर्ववर्ती स्वधर्मी कवियों का बड़ी ही श्रद्धा से स्मरण किया है। विक्रम सं० ८४० में रचित संस्कृत 'हरिवंशपुराण' के रचयिता श्री जिनसेनाचार्य ने अपने पूर्ववर्ती समन्तभद्र, सिद्धसेन, देवनन्दी, रविषेण आदि जैन कवियों का नाम स्मरण करते हुए उनको बड़ी प्रशंसा की है। स्वयं गोस्वामीजी ने 'सादर हरिचरित बखाननेवाले' व्यास और वाल्मीकि के प्रति श्रद्धा के फूल निवेदित किये है। यह आश्चर्य जैसा लगता है कि जिस प्रदेश मे महावीर की शिक्षा का उद्भव हुआ हो, उस प्रदेश में जैन धर्म के कवि न रहे हों। निःसन्देह लोक-प्रचलित भाषा मे रचना करनेवाले जैन कवि महावीर की भूमि में अवश्य होंगे, किन्तु आज उनकी देशभाषा की रचनाएँ प्राप्य नही है। ईशान ऐसे ही कवि हैं। बौद्ध-सिद्धों की तरह जब इनकी भी रचनाओं का उद्धार होगा तो हिन्दी के स्वरूप पर नया प्रकाश पड़ेगा और तब हिन्दी की काल-रेखा दो-सौ वर्ष और पीछे चली जायगी। ईशान का समय ईसा की छठी शताब्दी का अन्तिम चरण या सातवीं शताब्दी का प्रथम चरण है। जन्म स्थान बिहार का गया या शाहाबाद जिला है।

यद्यपि देशभाषा का स्वरूप दसवी शताब्दी के बाद स्पष्ट हुआ किन्तु उसका जन्म बहुत पहले ही हो चुका था। आचार्य देवसेन (वि० सं० ९९०) ने अपने 'सावयधम्मदोहा' में जिस भाषा का प्रयोग किया, वह देशभाषा के बहुत समीप है। उसमें प्रयुक्त धातु रूप विभक्तियाँ सभी देशभाषा की हैं। उनका एक दोहा इस प्रकार है—

> भोगहं करहि पमाणु जिय, इंदिय म करि सदप्प।
> हुंति ण भल्ला पोसिया, दुद्धे काला सप्प॥

[हे जीव! भोगों का भी प्रमाण रख। इन्द्रियों को बहुत अभिमानी मत बना। काले साँप का दूध से पोसना अच्छा नहीं होता]

इनका "दव्वसहावपयास" (द्रव्य-स्वभाव-प्रकाश) पहले दोहाबन्ध में था, जो बाद में माइल्ल धवल द्वारा प्राकृत में कर दिया गया। इसकी भाषा पुरानी हिन्दी थी। यदि इस काल में जन-भाषा प्राकृत रचना का आधार बनने में समर्थ हो सकती थी, तो निश्चित रूप से वह इतनी

उन्नति कर चुकी होगी कि उसमें ग्रन्थ-रचना हो सके। श्रीचन्द का 'कथाकोष' देशभाषा में लिखा गया है। 'श्रुतपंचमीकथा' का निर्माण जिनेन्द्र-भक्ति को सुदृढ़ करने के लिये ही हुआ था। श्री अभयदेवसूरि का "जयतिहुयणस्तोत्र" लोकभाषा में लिखा गया है। यह स्तोत्र ३० गाथाओं में समाप्त हुआ है और इसका रचनाकाल सं० ११११९ है।

इन सब उल्लेखों से स्पष्ट है कि ईशान, स्वयम्भू, पुष्पदन्त या चाहे जो भी हों, हिन्दी के सबसे प्राचीन रूप को जैनों की ही देन कहना अत्यधिक उपयुक्त होगा।

चौदहवी शताब्दी तक हिन्दी की जो रचनाएँ उपलब्ध होती हैं, उनमें दो श्रेणी की रचनाएँ है :—एक प्रामाणिक और दूसरी अप्रामाणिक। प्रामाणिक रचनाएँ वे ही हैं जो या तो बौद्ध सिद्धो कीवाणियाँ है या जैन प्रभावापन्न है। डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी का कहना है कि "मूल मध्यदेश में जहाँ आगे चलकर व्रजभाषा और अवधी का साहित्य विकसित हुआ है, वहाँ किसी प्रामाणिक साहित्यिक रचना का प्रमाण ई० सन् की चौदहवीं शताब्दी मे पहले का नहीं मिलता।"[1]

साहित्यिक प्रवृत्ति को क्षेत्र-विशेष की सीमा में आबद्ध कर देना बहुत अच्छा नहीं होता। कारण-विशेष मे किसी स्थान की रचना सुरक्षित नहीं हो पाये, यह एक बात है और कोई प्रामाणिक साहित्य रचा ही नहो जाय, यह बिल्कुल दूसरी बात है। इन स्थानों में सूर और तुलसी की काव्य प्रवृत्तियो को प्रेरणा देनेवाली कृतियों की रचनाएँ अवश्य हुई होंगी, किन्तु क्रूर काल के थपेड़ो में वे सुरक्षित नही रह पायी। मिथिला और व्रज के अथवा राजस्थान और गुजरात के कवि दो भिन्न आकाश के नीचे खड़े होंगे, यह कहना विश्वसनीय नही लगता। ईसा की तेरहवीं शताब्दी में उत्पन्न हरिब्रह्म, चौदहवी के उमापति, अमृतकर, गणपति ठाकुर, ज्योतिरीश्वर ठाकुर आदि मैथिल कवियों में सूरदास का पूर्वरूप खोजा जा सकता है। इसी प्रकार की बात तुलसी तथा अन्य प्रदेशों के कवियों के सम्बन्ध में कही जा सकती हैं। अनादिकाल से सम्पूर्ण भारत समान संस्कृति की भाव-लहरी से व्याप्त रहा है। महावीर की अहिंसा की लहर भारत के पूर्वी प्रदेश मे उठी, किन्तु उसका सर्वाधिक प्रभाव गुजरात और वीर-प्रसू भूमि राजस्थान में रहा। "पूर्वी प्रदेशों में बसे हुए आर्य पश्चिमी प्रदेशों में बसे हुए आर्यों से भिन्न प्रकृति के है।"[2] डा० द्विवेदी का यह मन्तव्य जातीय तथा क्षेत्रीय धारणाओ पर आधारित होने के कारण मान्य नही हो सकता। इसी प्रकार यह कहना भी तर्क-सम्मत नही है कि पूर्वी प्रदेशों में रचा जानेवाला साहित्य रूढि-विरोधी है और पश्चिमी प्रदेशों में रचित साहित्य रुढिबद्ध है। पश्चिमी प्रदेशो में रचित जैनों के साहित्यको किसी भी रूप में रूढ़िबद्ध काव्य नहीं कहा जा सकता। रूढ़ियो का विरोध करने में मुनि रामसिंह और जोइन्दु उतने ही उत्साही हैं, जितने बौद्ध सिद्ध। पुरुषों के अत्याचारों से कराहती नारी की चेतना स्वयम्भू के काव्य में जिस रूप से प्रकट हुई, उससे चमत्कृत होकर राहुलजी को कहना पड़ा कि तुलसी ने स्वम्यभू की सीता की एकाध किरण भी अपनी सीता में क्यों नही डाल दी? ब्राह्मणों द्वारा स्थापित रूढ़ियों के विरोध में और उनके पौराणिक पात्रों के मानवीकरण में जैन कवियों ने जिस साहस और नवीन दृष्टि का परिचय दिया, वह उनके लिये कम गौरव की बात नही है। हिन्दी के आदिकाल की एक नवीन कृति प्रकाश में आयी है—आणंदा, जिसके स्वतंत्र चिन्तन का गम्भीर स्वर आगे चलकर सिर्फ कबीर में ही सुनाई पड़ा, अन्यत्र नही। पश्चिमी अपभ्रंश को जैनों की भाषा

१. हिन्दी साहित्य। २. हिन्दी साहित्य।

कहा जाता है, किन्तु जैन रचयिताओं ने लोक-परम्परा में बहती हुई आनेवाली लोकभाषा में भी साहित्य का सृजन किया। 'आणंदा' इसी प्रकार की कृति है। नवीन अनुसन्धानों के आधार पर ऐसे अनेक रास-ग्रन्थों का परिचय प्राप्त हुआ है जो पूर्णतया प्रामाणिक हैं तथा जिनका रचनाकाल "बीसलदेव रासो" से भी पहले है। रास-परम्परा में जो सबसे पहला प्रामाणिक ग्रन्थ प्राप्त है, वह है श्रीशालिभद्र सूरि रचित "भरतेश्वरबाहुबलिरास"। इसका रचनाकाल ११८४ ई० है। श्री अगरचन्द नाहटा ने इससे भी प्राचीन श्री वज्रसेनसूरि रचित "भरतेश्वरबाहुबलीघोर" नामक रास का उल्लेख किया है। कवि आसगु रचित 'चंदनबालारास' (सं० १२५७) तथा 'स्थूलभद्ररास' (वि० सं० १२७८), श्री विजयदेवसूरि रचित 'रेवन्तगिरिरास' (सं० १२८८), नेमिनाथरास (सं० १२७०), इत्यादि ग्रन्थ साहित्य की महत्त्वपूर्ण कृतियां है। इन ग्रन्थों की प्रामाणिकता और साहित्यिकता निःसन्दिग्ध है। धर्म का आधार लेने से ही किसी ग्रन्थ को साहित्य की कोटि से निष्काषित करने देने पर दक्ष-यज्ञ-विध्वंस की लीला देखने को मिलती है। दर्प का वह स्वर, जो हेमचन्द्र के व्याकरण में सुनाई पड़ा था, अद्यावधि जैन आचार्यों द्वारा प्रणीत इन रास-ग्रन्थों में भी सुनाई पड़ेगा।--

> परह आस किणि कारण कीजइ
> साहस सइंवर सिद्धि वरीजइ।
> हीउं अनइ हाथ हत्थीयार
> एह जि वीर तणउ वदिवार।। --भरतेश्वरबाहुबलिरास।

[दूसरे की आशा क्यों की जाय? साहस से स्वयं ही सिद्धि को वरण करना चाहिए। पास में दृढ़ हृदय और हाथ में हथियार ही तो वीरों का परिवार होता है।]

वीरत्व के अतिरिक्त इन ग्रन्थों ने परम्परा से जकड़े हुए आसक्तिपूर्ण मानव-मन को स्वस्थ नैतिकता के खुले वातावरण में सांस लेने की प्रेरणा दी। भोगों का बहिष्कार नहीं, उनका सम्यक् नियोजन होना चाहिए। भोगों की सार्थकता उनके त्याग में है। शृङ्गार की पंकिल भूमि से ऊपर उठकर शान्त की मधुमती भूमिका में आत्मा को प्रतिष्ठित करना ही इन जैन कवियों का लक्ष्य है।

प्रेम-काव्य--हिन्दी के मध्यकाल में नवीन विचारों की जो धारा दक्षिण-समुद्र से उत्तर के हिमालय तक प्रवाहित हुई, उसने यहाँ की परिस्थितियों के अनुरूप अपने को कई रूपों में प्रकट किया। आचार्य शुक्ल ने उसे 'निर्गुण' तथा 'सगुण' दो शाखाओं में विभक्त किया। उन्होंने पुनः निर्गुण का विभाजन 'प्रेमाश्रयी' और 'ज्ञानाश्रयी' में तथा सगुण का 'रामाश्रयी' तथा 'कृष्णाश्रयी' में किया। शुक्ल जी के इस विभाजन को प्रायः सभी इतिहास-लेखकों ने स्वीकार कर लिया है। यह आश्चर्य की बात है कि उन्होंने अर्हन्त-भक्ति से सम्बन्धित उस विशाल साहित्य को, जो परिमाण और मूल्य दोनों ही दृष्टियों से काफी महत्वपूर्ण है, इस विभाजन के अन्तर्गत यह कहकर स्थान नहीं दिया कि इनकी रचनाओं की परम्परा को हम काव्य या साहित्य की कोई धारा नहीं कह सकते। जैन-भक्ति की अखण्ड परम्परा १८वीं शती तक वर्तमान रही है और उसने भारतीय अन्तश्चेतना को सुदृढ़ तथा जागरूक बनाये रखने का अनवरत प्रयास किया है।

लोक-प्रचलित कथाओं का आश्रय लेकर उपदेश देने की प्रथा इस देश में पुरानी है। ऐसी कथाओं का बृहत् संग्रह "कथा सरित्सागर" है। कथाओं के माध्यम से राजनीति की शिक्षा

'पंचतन्त्र' में भी दी जा चुकी थी। इस प्रणाली का धर्म के क्षेत्र में भी प्रयोग हुआ और आशातीत सफलता मिली। इस प्रणाली को जैन-संतों ने चरम सीमा पर पहुँचा दिया। धार्मिक उद्देश्य से प्रेरित होकर राग को विराग में, शृंगार को शान्त में तथा जगत की जड़ता को आत्मा की चेतनता में परिवर्तित करते हुए मानव-जीवन के मर्म का स्पर्श करनेवाली बड़ी सुन्दर कहानियाँ उन्होंने कही। उन्होंने प्रेम-कहानियाँ भी लिखी, जिनकी प्रबन्ध-शैली, प्रेमतत्व-निरूपण, कथा-परम्परा और सूफियो की प्रेमाख्यान-परम्परा में एक अद्भुत साम्य है। अतः यह कहना कि प्रेम-कथाओं की परम्परा का सूत्रपात सूफियों के द्वारा हुआ है और वे भारत की भूमि में रोपी गयी अरबी कलम हैं, उचित नहीं है।

जैन मुनियों द्वारा रचित प्रेम-कथाओं में जो सबसे प्राचीन प्रेम-कथा अब तक समझी जाती है, वह है पादलिप्तसूरि की 'तरंगवती-कथा'। चित्र-दर्शन के द्वारा इसमें प्रेमोत्पत्ति दिखलायी गयी है। 'नायाधम्म-कहा' में मल्ली की कथा आयी है, जिससे छह राजकुमार प्रेम करते है। 'लीलावती कहा' मे प्रतिष्ठान के राजा सातवाहन तथा सिंहल को राजकुमारी लीलावती का प्रेमाख्यान है। 'विक्कमसेणचरियं' में धनसार सेठ की कन्या सुन्दरी और राजा विक्रम की प्रेम-कथा है। इसमें गुण-श्रवण द्वारा प्रेम की उत्पत्ति दिखलायी गयी है। अपभ्रंश की प्रेम-कथाओं में 'पउमसिरीचरिउ' उल्लेखनीय है। धनपाल की 'भविसयत्तकहा' और जिनहर्षसूरि की 'रयणसेहरनिवकहा' सच्चे अर्थों में प्रेम-कथा और धर्म-कथा दोनों है। ये दोनों ग्रन्थ जायसी के 'पद्मावत' के पूर्वरूप है।

जैनो के पुराण-ग्रन्थो मे भी कुछ प्रेम-कथाएँ मिल जाती हैं। 'उत्तरपुराण' के ७०वें पर्व मे वनमाला की प्रेम-कथा और ७१वें पर्व में उज्जयिनी के राजपुत्र वज्रमुष्टि और उसी नगरी के सेठ की पुत्री मंगी की प्रेम-कहानी दी गयी है। हरिषेण के 'बृहत्कथाकोश' में भी कुछ प्रेम-कथाएँ संगृहीत हैं। निर्युक्ति और भाष्यो में भी एक-से-एक सुन्दर प्रेम-कथाएँ आयी है।

देशी-भाषा मे प्रेम-कथाओ की परम्परा मे जो सबसे पहली कृति मिली है, वह है 'ढोला मारूरादूहा' इसका रचना-काल दसवी शताब्दी के आसपास है। इसमें कछवाहा वंश के राजा नल के पुत्र ढोला और पूगल के राजा की कन्या मारवणी की प्रेम-कथा है। कुछ परिवर्तनो के साथ यह कथा सारे देश में व्याप्त है। आज भी बिहार के सुदूर गाँवों में कथा कहने वाली ऐसी बूढ़ी दादियाँ जीवित हैं जो राजा ढोलन और मरुआ की प्रेम-कहानी को गीतों में गा-गाकर सुनाती है। हाँ, जैसलमेर के रावल को इसका श्रेय अवश्य है कि उन्होंने अपने समय में प्राप्त दोहों को एकत्र करवा कर अपने आश्रित जैन कवि कुशललाभ (सं० १६०७) को कथा-सूत्र मिलाने की प्रेरणा दी।

कुशललाभ की लिखी हुई एक और प्रेम-कथा 'माधवानलकामकन्दलाचउपई' है। माधव तथा कामकन्दला के प्रेम को आधार बनाकर हिन्दी में तीन-चार प्रेम-कथाएँ और लिखी गयी है। कुशललाभ ने सं० १६१७ में कुमार हरिराज के मनोरंजनार्थ ५५३ पद्यों में इस कथा की रचना की। इनकी ये दोनों प्रेमकथाएँ बड़ी लोकप्रिय हुई।

'सदयवत्ससावलिंगा' की प्रेम-कथा भी इसी परम्परा में आती है। अब्दुर्रहमान के 'सन्देश-रासक' में 'नलचरित्र' और महाभारत की कथा के साथ-साथ विनोद पूर्वक 'सदयवच्छ' की कथा सुने जाने का उल्लेख है। जायसी भी इस कथा से परिचित थे और कुछ के अनुसार तो उसकी कुछ घटनाओं का नियोजन भी उन्होंने अपने 'पद्मावत' में किया है। बिहार में 'सारंगा और सदावृक्ष' के नाम से इस कथा का व्यापक प्रचार है। अपने गुजराती तथा राजस्थानी रूप मे यह कथा

जैनधर्म के सिद्धान्तों के अनुकूल है। श्री नाहटा ने एक खरतरगच्छीय जैन कवि मुनि केशव रचित 'सदेवच्छसावलिंगाचौपई' की चर्चा की है, जिसका रचनाकाल सं० १६९७ है।'

जटमल नाहर ने अपना 'प्रेम-विलास' सं० १६१३ में लिखा। यह भी एक प्रेम-कथा है, जिसमें योतनपुर की राजकुमारी प्रेमलता तथा मंत्री-पुत्र प्रेमविलास के प्रेम की कहानी अंकित की गयी है। जटमल की एक और प्रेम-कथा है—'विद्याविलासचउपई।'

छीहल की 'पंचसहेली' भी सिर्फ ६५ दोहों में लिखित एक प्रेम-कथानक है। इसमें पाँच सखियों के विरह का वर्णन है। ये सहेलियाँ पनघट पर स्वयं कवि से वार्तालाप करती है। यह अपने ढंग का अनूठा प्रेमाख्यान है।

जैन कवि दामोदर का 'मदनशतक' प्रेम-कथा के सभी तत्वों से भरपूर होने के कारण महत्व-पूर्ण है। दामोदर ने एक ही कथानक को आधार बनाकर जहाँ 'मदनशतक' नामक प्रेमाख्यान की रचना दोहों में की है, वहाँ 'मदनकुमाररास' के नाम से इसे राजस्थानी में भी लिखा है। 'मदनशतक' में कुशललाभ के अनुकरण पर दोहों के बीच-बीच में गद्य भी दे दिया गया है। इसमें 'समस्याबन्धगुप्तलेख' भी आये है, जो दृष्टिकूटों का स्मरण दिला देते हैं।

जटमल का 'गोराबादलकी बात' (सन् १६१३ ई०), लब्धोदय का 'पदिमनीचरित्र' (सन् १६५० ई) विशेष रूप से इसलिये उल्लेखनीय है कि ये प्रत्यक्ष रूप से जायसी से प्रभावित है।

'पद्मिनीचरित्र' मे नाम में कहीं-कही अन्तर है, जैसे नागमती के बदले प्रभावती है। राघव और चेतन दो पंडित है, जायसी की तरह एक नही इत्यादि। इसमें उन कल्पनाओं से भी बचने का प्रयास है, जो असम्भव है। चूँकि ये रचनाएँ जायसी के बाद लिखी गयी है, इसलिये 'पद्मावत' की कथा के मूल उत्स का इनसे कुछ पता नहीं चलता। इसी प्रसंग से जायसी के 'पद्मावत' के मूल स्रोत पर भी विचार कर लेना कुछ अवांछनीय नही होगा, क्योंकि एक तो यह ग्रंथ प्रेम-कथाओं का शिरमौर है और दूसरी बात यह है कि इसके मूल स्रोत पर विचार करते समय जैन उद्गम की ओर अधिक ध्यान नही दिया गया है।

विक्रम की दसवी शताब्दी के आस-पास की लिखी हुई एक रचना है—धनपाल की 'भविसयत्त-कहा।' विक्रम की १५वी शताब्दी (सं० १४८७) की एक दूसरी रचना है जिनहर्षसूरिरचित 'रयणसेहरनिवकहा'। ऐसा लगता है कि इन दोनों ग्रन्थों को सामने रखकर ही जायसी ने 'पदमावत' का प्रणयन किया है। दूसरी से उन्होंने कथा ली है और पहली से कल्पना। दूसरी के 'रत्नशेखर' ही जायसी के रत्नसेन हैं और रत्नवती ही पद्मावती है। रत्नवती के लिये 'पद्मावती' शब्द भी प्रयुक्त हुआ है (ताव धरणिंदो नाग-राया पउमावई देवी संजुत्ती)। जायसी को यही नाम अच्छा लगा होगा। 'पद्मावत' में पद्मावती के गुण की प्रशंसा राजा सुग्गे के द्वारा सुनता है, प्राकृत-कथा में किन्नर-दम्पत्ति के द्वारा। राजा योगी होकर सिंहलगढ के लिये प्रस्थान करता है। 'पद्मावत' की तरह ही उसकी भेंट रानी से मंदिर मे होती है, पद्मावती का पता लगाने मे मंत्री मतिसागर को अपार कष्ट झेलना पड़ता है। अल्लाउद्दीन के द्वारा पद्मावती के हरण की चेष्टा में जायसी का आधार इतिहास है। इसके मूल मे राघवचेतन की ऐन्द्रजालिक क्रिया है। 'रत्नवती कथा' में भी रानी का ऐन्द्रजालिक अपहरण होता है। 'भविसयत्तकहा' मे भी नायिका का अपहरण नायक के भाई द्वारा होता है। 'पद्मावत' की तरह पशुओं के दाम्पत्य-प्रेम का भी चित्रण इनमें हुआ है।

'भविसयत्तकहा' में वणिक् बन्धुदत्त की समुद्र-यात्रा और रत्नसेन की समुद्र-यात्रा में अत्यधिक साम्य है—भावो में ही नहीं, शब्दों में भी। इसी प्रकार प्रेम, विरह, मिलन, युद्ध आदि का भी वर्णन भी दोनो में समान है। यद्यपि इन जैन-कथाओं का अन्तिम लक्ष्य धर्म-साधन का माहात्म्य बतलाना है किन्तु रसात्मकता की दृष्टि से इनमे कोई कमी नहीं है। अन्तर इतना ही है कि जायसी में 'संकेत' है और इनमें 'रूप' है। जायसी में एक बात अवश्य खटकती है कि नागमती को दुनिया का गोरखधन्धा कहकर भी कवि उसका साहित्यिक परिहार करने में समर्थ नही हो सका। नागमती जैसी रूपवाली स्त्रियाँ सिंहलद्वीप में भले ही पानी भरती हों, किन्तु हृदय तो उसे ही मिला है। हृदय की कोमलता का आभार पाकर नागमती अपने प्रकाश से पद्मावती को भी प्रभाहीन कर देती है। उसके विरह से द्रवित होकर पाठको की गीली आँखें अन्त-अन्त तक नही सूखती। इस लौकिक रस के समक्ष जायसी का सारा अलौकिक ईश्वरोन्मुख प्रेम तुच्छ-सा प्रतीत होता है। 'रयणसेहरिकहा' की आत्मा इस रूप में 'पद्मावत' में वर्तमान है। 'पद्मावत' का अन्त भी शान्त रस परक हुआ है। रत्नसेन की मृत्यु और पद्मिनी के सती होने के पश्चात् कवि ने जगत की नश्वरता की चर्चा की है :—

कहाँ सो रतनसेनि अस राजा
कहाँ सुवा असि बुधि उपराजा
कहाँ सुरूप पदमावती रानी
कोई न रहा जग रही कहानी

जीवन में धर्म या अर्थ ही सब कुछ नही हैं। कभी-कभी ऐसे भी क्षण आते है जब आचार के बन्धनों से तनी हुई मानवी नसें ढीली होकर राह के थके बटोही की तरह कुछ सुस्ताना चाहती है और मानव का मन अपने से बहुत दूर बसी हुई काल्पनिक प्रिया की स्मृति में कुछ उन्मन-उन्मन हो उठता है। जिन वस्तुओं को वह प्रत्यक्ष-जीवन की कठोरता के बीच नही पा सकता उसे वह कथा के लोक मे पाना चाहता है। महान् आदर्शों से परिचालित आत्माएँ भी कभी-कभी विशुद्ध आनन्द की तृषा से आर्त्त होकर पुकार उठती है। ये सब प्रेम-कथाएँ इन्ही मार्मिक क्षणो की मार्मिक उद्भावनाएँ हैं। नदी के प्रवाह की तरह अज्ञात स्रोतो से निकलकर जन-मानस की भूमि को रस-प्लावित करती हुई ये प्रेम-कहानियाँ अनन्त-काल से बहती चली आ रही है और बहती रहेंगी। नदी मे बाँध बाँधकर जिस प्रकार नहरें निकाल ली जाती है, उसी प्रकार इन कथाओं में कुछ ऐतिहासिक तथा काल्पनिक प्रसंगो का पुट देकर अपनी धर्म-भावना के अनुकूल मोड़ लिया गया होगा। शुरू-शुरू में ये कहानियाँ अपने मूल-स्रोत के बहुत समीप रही होंगी, किन्तु कालान्तर में वे इतनी घिस गयीं कि मूल कथा एकदम लुप्त हो गयी और सत्यनारायण-कथा की तरह उनका माहात्म्य ही शेष रह गया। 'पदमावती', 'मृगावती', 'लीलावती' नाम से व्याप्त कहानियाँ इसी प्रकार की हैं। जैन कवियों ने उसी मूल स्रोत से प्रभाव ग्रहण कर अनेक धार्मिक और प्रेम-कथाएँ लिखीं। उन्होंने सूफियों को भी प्रभावित किया और स्वयं प्रभावित भी हुए। यही स्वाभाविक भी है। कथा में 'महत्तम' का 'सामान्य' बनाने की इनकी दृष्टि, संघर्षपूर्ण परिस्थितियों का सामना करते हुए साधना के चरम-बिन्दु पर पहुँचने का इनका प्रयास, प्रेम-प्रसंगों के बीच-बीच में धार्मिक या दार्शनिक सिद्धान्तों का निरूपण तथा कथा के अन्त में शान्त-रस की निष्पत्ति—यह सब कुछ

विलक्षण है, सराहनीय है। अतः इस रूप में सूफी-साहित्य पर इनका ऋण कितना और कैसा है, कहना व्यर्थ है।

सन्त-साहित्य :—हिन्दी-साहित्य में 'सन्त' शब्द सामान्यतः नाथपंथियों तथा उन निर्गुणी सन्तों के लिये प्रयुक्त होता है, जो कबीर, दादू, सुन्दरदास आदि की परम्परा में आते है। जिन विचारों को लेकर ये सन्त आये उनकी पृष्ठभूमि पहले ही निर्मित हो चुकी थी और इनके निर्माण में शैव, शाक्त, बौद्ध, जैन, नाथपंथी सभी का हाथ था। वस्तुतः वह लोक-धर्म था जो कबीर की अक्खड़ वाणी में आगे चलकर प्रकट हुआ।

सन्त-साहित्य के तीन अंग माने गये है:—विवेचन, चेतावनी और खंडन। इनका ईश्वर 'सगुण', 'निर्गुण' से परे होकर भी प्रेम का आधार बना। साधना और प्रेम—यही उसकी प्राप्ति का आधार है। गोरखनाथ ने अपने पंथ के प्रचार में जिस हठयोग का आधार लिया था, वही हठयोग सन्त-मत की साधना का प्रधान अंग हुआ। नाथ-सम्प्रदाय मे योग के महत्व की स्वीकृति की प्रेरणा में कौल-पंथ को माना गया है किन्तु कौलों में जो अभिचार की वृत्ति है, उसकी निन्दा गोरखनाथ ने भी की है। जैन-धर्म भी योग-प्रधान धर्म है। काया को साधकर, इन्द्रियों को अपने अधीन कर केवलज्ञान की प्राप्ति जैन-साधक का अन्तिम लक्ष्य होता है। यह स्वीकार करना तर्क-संगत है कि सिद्धों एवं नाथपंथियो पर पातंजलि के योगशास्त्र तथा कौलों के हठयोग के अतिरिक्त जैनों के योग-सिद्धान्तों का भी प्रभाव पड़ा होगा। गुरु गोरखनाथ ने जिन बारह पंथो का अन्तर्भाव नाथपंथ में किया था उनमें 'पारस' और 'नेमि' पंथ भी थे। सिद्धों के समय में कुछ ऐसे तान्त्रिक जैन-सम्प्रदायों का उल्लेख मिलता है जिनमें योग की प्रधानता थी तथा जिनका वेश-विन्यास कौलों की तरह था। "असंग के 'मध्यान्तानुगमशास्त्र' के चीनी अनुवाद में जिस न-य-कि-मो सम्प्रदाय का उल्लेख है उसे प्रोफेसर उई ने न्याय-शास्त्र बताया है किन्तु कितिस्रग उसमें किसी जैनी तान्त्रिक-सम्प्रदाय का अर्थ लेता है जो निर्ग्रन्थ जैनियो की एक शाखा थी। उसको दो प्रकार की साधनाएँ थी; आठ साधनाएँ, जो श्रुत-ज्ञान से आयी थी तथा आठ साधनाएँ अनुभव-जनित। डा० बरुआ ने आजीविकों के कुछ सम्प्रदायो की तुलना नाथपंथियो से की है और जैन-परम्परा से नाथ-परम्परा का सम्बन्ध जोड़ा है।"[१]

इन्द्रिय-साधन, मन-साधन; प्राण-साधन आदि के द्वारा षट्चक्र-भेदन की प्रक्रिया तथा कुण्डलिनी को जागृत कर अनहद नाद आदि की अनुभूति आदि यौगिक क्रियाएँ नाथपंथी तथा संतो में वर्तमान है। इड़ा तथा पिंगला के मध्य मे प्रवाहित सुषुम्ना के ज्ञान की आवश्यकता कबीर ने बतायी है। हिन्दी के जैन कवि विश्वभूषण में इन यौगिक क्रियाओं के प्रति उन्मुखता का भाव है। कालान्तर में गुह्य साधनों की अधिकता, मानव की स्वाभाविक वृत्तियों के उन्मेष के स्थान पर हठयोग द्वारा अस्वाभाविक तथा आरोपित वृत्तियों की प्रस्थापना तथा लोक-भावना की उपेक्षा के कारण सन्तों ने सहज समाधि तथा चित्त-शुद्धि पर अधिक जोर देना प्रारम्भ किया। कबीर ने "सन्तों सहज समाधि भली" कहकर जहाँ सहज जीवन पर जोर दिया वहाँ जोइन्दु ने चित्त-शुद्धि को सबसे बड़ा तत्त्व बतलाया।

---

१. सिद्ध-साहित्य।

जहिं भावइ तहिं जाइ जिय, जंभा वइ करि तंजि ।
केम्बइ मोक्खरण अत्थि पर, चित्तह सुद्धि ण जंजि ॥—परमात्मप्रकाश ।

[हे जीव ! जहाँ खुशी हो, जाओ और जो इच्छा हो, करो, किन्तु अबतक चित्त शुद्ध नहीं होता, तबतक मोक्ष नहीं मिलने का]

बारहवीं शताब्दी में लिखित 'आणंदा' में शील और संयम पर ही ध्यान देने की बात कही गयी है—

सो अप्पा संजमु सीलु गुणु अप्पउ दंसण णाणु ।
ववतउ संजमु ढेउ गुरु आणंदा जो जिण सासणि सारु ॥

सत्रहवीं शताब्दी में उत्पन्न उदयराज जती ने 'गुण बावनी' में अन्तःकरण को निर्मल बनाने पर जोर दिया। जटा बढ़ाने से क्या होता है, यदि छल और पाखण्ड नहीं छोड़ा। सिर मुड़ाने से क्या लाभ, यदि मन नहीं मूडा। घर छोड़ने से क्या लाभ, यदि आत्मा को नहीं समझ सके।

जटा बधायाँ किमुं जांभ पाखंड न छंडयउ
मस्तक मूड्यां किमुं मन जो माहि न मूडयउ
लूगो किमूं मैले किये जो मन माहि मइलो रहइ
घरबार तज्यां सीधउ किसुं अरण बूझां उठी कहइ

क़बीर मध्ययुग के सबसे बड़े मौलिक विचारक थे। मानव-मानव के बीच वर्तमान विभेद की लक्ष्मणरेखा को लाँघकर उन्होंने जिस सामाजिक एवं आध्यात्मिक साम्यवाद की विचार-सरणि उपस्थित की, उनकी भाषा सम्पूर्ण मध्ययुग के साहित्य में विलक्षण है। रामानन्द जैसे स्वतंत्र चिन्तक ने भी भक्ति से बाहर सामाजिक मान्यता के रूप में वर्णाश्रम को मान लिया था, किन्तु कबीर ने उसके मूल सिद्धान्त पर ही आघात कर मनुष्य मात्र की समानता का विचार उपस्थित किया। उनका साम्यवाद न तो हीगेलका का द्वन्द्वात्मक आदर्शवाद है और न मार्क्स का 'द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद'। मूर के 'नैतिक आदर्शवादी साम्यवाद' से भी बहु भिन्न है। प्लेटो के 'सामाजिक साम्यवाद' को तो कार्यरूप में परिणत करना ही असम्भव है। कबीर का साम्यवाद इन सबसे ऊँची चीज है। उसमें एक तरफ इस्लाम की व्यावहारिकता तथा दूसरी तरफ, भारतीय अद्वैतवादी दर्शन का सुन्दर समन्वय है। जैनों की सम्यक् दृष्टि का प्रकारान्तर से इस पर काफी प्रभाव है। सोलहवीं शताब्दी में उत्पन्न जैन कवि महात्मा आनन्दघन में मानव-मानव में वर्तमान मूलभूत एकता के दर्शन होते हैं। कबीर से उनमें यही अन्तर है कि जहाँ एक की भाषा झाड़ने और फटकारने वाली है, वहाँ दूसरे की वाणी में कोमलता है, नम्रता है:—

राम कहो, रहमान कहो कोऊ, कान कहो महादेव री।
पारस नाथ कहो, कोई ब्रह्मा, सकल ब्रह्म स्वयमेव री॥
भाजन भेद कहावत नाना, एक मृत्तिका रूप री।
तैसे खण्ड कल्पना रोपित, आप अखण्ड सरूप री॥

सिद्ध, सन्त, नाथ, जैन—सभी ने गुरु की महिमा को मुक्तकंठ से स्वीकार किया है। वस्तुतः साधना का दुरूह मार्ग गुरु के सम्यक् निर्देशन के अभाव में तय नहीं किया जा सकता। इसीसे

कबीर ने गुरु और गोबिन्द में प्रथम को प्राथमिकता दी है। दादू के मत से सत्गुरु के मिलने से मुक्ति का द्वार खुल जाता है और साहब का सहज ही दीदार हो जाता है—'सद्गुरु मिलै तो पाइये, भक्ति, मुक्ति भंडार।' किन्तु गुरु के प्रति सन्तों की ये उक्तियाँ 'ज्ञान' के अंश हैं, भाव के नहीं। श्री कुशललाभ ने अपने पूज्य गुरु आचार्य पूज्यवाहण के स्वागत में जिस भाव-विह्वल पदावली का प्रयोग किया है, वह सम्पूर्ण सन्त-साहित्य के लिये अज्ञेय है, अज्ञात है। सन्तो में तथ्यपरता है, जैनियों में भावपरता।

आव्यों मास असाढ़ झबूके दामिनी रे।
जोवइ जोवइ प्रीयडा वाट सकोमल कामिनी रे।
चातक मधुरइ सादिकि प्रीउ प्रीउ उचरइ रे।
बरसइ घरण बरसात सजल सखइ भाइ रे।
इरण अवसरि श्री पूज्य महामोटा जती रे।
श्रावकना सुख हेत आया जम्बावती रे।
जोवउ अमगुरु रीति प्रतीति वधइ वर्णी रे।
दिक्षा रमणी साथ रमइ मननी रली रे॥

—(ऐतिहासिक जैन काव्य-संग्रह)

आत्मा और परमात्मा के प्रणय की भावात्मक अभिव्यक्ति ही रहस्यवाद के नाम से पुकारी जाती है। आचार्य शुक्ल ने रहस्यवाद की परम्परा को ईरानी खजूर का भारतीय कलम कहा है, किन्तु जयशंकर प्रसाद जैसे कुछ आलोचक इसकी परम्परा को खींचकर वेदों तक ले जाते है। जैन-साहित्य में रहस्यवाद का मूलरूप ई० सन् की प्रथम शताब्दी में लिखित आचार्य कुन्दकुन्द के 'भाव-पाहुड' में दृष्टिगोचर होता है। मुनि रामसिंह के 'दोहापाहुड' तथा जोइन्दु के 'परमात्मप्रकाश' में रहस्यवाद के उस स्वर की ध्वनि सुनाई पड़ती है, जिसकी प्रतिध्वनि आगे चलकर कबीर के साहित्य में सुन पड़ी। यद्यपि जैन-धर्म ज्ञानमूलक है किन्तु हिन्दी का जैन कवि ज्ञान की अपेक्षा भाव पर अधिक जोर देता है। उसका ज्ञान भी प्रेममूलक है, कोरा ज्ञान नहीं। सत्रहवीं शताब्दी में उत्पन्न बनारसीदास, आनन्दघन, विश्वभूषण आदि में भावात्मक रहस्यवाद अपने उत्कृष्टतम रूप में मिलता है। यह कहना कठिन है कि इसके मूल में जैन-परम्परा की प्रेरणा है या कबीर जैसे सन्तों का प्रभाव है। सम्भावना तो यही की जाती है कि सभी के समन्वय ने उनके मानस-तन्तुओं का निर्माण किया होगा। अपने को राम की बहुरिया मानकर कबीर ने जिस दाम्पत्य-भाव की साधना की, उस साधना की ज्योति ने बनारसीदास जैसे सन्तों का मार्ग-दर्शन न किया होगा, यह कैसे कहा जा सकता है, जब कि हम उनके प्रिय और प्रियतम के विरह की घड़ियों में वही तड़पन, वही बेकली, मिलन की वही लालसा और प्रियतम के घर आने पर उल्लसित आनन्द की वही धड़कन पाते हैं। प्रियतम से बिछुड़ जाने पर कबीर की विरहिणी का जिया मछली की तरह तड़पने लगता है :—

तलफै बिनु बालम मोर जिया
दिन नहिं चैन रात नहिं निंदिया
तलफ तलफ कै भोर किया॥

बनारसीदास की विरहिणी भी अपने अलौकिक प्रियतम के विरह में न जाने कब से बेचैन है। वह अपनी बेकली में भी मिलन की साध बनाये हुए है :—

मैं विरहिन पिय के अधीन
यों तलफै ज्यों जल बिनु मीन
मेरे मन का प्यारा जो मिलै
मेरा सहज सनेही जो मिलै ॥—बनारसीविलास।

उसके हृदय में एक ही प्यास है—पिया मिलन की, किन्तु वह निर्मोही न जाने कहाँ बैठा है। विश्वभूषण कहते हैं—

लगु रही मो हिय हो दरसन की, पिया दरसन की आस।
दरसनु काहि न दीजिए ॥

आनन्दघन की विरहिणी दिन-रात मीरा की तरह पिय का पंथ निहारा करती है। उसे डर है कि कहीं उसका प्रियतम उसे भूल न गया हो। प्रियतम के लिये तो उसके समान लाखों हैं, किन्तु उसके लिये तो उसका प्यारा ही सब कुछ है :—

निशिदिन जोऊँ तोरि वाट डो, घेर आओ रे ढोला।
मुज सारिखा तुंज लाख है, मेरे तुहीं अमोला ॥

बनारसीदास की विरहिणी के हृदय में एक ही कामना शेष रह गयी है कि जब उसका प्रियतम घर लौट आवेगा तो वह अपना सर्वस्व उसके चरणों पर निछावर कर देगी :—

जउ देखौं पिउ की उनहार
तन मन सर्वस डारौं वार

सौभाग्य से एक दिन ऐसा आता है कि कबीर और बनारसीदास दोनों की विरहिणियों की साधना पूर्ण हो जाती है और उनके बालम अपनी-अपनी प्रियतमा की पुकार पर घर चले आते हैं। इस मिलन में कितनी अनुभूति, कितनी आनन्दजन्य मनुहार और कितना उल्लास है। कबीर की नायिका अपनी आँखों में आनन्द के आँसू भर कर पुकार उठती है:—

दुलहिनि गावहुँ मंगलाचार।
हम घर आये हो राजा राम भरतार ॥

दुलहिन होने के कारण उसमें लाज का अवगुंठन शेष है किन्तु बनारसीदास की दुलहिन का तन-मन आनन्द के इस सम्भार को संभाल नहीं पाता और लज्जा का आवरण भी अस्तव्यस्त हो जाता है। बालम को देखने के साथ ही आँचल स्वतः खिसक जाता है और रही-सही लाज भी भाग जाती है—

बालम तुहुँ तन चितवति गागर फूटी।
अँचरा इतै फहराय सरम गै छूटी।

जैन-कवियों ने आध्यात्मिक-विवाहों के भी रूपक बाँधे हैं। जीवरूपी दुलहा के साथ मोक्षरूपी रमणी का विवाह होने पर देवताओं के साथ जैन कवि अजयराज पाटणी भी आनन्द में मग्न हो जाते हैं।

उनका 'शिवरमणी का विवाह' रूपक-काव्य इस क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण है। हिन्दी के अनेक जैन-कवियों में सन्तोंकी-सी रूपकात्मक वाणियाँ, अन्योक्तियाँ तथा पहेलियाँ दृष्टिगोचर होती हैं। बनारसीदास का 'रामायण घट माँहि' पद रूपकोक्ति का सर्वोत्कृष्ट उदाहरण है। सन्तों ने अपने रूपकों के उपादान सामान्य-जीवन से लिये हैं। ज्ञान के गूढ़ तत्वों को समझाने के लिये ताना, भरनी, चरखा जैसे ग्रामीण जीवन में प्रयोग होनेवाले उपादानों का आधार उन्होंने लिया है। उसी अनुकरण पर अजयराज पाटणी का 'चरखा चउपई' इस दिशा में एक प्रयोग है। जैन-साहित्य में रूपकों में निबद्ध आध्यात्मिक फागुओं की अनोखी छटा दर्शनीय है। जैसे—

> पिया बिनु कासौं खेलौ होरी।
> आतमराम पिया घर नाही मोकूं होरी कोरी।
> एक बार प्रीतम हम खेलैं उपसम-केसरि घोरी।
> 'द्यानत' वह समया कब पाऊँ सुमति कहै कर जोरी॥

कहीं-कहीं इन जैन कवियो ने अपने दार्शनिक ग्रन्थों से भी रूपको के उपादान ढूँढे हैं, किन्तु उनमें वह सरसता नहीं आ पायी है, जो सामान्य-जीवन से लिये गये उपादानों में है।

इन जैनों, सिद्धो, नाथों, तथा सन्तो की विचार-प्रणाली मे ही नही, वरन् शैली, प्रतीक-योजना तथा उनकी साधना-प्रणाली में प्रयुक्त शब्दों मे भी अद्भुत साम्य है। यह सत्य है कि शून्य, सहज, निरंजन, चन्द्र, सूर्य, शिव आदि शब्दो का सर्वत्र एक ही अर्थ नही है और न काल के बहते हुए प्रवाह में ऐसा होना सम्भव भी है किन्तु उनकी चिन्तन-प्रणालो, विशिष्ट भावधारा, अभिव्यक्ति का ढंग, सबको देखकर ऐसा लगता है कि ये सभी शब्द तथा भाव तत्कालीन समाज की विचार-धारा में ही व्याप्त थे और उनकी परम्परा पुरानी थी। उसी मूल स्रोत मे जैनो, बौद्धो तथा अन्य सभी सम्प्रदायों ने अपने जीवन के तत्त्व ग्रहण किये। इस सम्बन्ध में एक का दूसरे पर प्रभाव दिखाना तर्कशास्त्र को शिर के बल खडा करने जैसा प्रयास है। जन-मानस के अज्ञात स्रोतो से बहकर आनेवाली परम्परा की यह तटिनी आधुनिक हिन्दी के जैन-कवियों के मानस-कूलों से भी टकराई, जिसकी मधुमय अभिव्यक्ति उनके साहित्य में शत-शत रूपों में हुई है।



मानतुङ्ग
डा० नेमिचन्द्र शास्त्री

[······बुद्धि-मार्ग और भगवद्भक्ति मे लीन करने के हेतु जैन कवि मानतुङ्ग ने मयूर और बाण के समान स्तोत्र-काव्य का प्रणयन किया है। इनका भक्तामर-स्तोत्र श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनो ही सम्प्रदायो में समान रूप से समादृत है। भाषा-सौष्ठव एव भाव-गाम्भीर्य की दृष्टि से भारतीय-वाङ्मय में उनका स्थान अद्वितीय है।]

मनुष्य के मन को सासारिक ऐश्वर्यो, भौतिक सुखो एवं ऐन्द्रियिक भोगो से विमुखकर बुद्धिमार्ग और भगवद्भक्ति मे लीन करने के हेतु जैन कवि मानतुग ने मयूर और बाण के समान स्तोत्र-काव्य का प्रणयन किया है। इनका भक्तामर-स्तोत्र श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनो ही सम्प्रदायो म समान रूप से समादृत है। कवि की यह रचना इतनी लोकप्रिय रही है, जिससे इसके प्रत्येक अन्तिम चरण को लेकर समस्यापूर्त्यात्मक स्तोत्र काव्य लिखे जाते रहे हैं। इस स्तोत्र की कई समस्यापूर्तियाँ उपलब्ध है।

आचार्य कवि मानतुग के जीवन वृत्त के सम्बन्ध मे अनेक विरोधी विचार-धाराएँ प्रचलित हैं। भट्टारक सकलचन्द्र के शिष्य ब्रह्मचारीरायमल्ल कृत 'भक्तामरवृत्ति'[1] मे जो कि विक्रम संवत् १६६७ मे समाप्त हुई है, लिखा है कि धाराधीश भोज की राजसभा मे कालिदास, भारवि, माघ आदि कवि रहते थे। मानतुग ने ४८ साकलो को तोडकर जैन धर्म की प्रभावना की तथा राजा भोज को जैन धर्म का श्रद्धालु बनाया। दूसरी कथा भट्टारक विश्वभूषण कृत 'भक्तामरचरित'[2] मे है। इसमे भोज, भर्तृहरि, शुभचन्द्र, कालिदास, धनञ्जय, वररुचि और मानतुंग को समकालीन लिखा है। इसी आख्यान मे द्विसन्धान-महाकाव्य के रचयिता धनञ्जय को मानतुग का शिष्य भी बताया है।

आचार्य प्रभाचन्द्र ने क्रियाकलाप की टीका के अन्तर्गत भक्तामर-स्तोत्र की टीका की उत्थानिका मे लिखा है —

"मानतुङ्गनामक शिताम्बरो महाकवि निर्ग्रन्थाचार्यवर्यैरपनीतमहाव्याधिप्रतिपन्ननिर्ग्रन्थ मार्गो भगवन् किं क्रियतामिति ब्रुवाणो भगवत परमात्मनो गुणगणस्तोत्रं विधीयतामित्यादिष्ट भक्तामर इत्यादि।"

---

१ इसका अनुवाद प० उदयलाल काशलीवाल द्वारा प्रकाशित हो चुका है।

२ यह कथा जैन इतिहास-विशारद स्व० प० नाथूराम जी प्रेमी ने सन् १९१६ मे बम्बई से प्रकाशित भक्तामर-स्तोत्र की भूमिका मे लिखी है।

अर्थात्—मानतुंग श्वेताम्बर महाकवि थे। एक दिगम्बराचार्य ने उनको महाव्याधि से मुक्त कर दिया, इससे उन्होंने दिगम्बरमार्ग ग्रहण कर लिया और पूछा भगवन्! अब मैं क्या करूँ? आचार्य ने आज्ञा दी कि परमात्मा के गुणों का स्तोत्र बनाओ। फलतः आदेशानुसार भक्तामरस्तोत्र का प्रणयन किया गया।

वि० सं० १३३४ के श्वेताम्बराचार्य प्रभाचन्द्रसूरिकृत प्रभावकचरित में मानतुंग के सम्बन्ध में लिखा है[1]:—

ये काशी निवासी धनदेव सेठ के पुत्र थे। पहले इन्होंने एक दिगम्बर मुनि से दीक्षा ली और इनका नाम चारुकीर्त्ति महाकीर्ति रखा गया। अनन्तर एक श्वेताम्बर सम्प्रदाय की अनुयायिनी श्राविका ने उनके कमण्डलु के जल में त्रसजीव बतलाये, जिससे उन्हें दिगम्बर चर्या से विरक्ति हो गयी और जितसिंह नामक श्वेताम्बराचार्य के निकट दीक्षित होकर श्वेताम्बर साधु हो गये और उसी अवस्था में भक्तामर की उन्होंने रचना की।

वि० सं० १३६१ के मेरुतुंगकृत प्रबन्धचिन्तामणि ग्रन्थ मे लिखा है कि मयूर और बाण नामक साला-बहनोई पण्डित थे। वे अपनी विद्वत्ता से एक-दूसरे के साथ स्पर्द्धा करते थे। एक बार बाण पंडित अपनी बहिन से मिलने गया और उसके घर जाकर रात में द्वार पर सो गया। उसकी मानवती बहिन रात में रूठी हुई थी और बहनोई रात भर मनाता रहा। प्रातः होने पर मयूर ने कहा—

"हे तन्वंगी! प्रायः सारी रात बीत चली, चन्द्रमा क्षीण-सा हो रहा है, यह प्रदीप मानो निद्रा के अधीन होकर झूम रहा है और मान की सीमा तो प्रणाम करने तक होती है, अहो! तो भी तुम क्रोध नहीं छोड़ रही हो।"

काव्य के तीन पाद बार-बार सुनकर बाण ने चौथा चरण बना कर कहा—'हे चण्डि! स्तनों के निकटवर्ती होने से तुम्हारा हृदय कठिन हो गया है'—

गतप्राया रात्रिः कृशतनु शशी शीर्यत इव
प्रदीपोऽयं निद्रावशमुपगतो घूर्णित इव।
प्रणामान्तो मानस्त्यजसि न तथापि क्रुधमहो
कुचप्रत्यासत्या हृदयमपि ते चण्डि! कठिनम्[2] ॥

भाई के मुख से चतुर्थ पाद को सुनकर वह लज्जित हो गयी और अभिशाप दिया कि तुम कुष्ठी हो जाओ। बाण पतिव्रता के शाप से तत्काल कुष्ठी हो गया। प्रातःकाल शाल से शरीर ढक कर वह राजसभा में आया। मयूर ने 'वरकोढी'[3] कहकर बाण का स्वागत किया। बाण ने

१. मानतुंगसूरिचरितम्—पृ० ११२-११७—सिंघी ग्रन्थमाला, १९४० ई०।

२. प्रबन्धचिन्तामणि—सिंघी ग्रन्थमाला, सन् १९३३ पृ० ४४। प्रभावकचरित के कथानक में बाण और मयूर को ससुर और दामाद लिखा है। प्रबन्धचिन्तामणि के श्लोक के चतुर्थ चरण में "चण्डि" के स्थान पर "सुभ्रु" पाठ पाया जाता है।

३. 'वरकोढी' प्राकृत पद का पदच्छेद करने पर वरक ओढी—शाल ओढ़कर आये हो तथा अच्छे कुष्ठी बने हो; ये दोनों अर्थ निकलते हैं।

देवताराधन का विचार किया और सूर्य के स्तवन द्वारा कुष्ठरोग से मुक्ति पायी। मयूर ने भी अपने हाथ-पैर काट लिये और चण्डिका की—"मा भैक्षीर्विभ्रमम्"—स्तुति द्वारा अपना शरीर स्वस्थ कर चमत्कार उपस्थित किया।

इन चमत्कारपूर्ण दृश्यों के घटित होने के अनन्तर किसी सम्प्रदाय-विद्वेषी ने राजा से कहा कि यदि जैन धर्मावलम्बियों में कोई ऐसा चमत्कारी हो, तभी जैन यहाँ रहें, अन्यथा उन्हें राज्य से निर्वासित कर दिया जाय। मानतुंग आचार्य को बुलाकर राजा ने कहा—'अपने देवताओं के कुछ चमत्कार दिखलाओ'। वे बोले—हमारे देवता तो वीतरागी हैं, उनके चमत्कार क्या हो सकते है। हाँ, उनके किंकर देवताओं का चमत्कार देखा जा सकता है। इस प्रकार कहकर अपने शरीर को चवालीस हथकड़ियों और बेड़ियों से कसवा कर उस नगर के श्रीयुगादिदेव के मन्दिर के पिछले भाग में बैठ गये। भक्तामर-स्तोत्र की रचना करने से उनकी बेड़ियाँ टूट गयीं और मन्दिर को अपने सम्मुख परिवर्तित कर शासन का प्रभाव दिखलाया[1]।

मानतुंग के सम्बन्ध मे एक इतिवृत्त श्वेताम्बराचार्य गुणाकर का भी उपलब्ध है। उन्होने भक्तामरस्तोत्रवृत्ति में, जिसकी रचना वि० सं० १४२६ में हुई है, प्रभावकचरित के समान ही मयूर और बाण को श्वसुर एवं जामाता बताया है तथा इनके द्वारा रचित सूर्यशतक और चण्डी-शतक का निर्देश किया है। राजा का नाम वृद्धभोज है, जिसकी सभा में मानतुंग उपस्थित हुए थे।

मानतुंग सम्बन्धी इन परस्पर विरोधी आख्यानों के अध्ययन से निम्न लिखित तथ्य उपस्थित होते है :—

(१) मयूर, बाण, कालिदास और माघ आदि प्रसिद्ध कवियों का एकत्र समवाय दिखलाने की प्रथा १० वीं शती से १६ वीं शती तक के साहित्य में उपलब्ध है। बल्लाल कवि विरचित भोज-प्रबन्ध में भी इस प्रकार के अनेक इतिवृत्त हैं।[2]

(२) मानतुंग को श्वेताम्बर आख्यानों में पहले दिगम्बर और पश्चात् श्वेताम्बर माना गया है। इसी परम्परा के आधार पर दिगम्बर लेखकों ने पहले इन्हे श्वेताम्बर और पश्चात् दिगम्बर लिखा है। यह कल्पना सम्प्रदाय-मोह का ही फल है। दिगम्बर और श्वेताम्बर सम्प्रदाय में जब परस्पर कटुता उत्पन्न हो गयी और मान्य आचार्यों को अपनी ओर खींचने लगे तो इस प्रकार के विकृत इतिवृत्तों का साहित्य में प्रविष्ट होना अनिवार्य हो गया।

(३) मानतुंग ने भक्तामरस्तोत्र की रचना की। दोनों सम्प्रदायों ने अपनी-अपनी मान्यता के अनुसार इसे अपनाया। आरम्भ में इस स्तोत्र में ४८ काव्य-पद्य थे। प्रत्येक पद्य में काव्यत्व रहने के कारण ही ४८ पद्यों को ४८ काव्य कहा गया है। इन ४८ पद्यो में से श्वेताम्बर सम्प्रदाय ने अशोकवृक्ष, सिंहासन, छत्र और चमर इन चार प्रातिहार्यों के निरूपक पद्यों को ग्रहण किया तथा दुन्दुभि, पुष्पवृष्टि, भामण्डल और दिव्यध्वनि इन चार प्रातिहार्यों के विवेचक पद्यों को निकालकर इस स्तोत्र में ४४ पद्य ही माने। इधर दिगम्बर सम्प्रदाय की कुछ हस्तलिखित प्रतियों में श्वेताम्बर सम्प्रदाय द्वारा निकाले हुए उक्त चार प्रातिहार्यों के बोधक चार नये पद्य और

१. प्रबन्धचिन्तामणि, सिंघी ग्रंथमाला, १९३३ ई०, पृष्ठ ४४-४५।

जोड़कर पद्यों की संख्या ५२ गढ़ ली गयी।[1] वस्तुतः इस स्तोत्र-काव्य में ४८ ही मूल पद्य है।

(४) स्तोत्र-काव्यों का महत्त्व दिखलाने के लिए उनके साथ चमत्कारपूर्ण आख्यानों की योजना की गयी है। मयूर, पुष्पदन्त, बाण प्रभृति कवियों के स्तोत्रों के पीछे कोई-न-कोई चमत्कार-पूर्ण आख्यान वर्तमान है। भगवद्भक्ति चाहे वह वीतरागी की हो या सरागी की, अभीष्ट पूर्ति करती है। पूजा-पद्धति के आरम्भ होने के पूर्व स्तोत्रों की परम्परा ही भक्ति के क्षेत्र में विद्यमान थी। यही कारण है कि भक्तामर, एकीभाव और कल्याणमन्दिर प्रभृति जैन स्तोत्रों के साथ भी चमत्कार-पूर्ण आख्यान जुड़े हुए हैं। इन आख्यानों में ऐतिहासिक तथ्य हो या न हो, पर इतना सत्य है कि एकाग्रतापूर्वक स्तोत्र-पाठ करने से आत्म-शुद्धि उत्पन्न होती है और यही आंशिक शुद्धि अभीष्ट की सिद्धि में सहायक होती है।

समय-विचार :

मानतुंग के समय-निर्णय पर उक्त विरोधी आख्यानों से इतना प्रकाश अवश्य पड़ता है कि वे हर्ष अथवा भोज के समकालीन हैं। अतः सर्वप्रथम भोज की समकालीनता पर विचार किया जाता है। इतिहास में बताया गया है कि सीयक हर्ष के बाद उसका यशस्वी पुत्र मुञ्ज उपनाम वाक्पति वि० सं० १०३१ (ई० ९७४) में मालवा की गद्दी पर आसीन हुआ। वाक्पति मुञ्ज ने लाट, कर्णाटक, चोल और केरल के साथ युद्ध किया था। यह योद्धा तो था ही, साथ ही कला और साहित्य का संरक्षक भी। उसने धारा नगरी में अनेक तालाब खुदवाये थे। उसकी सभा में पद्मगुप्त, धनञ्जय, धनिक और हलायुध प्रभृति ख्यातिनामसाहित्यिक रहते थे। मुञ्ज के अनन्तर सिन्धुराज या नवसाहसाङ्क सिंहासनासीन हुआ। सिन्धुराज के अल्पकालीन शासन के पश्चात् उसका पुत्र भोज परमेश्वर की गद्दी पर बैठा। इस राजकुल का यह सर्वशक्तिमान और यशस्वी नृपति था। इसके राज्यासीन होने का समय ई० सन् १००८ है। भोज ने दक्षिणी राजाओं के साथ तो युद्ध किया ही, पर तुरुष्क एवं गुजरात के कीर्त्तिराज के साथ भी युद्ध किया। मेरुतुंग के अनुसार[2] भोज ने पचपन वर्ष, सात मास, तीन दिन राज्य किया था। भोज विद्या-रसिक था। उसके द्वारा रचित लगभग एक दर्जन ग्रन्थ है। इन्हीं भोज के समय में आचार्य प्रभाचन्द्र ने अपना प्रमेयकमल-मार्त्तण्ड लिखा है:—

---

१. अभी एक भक्तामर दि० जैन समाज, भागलपुर (वी० सं० २४९०) से प्रकाशित हुआ है; जिसमें "वृष्टिर्दिवः सुमनसां परितः प्रपात (३५); दुष्णामनुष्यसहस्रामपि कोटिसंख्यां (३७); देव त्वदीयसकलामलकेवलाव (३९) पद्य अधिक मुद्रित है।

श्वेताम्बर मान्यता का एक भक्तामर हमें मिला है; जिसमें 'गम्भीरताररव (३२), मन्दार-सुन्दरनमेरुसुपारिजात (३३), शुम्भत्प्रभावलय (३४), स्वर्गापवर्ग (३५) पद्य मुद्रित नहीं है। ३१ वें पद्य के पश्चात् ३६ वें पद्य का पाठ ३२ वें पद्य के रूप में दिया गया है।

२. पञ्चाशत्पञ्चवर्षाणि मासाः सप्त दिनत्रयम्।
भोक्तव्यं भोजराजेन सगौडं दक्षिणापथम्॥

—प्रबन्धचिन्तामणि पृ० २२, सिंघी ग्रन्थमाला १९३३।

"श्रीभोजराज्ये श्रीमद्धारानिवासिना परापरपरमेष्ठिपदप्रणामार्जितामलपुण्यनिराकृतनिखिल-मलकलङ्केन श्रीमत्प्रभाचन्द्रपण्डितेन निखिलप्रमाणप्रमेयस्वरूपोद्द्योतपरीक्षामुखपदमिदं विवृतमिति"।[२]

श्री पं० कैलाशचन्द्र जी शास्त्री ने प्रभाचन्द्र का समय ई० सन् १०२० के लगभग माना है। अतः भोज का राज्यकाल ११ वीं शताब्दी है।

आचार्य कवि मानतुंग के भक्तामर स्तोत्र की शैली मयूर और बाण की स्तोत्र-शैली के समान है। अतएव भोज के राज्य में मानतुंग ने अपने स्तोत्र की रचना नहीं की है। अतः भोज के राज्य-काल में बाण और मयूर के साथ मानतुंग का साहचर्य कराना संभव नहीं है।

संस्कृत साहित्य के प्रसिद्ध इतिहास-विद्वान डॉ० ए० बी० कीथ ने भक्तामर-कथा के संबंध में अनुमान किया है कि कोठरियों के ताले या पाशबद्धता संसारबंधन का रूपक है। उनका कथन है—

"Perhaps the origin of the legend is simply the reference in his poem to the power of the fine to save those in fetters, doubtless meta-phorically applied to the bonds holding men to Carnal life." [१]

अर्थात्—सम्भवतः इस कथा का मूल केवल उनकी कविता में पाशों से आबद्धजनों के बचाने के लिए जिनदेव की शक्ति के उल्लेख में है, जो निश्चय ही मनुष्यों को सांसारिक जीवन से बाँधने वाले पाशो के लिए रूपक है।

डॉ. कीथ ने मानतुंग को बाण के समकालीन अनुमान किया है।[२] सुप्रसिद्ध इतिहासज्ञ पं० गौरीशंकर हीराचन्द ओझा ने अपने 'सिरोही का इतिहास' नामक ग्रन्थ में मानतुंग का समय हर्ष-कालीन माना है। श्रीहर्ष का राज्याभिषेक ई० सन् ६०७ (वि० सं० ६६४) में हुआ।

भक्तामर-स्तोत्र के अन्तरंग परीक्षण से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि यह स्तोत्र कल्याण-मंदिर का पूर्ववर्ती है। कल्याणमन्दिर में कल्पना की ऊँची उड़ानें है वैसी इस स्तोत्र में नहीं है। अतः भक्तामर के बाद ही कल्याणमन्दिर की रचना हुई होगी। अतः भक्तामर की कल्पनाओं का पल्लवन एवं उन कल्पनाओं में कुछ नवीनताओं का समावेश चमत्कारपूर्ण शैली में पाया जाता है। भक्तामर में कहा है कि सूर्य की बात ही क्या, उसकी प्रभा ही तालाबों में कमलों को विकसित कर देती है। उसी प्रकार हे प्रभो! आपका स्तोत्र तो दूर ही रहे पर आपकी नाम-कथा ही समस्त पापों को दूर कर देती है। यथा—

आस्तां तव स्तवनमस्तसमस्तदोषं
त्वत्संकथापि जगतां दुरितानि हन्ति
दूरे सहस्त्रकिरणः कुरुते प्रभैव
पद्माकरेषु जलजानि विकासभाञ्जि ॥

—भक्तामरस्तोत्र पद्य (९)

---

२. प्रमेयकमलमार्त्तण्ड, ग्रन्थान्त-प्रशस्ति।

१-२—A history of Sanskrit literature 1941 Page-214-215 (Religious poetry).

कल्याणमन्दिर में उपर्युक्त कल्पना को बीज रूप में स्वीकार कर बताया गया है कि जब निदाघ में कमल से युक्त तालाब की सरस वायु ही तीव्र आतप से संतप्त पथिकों की गर्मी से रक्षा करती है, तब जलाशय की बात ही क्या ? उसी प्रकार जब आप का नाम ही संसार-ताप को दूर कर सकता है, तब आपके स्तोत्र के सामार्थ्य का क्या कहना ?

आस्तामचिन्त्यमहिमा जिन संस्तवस्ते;
नामापि पाति भवतो भवतो जगन्ति ।
तीव्रात पोपहतपान्थ जनान् निदाघे,
प्रीणाति पद्मसरसः सरसोऽनिलोऽपि ।।

—कल्याणमन्दिर पद्य (७)

भक्तामर-स्तोत्र की गुणगान-महत्त्व-सूचक कल्पना का प्रभाव और विस्तार भी कल्याण मन्दिर में पाया जाता है । भक्तामर-स्तोत्र मे बताया गया है कि प्रभो ! संग्राम मे आप के नाम का स्मरण करने से बलवान राजाओ का भी युद्ध करते हुए घोड़ों और हाथियों की भयानक गर्जना से युक्त सैन्यदल उसी प्रकार नष्ट-भ्रष्ट हो जाता है, जिस प्रकार सूर्य के उदय होने से अन्धकार नष्ट हो जाता है । यथा—

वल्गत्तुरङ्गगजगर्जितभीमनाद-
माजौ बलं बलवतामपि भूपतीनाम् ।
उद्यद्दिवाकरमयूखशिखापविद्धं
त्वत्कीर्त्तनात्तम इवाशु भिदामुपैति ।।

--भक्तामरस्तोत्र पद्य (४२)

उपर्युक्त कल्पना का रूपान्तर कल्याणमन्दिर के ३२वें पद्य मे उसी प्रकार पाया जाता है जिस प्रकार जिनसेन के पार्श्वाभ्युदय मे मेघदूत के पाद-सन्निवेश के रहने पर भी कल्पनाओं मे रूपान्तर । यथा—

यद्गर्जदूर्जितघनौघमदभ्रभीम--
भ्रश्यत्तडिन्मुसलमासलघोरधारम् ।
दैत्येन मुक्तमथ दुस्तरवारि दध्रे
तेनैव तस्य जिन ! दुस्तरवारिकृत्यम् ।।

--कल्याण मन्दिर स्तोत्र पद्य (३२)

इसी प्रकार भक्तामर-स्तोत्र के 'नित्योऽदयं दलितमोहमहान्धकारं' (पद्य १८) का कल्याण-मन्दिर के 'नूनं न मोहतिमिरावृतलोचनेन' (पद्य ३७) पर और 'त्वामामनन्ति मुनयः परमं पुमांसम्' (पद्य २३) का 'त्वां योगिनो जिन ! सदा परमात्मरूपम्' (पद्य १४) पर स्पष्ट प्रभाव दिखलाई पड़ता है ।

कोई भी निष्पक्ष समालोचक उपर्युक्त विश्लेषण के प्रभाव में इस स्वीकृति का विरोध नहीं कर सकता है कि भक्तामर का शब्दों, पदों और कल्पनाओं में पर्याप्त साम्य है तथा भक्तामर की कल्पनाओं और पदावलियों का विस्तार कल्याणमन्दिर में हुआ है ।

भक्तामर स्तोत्र के प्रारम्भ करने की शैली पुष्पदन्त के शिवमहिम्न-स्तोत्र से प्रायः मिलती है। प्रातिहार्य एवं वैभव वर्णन में भक्तामर पर पात्रकेसरीस्तोत्र का भी प्रभाव परिलक्षित होता है। अतएव मानतुंग का समय ७वीं शती है। यह शती मयूर, बाणभट्ट आदि के चमत्कारी स्तोत्रों की रचना के लिए प्रसिद्ध भी है।

भारत का सांस्कृतिक इतिहास इस बात का साक्षी है कि ई० सन् की ५वीं शताब्दी से मन्त्र-तन्त्र का प्रचार विशेष रूप से हुआ है। ५वीं शताब्दी में महायान और कापालिकों ने बड़े-बड़े चमत्कार की बातें कहना प्रारम्भ की। अतएव यह क्लिष्ट कल्पना न होगी कि उस चमत्कार के युग में आचार्य मानतुंग ने भी भक्तामर-स्तोत्र की रचना की हो। इस स्तोत्र को उन्होंने दावाग्नि, भयंकर सर्प, राज-सेवाएँ, भयानक समुद्र आदि के भयों से रक्षा करने वाला कहा है। जलोदर एवं कुष्ट जैसी व्याधियाँ भी इस स्तोत्र के प्रभाव से नष्ट होने की बात कही गयी है। अतः स्पष्ट है कि चमत्कार के युग में वीतरागी आदिजिनका महत्त्व और चमत्कार कवि ने युग के प्रभाव से ही दिखलाया है। अतएव मानतुंग का समय ७वीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध है।

रचना और काव्य-प्रतिभा :

मानतुंग ने ४८ पद्य-प्रमाण भक्तामर-स्तोत्र की रचना की है। यह समस्त स्तोत्र बसन्त-तिलका छन्द में लिखा गया है। इसमें आदितीर्थंकर ऋषभनाथ की स्तुति की गई है। पर इस स्तोत्र की यह विशेषता है कि इसे किसी भी तीर्थङ्कर पर घटित किया जा सकता है। प्रत्येक पद्य में उपमा, उत्प्रेक्षा और रूपक अलंकार का समावेश किया गया है। इसका भाषासौष्ठव और भावगाम्भीर्य प्रसिद्ध है। कवि अपनी नम्रता दिखलाता हुआ कहता है कि हे प्रभो! अल्पज्ञ और बहुश्रुतज्ञ विद्वानों द्वारा हँसी के पात्र होने पर भी तुम्हारी भक्ति ही मुझे मुखर बनाती है। बसन्त में कोकिल स्वयं नहीं बोलना चाहती, प्रत्युत आम्र-मंजरी ही उसे बलात् कूजने का निमन्त्रण देती है। यथा—

अल्पश्रुतं श्रुतवतां परिहास धाम
त्वद्भक्तिरेव मुखरी कुरुते बलान्माम्।
यत्कोकिलः किल मधौ मधुरं विरौति
तच्चारूचूतकलिकानिकरैकहेतुः॥

अतिशयोक्ति अलंकार में आराध्य के गुणों का वर्णन करता हुआ कवि कहता है कि हे भगवन्! आप एक अद्भुत् जगत-प्रकाशी दीपक हैं, जिसमें न तेल है न बाती, और न धूम। पर्वतों को कम्पित करने वाले वायु के झोंके भी इस दीपक तक पहुँच नहीं सकते हैं। तो भी जगत में प्रकाश फैलता है। यथा—

निर्धूमवर्तिरपवर्जिततैलपूरः
कृत्स्नं जगत्त्रयमिदं प्रकटीकरोषि।
गम्यो न जातु मरुतां चलिताचलानां
दीपोऽपरस्त्वमसि नाथ जगत्प्रकाशः॥

—भक्तामर स्तोत्र पद्य (१६)

इस पद्य में आदिजिन को सर्वोत्कृष्ट विचित्र दीपक कहकर कवि ने अतिशयोक्ति अलंकार का समावेश किया है। अतिशयोक्ति अलंकार के उदाहरण इस स्तोत्र में और भी कई आये है। पर १७ वें पद्य की अतिशयोक्ति बहुत ही सुन्दर है। कवि कहता है कि हे भगवन ! आपकी महिमा सूर्य से भी बढ़कर है क्योंकि आप कभी भी अस्त नही होते, न राहुगम्य हैं, न आपका महान प्रभाव मेघो से अवरुद्ध होता है एवं आप समस्त लोकों के स्वरूप को स्पष्ट रूप से अवगत करते हैं। यथा—

नास्तं कदाचिदुपयासि न राहुगम्यः
स्पष्टीकरोषि सहसा युगपज्जगन्ति ।
नाम्भोधरोदरनिरुद्ध महाप्रभावः,
सूर्यातिशायिमहिमासि मुनीन्द्र लोके ॥

—भक्तामरस्तोत्र पद्य (१७)

यहाँ भगवान को अद्भुत सूर्य के रूप मे वर्णित कर अतिशयोक्ति का चमत्कार दिखलाया गया है।

कवि आदिजिनको बुद्ध, शंकर, धाता और पुरुषोत्तम सिद्ध करता हुआ कहता है—

बुद्धस्त्वमेव विबुधार्चितबुद्धिबोधा-
त्वं शंकरोऽसि भुवनत्रयशंकरत्वात्
धातासि धीर शिवमार्गविधेर्विधानात्
व्यक्तं त्वमेव भगवन् ! पुरुषोत्तमोऽसि ॥

—भक्तामरस्तोत्र पद्य (२५)

इस प्रकार मानतुंग में काव्य-प्रतिभा और उनके इस स्तोत्र-काव्य में सभी काव्य-गुण समवेत है।



राजस्थानी जैन सन्तों
की
साहित्य-साधना

डा० कस्तूरचन्द्र कासलीवाल

[जैन-सन्त साहित्य-संग्रह की दृष्टि से कभी जातिवाद एवं सम्प्रदायवाद के चक्कर में नहीं पड़े, किन्तु जहाँ से भी अच्छा एवं कल्याणकारी साहित्य उपलब्ध हुआ वहीं से उसका संग्रह करके शास्त्र-भण्डारों में संग्रहीत किया गया। साहित्य-संग्रह की दृष्टि से इन्होंने स्थान-स्थान पर ग्रन्थ-भण्डार स्थापित किये हैं। राजस्थान इसका ज्वलन्त उदाहरण है।]

भारतीय इतिहास में राजस्थान का महत्त्वपूर्ण स्थान है। एक ओर यहाँ की भूमि का प्रत्येक कण वीरता एवं शौर्य के लिये प्रसिद्ध रहा है तो दूसरी ओर भारतीय साहित्य एवं संस्कृति के गौरव स्थल भी यहाँ पर्याप्त संख्या में मिलते हैं। यदि राजस्थान के वीर योद्धाओं ने जन्मभूमि की रक्षार्थ हँसते-हँसते प्राणों को न्योछावर किया तो यहाँ होने वाले आचार्यों, सन्तों एवं विद्वानों ने साहित्य की महती सेवा की और अपनी रचनाओं एवं कृतियों द्वारा जनता में देश-भक्ति, जाग्रति एवं नैतिकता का प्रचार किया। यहाँ के रणथम्भौर, कुम्भलगढ़, चित्तौर, भरतपुर, मांडोर जैसे दुर्ग यदि वीरता, देशभक्ति, एवं त्याग के प्रतीक है तो जैसलमेर, नागौर, बीकानेर, अजमेर, आमेर, डूगंरपुर, सागवाडा, टोडारायसिंह आदि कितने ही ग्राम एवं नगर राजस्थानी ग्रन्थकारो, साहित्योपासकों एवं सन्तों के पवित्र स्थान है, जिन्होने अनेक संकटो एवं झंझा-वातो के मध्य भी साहित्य की अमूल्य धरोहर को सुरक्षित रखा। वास्तव में राजस्थान की भूमि पावन एवं महान् है तथा यहाँ का प्रत्येक कण वन्दनीय है।

राजस्थान की इस पावन भूमि पर कितने ही सन्त हुये, जिन्होने अपनी कृतियों द्वारा भारतीय साहित्यके भण्डारको इतना अधिक भरा कि वह कभी खाली नही हो सकता। यहाँ सन्तो की परम्परा चलती ही रही और कभी उसमें व्यवधान नहीं आया। सगुण एवं निर्गुण दोनों ही भक्ति की धारा के यहाँ सन्त होते रहे और उन्होंने आध्यात्मिक प्रवचनो, गीति-काव्यों, एवं मुक्तक-छन्दों द्वारा जन-जागरण को उठाये रखा। इस दृष्टि से मीरा, दादूदयाल, सुन्दरराम आदि के नाम उल्लेखनीय है। इधर जैन सन्तो का भी राजस्थान केन्द्र रहा। इन सन्तों के डूगरपुर, सागवाडा, नागौर, आमेर, अजमेर, बीकानेर, जैसलमेर, चित्तौर आदि मुख्य नगर थे। जहाँ से वे राजस्थान के ही नहीं, किन्तु भारत के अन्य प्रदेशों में भी बिहार करते और अपनी ज्ञान-साधना एवं आत्म-साधना से जन-साधारण का

जीवन ऊँचे उठाने का प्रयास करते रहते। ये सन्त विविध भाषाओं के ज्ञाता होते थे और भाषा-विशेष से कभी मोह नहीं रखते थे। जिस किसी भाषा की जनता द्वारा कृतियों की मांग की जाती उसी भाषा में अपनी लेखनी चलाते तथा उसे अपनी आत्मानुभूति से परिप्लावित कर देते। कभी वे पुराण-ग्रन्थ लिखते तो कभी काव्य ग्रन्थों के लिखने में लेखनी चलाते। ज्योतिष, आयुर्वेद, गणित, रस, अलंकार आदि भी उनके विविध विषय थे। वे सैकड़ों की संख्या में रास एवं कथा-ग्रन्थों की एवं फागु, वेलि, शतक एवं बारहखडी के रूप में रचनायें संरचित करके पाठकों को अध्यात्म-रस का पान कराया करते। संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश, हिन्दी, गुजराती, आदि सभी भाषाएँ उनकी अपनी भाषा रही। प्रान्तवाद, एवं भाषावाद के झगड़े में ये कभी नहीं पड़े क्योंकि इन सन्तों की साहित्य-सर्जना का उद्देश्य तो सदैव ही आत्म-सन्तोष एवं जन-कल्याण का रहा है। लेखक का विश्वास है कि वेद, स्मृति, उपनिषद, पुराण, रामायण एवं महाभारत काल के ऋषियों एवं सन्तों के समान भारतीय साहित्य की जितनी अधिक सेवा एवं सुरक्षा इन जैन सन्तों ने की है उतनी अधिक किसी सम्प्रदाय अथवा धर्म के साधुवर्ग द्वारा नहीं हो सकी है। राजस्थान के इन सन्तों ने स्वयं तो विविध भाषाओं में सैकड़ों-हजारों कृतियों का सर्जन किया ही, किन्तु अपने पूर्ववर्ती आचार्यों, साधुओं, कवियों एवं लेखकों की रचनाओं का भी बड़े प्रेम, श्रद्धा एवं उत्साह से संग्रह किया। एक-एक ग्रंथ की कितनी ही प्रतियाँ लिखवाकर ग्रन्थ-भण्डारों में विराजमान की और जनता को उन्हें पढ़ने एवं स्वाध्याय के लिए प्रोत्साहित किया। राजस्थान के आज सैकड़ों हस्तलिखित ग्रन्थ-भण्डार उनकी साहित्यिक-सेवा के ज्वलंत उदाहरण हैं। जैन सन्त साहित्य-संग्रह की दृष्टि से कभी जातिवाद एवं सम्प्रदाय के चक्कर में नहीं पड़े, किन्तु जहाँ से भी अच्छा एवं कल्याणकारी साहित्य उपलब्ध हुआ वहीं से उसका संग्रह करके शास्त्र-भण्डारों में संग्रहीत किया गया। साहित्य-संग्रह की दृष्टि से इन्होंने स्थान-स्थान पर ग्रन्थ-भंडार स्थापित किये। इन्हीं सन्तों की साहित्यिक सेवा के परिणाम-स्वरूप राज्यस्थान के जैन ग्रन्थ-भंडारों में १।। २ लाख हस्तलिखित ग्रन्थ अब भी उपलब्ध होते हैं[1]। ग्रन्थ-संग्रह के अतिरिक्त इन्होंने जैनेतर विद्वानों द्वारा लिखित काव्यों एवं अन्य ग्रन्थों पर टीका लिखकर उनके पठनपाठन में सहायता पहुचायी। राजस्थान के जैन ग्रन्थ-भंडारों में अकेले जैसलमेर के जैन ग्रंथ-संग्रहालय ही ऐसे ग्रन्थ-संग्रहालय हैं जिनकी तुलना भारत के किसी भी प्राचीन एवं बड़े-से-बड़े ग्रंथ-संग्रहालय से की जा सकती है। उनमें संग्रहीत अधिकांश ताड़पत्र पर लिखी हुई प्रतियां है और वे सभी राष्ट्र की अमूल्य संपत्ति है। ताडपत्र पर लिखी हुई इतनी पुरानी प्रतियाँ अन्यत्र मिलना संभव नहीं है। श्री जिनचन्द्रसूरि ने संवत् १४९७ में वृहत्ज्ञानभण्डार की स्थापना करके साहित्य की सैकड़ों अमूल्य निधियों को नष्ट होने से बचा लिया। जैसलमेर के इन भंडारों को देखकर कर्नल टाड, डा० बूलर, डा० जैकोबी जैसे पाश्चात्य विद्वान एवं भाण्डारकर, दलाल जैसे भारतीय विद्वान आश्चर्यचकित रह गये और यहाँ के महत्वपूर्ण संग्रह को प्राप्त कर दाँतों तले अंगुली दबायी। द्रोणाचार्य कृत ओघनिर्युक्ति-वृत्ति की इस भंडार मे सबसे प्राचीन प्रति है जिसकी सम्वत् १११७ में पाहिल ने प्रतिलिपि की थी। जैनागमों एवं ग्रन्थों की प्रतियों के अतिरिक्त दण्डि कवि के काव्यादर्श (संवत् ११९१), मम्मट के

१. ग्रन्थ-भंडारों का विस्तृत परिचय के लिए देखिये लेखक द्वारा लिखित Jain Granth Bhandars in Rajasthan.

काव्यप्रकाश (संवत् १२१५), रुद्रट कवि के काव्यालंकार पर नमि साधु की टीका (संवत् १२०६) एवं कुन्तक के वक्रोक्तिजीवित की १४वीं शताब्दी की महत्वपूर्ण प्रतियाँ संग्रहीत की हुई हैं। विमलसूरि कृत प्राकृत के महाकाव्य पउमचरिय की संवत् १२०४ की जो प्रति है वह संभवतः अबतक उपलब्ध प्रतियों में प्राचीनतम प्रति है। इसी तरह उद्योतनसूरि कृत कुवलयमाला की प्रति भी अत्यधिक प्राचीन प्रति है जो संवत् १२६१ की लिखी हुई है। कालिदास, माघ, भारवि, हर्ष, हलायुध, भट्टि आदि महाकवियों द्वारा रचित काव्यों की प्राचीनतम प्रतियाँ एवं उनकी टीकाएँ यहाँ के भंडारों के अतिरिक्त आमेर, अजमेर, नागौर, बीकानेर के भंडारों में संग्रहीत हैं। न्यायशास्त्र के ग्रन्थों में सांख्यतत्वकौमुदी, पातंजल योगदर्शन, न्यायबिन्दु, न्यायकन्दली, खंडन-खंडखाद्य, गौतमीय न्यायसूत्रवृत्ति आदि की कितनी ही प्राचीन एवं सुन्दर प्रतियाँ जैन सन्तो द्वारा लिखी हुई इन भंडारों में संग्रहीत हैं। नाटक-साहित्य में मुद्राराक्षस, वेणीसंहार, अनर्घराघव एवं प्रबोधचन्द्रोदय के नाम उल्लेखनीय हैं। जैन सन्तों ने केवल संस्कृत एवं प्राकृत साहित्य के संग्रह में ही रुचि नहीं ली, किन्तु हिन्दी एवं राजस्थानी रचनाओं के संग्रह में भी उतना ही प्रशंसनीय परिश्रम किया। कबीरदास एवं उनके पंथ के कवियो द्वारा लिखा हुआ अधिकांश साहित्य आमेर-शास्त्र-भंडार जयपुर में संग्रहीत है। इसी तरह पृथ्वीराजरासो एवं वीसलदेवरासो की महत्वपूर्ण प्रतिया बीकानेर एवं कोटा के शास्त्र-भण्डारों में संग्रहीत हैं। कृष्णरुक्मिणीवेलि, रसिकप्रिया एवं बिहारीसतसई की तो गद्य-पद्य सहित कितनी ही प्रतियां इन भंडारों में खोज करने पर प्राप्त हुई हैं।

राजस्थान के ये जैन सन्त साहित्य के सच्चे साधक थे। आत्मचिंतवन एवं आध्यात्मिक चर्चा के अतिरिक्त इन्हें जो भी समय मिलता उसका पूरा सदुपयोग साहित्य-रचना में करते। ये स्वयं ग्रन्थ लिखते, दूसरों से लिखवाते एवं भक्तों को लिखवाने का उपदेश देते। वे ग्रन्थो की प्रतिलिपि करने में बड़ा परिश्रम करते। दिन भर कमर झुकाये शुद्ध प्रतलिपि करते एवं सुन्दर तथा सुवाच्य लिखते। इन सन्तों के घोर परिश्रम से आज अकेले राजस्थान में १॥-२ लाख से अधिक हस्तलिखित ग्रन्थों का संग्रह मिलता है। किन्तु अब भी कितने ही ऐसे ग्रन्थ-संग्रहालय हैं जिनकी किसी भी विद्वान् द्वारा छानबीन नही की जा सकी है। राजस्थान के जैन ग्रन्थ-भण्डारों पर शोध-निबन्ध लिखने तथा श्रीमहावीर-क्षेत्र के साहित्य-शोध-संस्थान द्वारा राजस्थान के शास्त्र-भण्डारो की ग्रन्थ-सूची बनाने के सिलसिले में मुझे यहाँ के १०० से भी अधिक ग्रन्थ-भण्डारों को देखने का सौभाग्य प्राप्त हो चुका है और इसी अनुभव के आधार पर यह कहा जा सकता है कि यदि धर्मान्ध मुसलिम शासकों द्वारा इन शास्त्र-भण्डारों का विनाश नही किया जाता तथा हमारी ही लापरवाही से हजारों ग्रन्थ चूहे, दीमक एवं सीलन से नष्ट नही होते, तो पता नही आज कितनी अधिक संख्या में इन भण्डारों में ग्रन्थ उपलब्ध होते।

अब यहाँ राजस्थान के कुछ प्रमुख संतों की भाषानुसार साहित्य-सेवा पर प्रकाश डाला जा रहा है—

जम्बूद्वीवपण्णत्ति के रचयिता आचार्य पद्मनन्दि राजस्थानी सन्त थे। प्रज्ञप्ति का रचना-स्थान बांरा है, जो आजकल राजस्थान का एक उपजिला है। हरिभद्रसूरि राजस्थान के दूसरे सन्त थे, जो प्राकृत एवं संस्कृत के जबरदस्त विद्वान् थे। इनका सम्बन्ध चित्तौर से था। आगम-ग्रन्थों के

एवं न्यायशास्त्र के ये प्रकाण्ड विद्वान् थे। इसी तरह महेश्वरसूरि भी प्राकृत के प्रसिद्ध विद्वान् थे और ये भी राजस्थान के प्रदेश को सुशोभित करनेवाले थे। ज्ञानपञ्चमीकहा एवं संयम-मंजरीकहा इनकी प्रसिद्ध रचनायें हैं। अपभ्रंश के प्रसिद्ध कवि हरिषेण भी चित्तौर के निवासी थे। इन्होंने अपनी कृति धम्मपरिक्खा को अंचलपुर में संवत् १०४० में समाप्त की थी। धम्मपरिक्खा के अतिरिक्त अपभ्रंश की १०० से भी अधिक रचनायें राजस्थान के इन शास्त्र-भण्डारों में संग्रहीत हैं जो इन जैन सन्तों द्वारा लिपिबद्ध की हुई है।

राजस्थान के अधिकांश संत संस्कृत के भी विद्वान् थे। संस्कृत से उन्हें विशेष रुचि थी और इसीलिये उन्होंने पुराण, काव्य, चरित्र, कथा, स्तोत्र एवं पूजा साहित्य का खूब सर्जन किया। राजस्थान के सिद्धर्षि संभवतः प्रथम जैन सन्त थे, जिन्होंने उपदेशमाला पर संस्कृत-टीका लिखी और उपमितिभवप्रपंचकथा को संवत् ९६२ में समाप्त किया। १२ वी शताब्दी मे होने वाले आचार्य हेमचन्द्र से राजस्थानी जनता कम उपकृत नही है। इनके द्वारा लिखे हुये साहित्य का इस प्रदेश में खूब प्रचार रहा, जो आज दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों भण्डारो मे काफी अधिक संख्या मे मिलता है।

१३ वी शताब्दी मे होने वाले महापंडित आशाधर राजस्थानी विद्वान् थे। उनका लालन-पालन, शिक्षा-दीक्षा एवं प्रारम्भिक युवावस्था राजस्थान के माण्डलगढ (मेवाड़) में व्यतीत हुआ था। ये संस्कृत के प्रकाण्ड विद्वान थे और उन्होंने २० से अधिक ग्रन्थों की रचना की है तथा टीकाएँ लिखी है। १५१६ शताब्दी मे राजस्थान में भट्टारक सकलकीर्त्ति के उदय से एक नये रूप का अध्याय प्रारम्भ हुआ। उन्होंने साहित्य-निर्माण की ओर सन्तों एवं जनता दोनो का ध्यान आकृष्ट किया। इनकी परम्परा मे होने वाले अधिकांश भट्टारक संस्कृत के प्रमुख विद्वान् थे, जिनमे भट्टारक भुवनकीर्त्ति, ब्रह्म जिनदास, भट्टारक ज्ञानभूषण, विजयकीर्त्ति, शुभचन्द्र, सकलभूषण, सुमतिकीर्त्ति आदि के नाम उल्लेखनीय है। भ० सकलकीर्ति के जीवन पर पूरी खोज होना आवश्यक है। उन्होंने संस्कृत में २८ से अधिक रचनायें करके साहित्यिक क्षेत्र मे एक अद्‌भुत क्रान्ति की। इसी तरह इनके शिष्यों मे ब्रह्मजिनदास ने संस्कृत मे १२ से अधिक कृतियाँ, एवं शुभचन्द्र ने २४ रचनायें लिखकर संस्कृत-भाषा-साहित्य के भण्डार को भर दिया। उक्त विद्वानों के अतिरिक्त राजस्थान मे होने वाले विद्वानो में आचार्य सोमकीर्त्ति, ब्र० रायमल, ब्र० कामराज, सोमसेन एवं हर्षकीर्त्ति के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। १५ वीं० शताब्दी में ही जिनभद्रसूरी ने जैसलमेर मे वृहद्ज्ञानभण्डार की स्थापना की तथा आमेर, अजमेर एवं नागौर में बाद मे भट्टारकों द्वारा शास्त्र-भण्डारो की स्थापना की गयी, जिनके कारण साहित्य की प्रमुख रूप से रचना हो सकी।

हिन्दी एवं राजस्थानी साहित्य

राजस्थान में हिन्दी एवं राजस्थानी भाषा मे काव्य-रचना बहुत पहले से प्रारम्भ हो गयी थी। जन-साधारण की इस भाषा की ओर रुचि देखकर जैन सन्तो ने हिन्दी एवं राजस्थानी भाषा में काव्य-रचना की ओर विशेष ध्यान दिया। उन्होने पहले छोटी-छोटी रचनायें लिखी। रास, गीत, बेलि, फागु एवं बारहमासा के रूप में छोटी-छोटी रचनायें लिखकर जन-साधारण का हिन्दी की ओर आकर्षण उत्पन्न किया। उन्होंने साहित्य में धार्मिक पुट देकर उसे लोकप्रिय एवं

सम्माननीय बनाया। हिन्दी के आदिकाल की रचनाओं में जैन सन्तों द्वारा रचित कृतियों का प्रमुख स्थान है। इन रचनाओं में शालिभद्रसूरि का भरतेश्वरबाहुबलिरास, विजयसेनसूरि का रेवन्तगिरिरास, सुमतिगणि का नेमिनाथरास, विनयमल का गौतमरास आदि के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है।

१५वीं-१६वी शताब्दी में तो राजस्थानी सन्तो ने हिन्दी एवं राजस्थानी भाषा में कितनी ही महत्वपूर्ण कृतियाँ लिखी। भट्टारक सकलकीर्ति ने राजस्थानी भाषा मे चार रचनायें लिखीं, किन्तु उनके शिष्य ब्रह्मजिनदास ने ३३ रास-ग्रन्थ, २ ग्रन्थ-पुराण, ७ गीत एवं स्तवन, ४ व्रत-पूजाएँ एवं ७ छोटी रचनायें लिखकर अपने हिन्दी-प्रेम का ज्वलंत उदाहरण उपस्थित किया। हिन्दी के किसी भी सन्त एवं विद्वान् द्वारा संभवतः इतनी अधिक रचनायें नहो लिखी गयी होगी। ब्रह्मजिनदास की इन रचनाओं में रामसीतारास, श्रीपालरास, यशोधररास, भविष्यदत्तरास, परमहंसरास, हरिवंश-पुराण एवं आदिनाथपुराण आदि के नाम उल्लेखनीय है। ब्रह्म जिनदास के समकालीन आचार्य जिनराजसूरि के शिष्य महोपाध्याय जयसागर के भी राजस्थानी भाषा में ३२ से भी अधिक रचनायें लिखी। १६वी शताब्दी के विद्वान् मतिसागर के धन्नारास, नेमिनाथवसंत, मयणरेहारास, इलापुत्रचरित्र, नेमिनाथगीत के नाम उल्लेखनीय हैं। १६वी शताब्दी मे ही ब्रह्मबूचराज प्रसिद्ध विद्वान् हुये, जिन्होने मयणजुज्झ, सन्तोषतिलक-जयमाल, चेतनपुद्गल ध्यान आदि रूपक-काव्य लिखकर इस क्षेत्र में विशेष कार्य किया। इसी तरह पार्श्वनाथसूरि भी इसी शताब्दी के प्रभावशाली विद्वान् थे। इन्होंने राजस्थानी भाषा को ५० से भी अधिक रचनायें समर्पित करके साहित्य-सेवा का सुन्दर उदाहरण उपस्थित किया। ढोला-चौपई एवं माधवानलचौपई के रचयिता कुशललाभ गणि भी राजस्थानी सन्त थे।

१७वी शताब्दी के आरम्भ में ब्रह्म रायमल्ल एक अच्छे सन्त हुए, जिनकी हनुमानचौपई, सुदर्शनरास, भविष्यदत्तरास, मधुम्नरास आदि अत्यधिक प्रसिद्ध एवं लोकप्रिय रचनायें है। इन्होंने राजस्थान के विभिन्न स्थानो में ग्रन्थ-रचनायें सम्पन्न कीं, जिनमें गढहरसौर, गढरणथम्भौर, एवं सांगानेर के नाम विशेषतः उल्लेखनीय हैं। समयसुन्दर राजस्थानी भाषा के प्रसिद्ध विद्वान् थे। श्रीहजारीप्रसादजी द्विवेदी के शब्दों मे कवि का ज्ञान परिकर बहुत हो विस्तृत है, इसलिये वह किसी भी वर्ण्य विषय को बिना आभास के सहज ही संभाल लेता है। इन्होंने संस्कृत में २६ तथा हिन्दी राजस्थानी में २३ रचनायें लिखकर उसके प्रचार में विशेष सहायता दी।

राजस्थान का वागड प्रदेश गुजरात प्रान्त से लगा हुआ है। इसलिये गुजरात में होने वाले बहुत से भट्टारक एवं सन्त राजस्थान प्रदेश को भी अपनी चरण-धूलि से पवित्र करते। यहाँ वे साहित्य-रचना करते एवं उससे अपने भक्तों को रसास्वादन कराते। इन सन्तों में भ० रत्नकीर्त्ति, कुमदचन्द्र, अभयचन्द्र, शुभचन्द्र, ब्रह्म जयसागर, मुनि कल्याणकीर्त्ति, चन्द्रकीर्ति, श्रीपाल, गणेश आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। ये सभी हिन्दी, राजस्थानी एवं संस्कृत भाषा के अच्छे विद्वान् थे। और इनकी कितनी ही रचनायें राजस्थान के जैन शास्त्र-भण्डारों में उपलब्ध होती हैं।



अपभ्रंश में कडवक छंद
का
स्वरूप और विकास

डॉ० राजाराम जैन

[कडवक का विकास लोक-गीतों के धरातल पर हुआ है। जब अपभ्रंश में प्रबन्ध-पद्धति का आविर्भाव हुआ और दोहा-छन्द इसके लिये छोटा पड़ने लगा, तब अपभ्रंश-कवियों ने मात्रिक छन्दों की परम्परा पर प्रबन्ध के वहन कर सकने योग्य पद्धड़िया छन्द का विकास किया। उसी रूप में १६, २०, २४, २८, ३२ एवं ४८ अर्धालियों के अनन्तर घत्ता देकर कडवक लिखने की परम्परा आविर्भूत हुई।]

शब्दों का सम्बन्ध किसी एक व्यक्ति से नहीं, बल्कि सामाजिक सम्बन्धों के मूल्य-निर्धारण मे उपयोगी होने के कारण इनका सम्बन्ध मानवमात्र से है। जिस प्रकार आर्थिक मूल्यो का संचालन सिक्कों द्वारा होता है, उसी प्रकार सामाजिक सम्बन्धों का निर्वाह शब्दो द्वारा। शब्द छन्द का रूप धारण कर विषयिगत भावाभिव्यक्ति कर संगीत का कार्य सम्पन्न करते हैं। यही कारण है कि प्रकृति की पाठशाला में बैठकर मनुष्य ने जब से गुनगुनाने का कार्य आरम्भ किया तभी से छन्द की उत्पत्ति हुई।

छन्द शब्द की व्युत्पत्ति 'छन्द' धातु से मानी गई है, जिसका अर्थ आवृत्त करने या रक्षित करने के साथ प्रसन्न करना भी होता है। 'निघण्टु' में प्रसन्न करने के अर्थ में एक 'छन्द' धातु भी उपलब्ध होती है। कुछ विद्वानो का मत है कि 'छन्द' की उत्पत्ति इसी 'छन्द' धातु से हुई है। भारतीय वाङ्मय में छन्द को वेदाङ्ग माना गया है और उन्हे वेदो का चरण कहा है। महर्षि पाणिनि ने ईस्वी सन् से लगभग ५०० वर्ष पूर्व ही 'छन्दः पादौ तु वेदस्य' की घोषणा की थी। बृहद्देवता में कहा गया है कि जो व्यक्ति छन्द के उतार चढाव को बिना जाने ही वेद का अध्ययन करता रहता है वह पापी है। यथा—

> अविदित्वा ऋषिच्छन्दो दैवतं योगमेव च।
> योऽध्यापयेज्जपेत् वापि पापीयान् जायते तु सः॥

पर छन्द-शास्त्र की व्यवस्थित परम्परा आचार्य पिंगल के छन्दसूत्र से प्राप्त होती है। अनादि काल से ही मानव छन्द का आश्रय लेकर अपने ज्ञान को स्थायी और अन्य-ग्राह्य बनाने का प्रयत्न करता आ रहा है। छन्द, ताल, तुक और स्वर समस्त मानव-समाज को स्पन्दनशील बनाते हैं।

संवेदनशीलता उत्पन्न कराने में छन्द से बढ़कर अन्य कोई साधन नहीं है। इसी साधन के बल से मनुष्य ने अपनी आशा-आकांक्षा एवं अनुराग-विराग को एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति तक, एक पीढी से दूसरी पीढी तक और एक युग से दूसरे युग तक प्रेषित किया है। वैदिक-साहित्य में प्रयुक्त गायत्री, अनुष्टुप, बृहती, पंक्ति, त्रिष्टुप और जगती छन्द प्रमुख है। लौकिक संस्कृत में तो वर्ण और मात्रिक दोनों ही प्रकार के छन्दो का विविधरूप में प्रयोग हुआ है। इस छन्द-वैविध्य के बीच भी संस्कृत में अनुष्टुप छन्द इतना प्रसिद्ध रहा है कि जिससे वह पद्य का पर्यायवाची ही बन गया। संस्कृतभाषा की प्रकृति के अनुसार अनुष्टुप वह छन्द है, जो प्रत्येक प्रकार के भाव को व्यक्त करने में सक्षम है। यही कारण है कि करुण, वीर, शृङ्गार, विलास, वैभव, अनुराग, विराग प्रभृति विभिन्न प्रकार की भावावली की अभिव्यञ्जना इस छोटे से छन्द में पाई जाती है।

ईसापूर्व ६-७ वी सदी मे ही लोक-भाषाओं ने जब काव्य का आसन ग्रहण किया तब भावलय के साधन 'छन्द' में भी परिवर्तन हुआ। यो तो वैदिक काल मे ही गाथा-छन्द का अस्तित्व था। ऋग्वेद में गाथा-शब्द 'छन्द' और आख्यान इन दोनों ही अर्थो में प्रयुक्त है। पर यह गाथा-छन्द प्राकृत का वह निजी छन्द बना, जो अनुराग-विराग एवं हर्ष-विषाद आदि सभी प्रकार के भावों की अभिव्यंजना के लिये पूर्ण सशक्त है। यही कारण है कि प्रवरसेन द्वितीय, वाक्पतिराज और कुतूहल जैसे कवियों ने प्रेम, शृंगार, युद्ध एवं जन्मोत्सव आदि का वर्णन इसी छन्द में किया है। वाक्पतिराज ने अपने 'गउडवहो' नामक काव्य में आद्यन्त गाथा-छन्द का ही प्रयोग किया है। अतएव स्पष्ट ज्ञात होता है कि प्राकृत के कवियो की दृष्टि में सभी प्रकार की भावनाओं की अभिव्यञ्जना इस एक छन्द मे भी सम्भव है।

प्राकृत के पश्चात् ई० सन् की छठवी सदी मे ही जब अपभ्रंश ने काव्य-भाषा का आसन ग्रहण किया तो दोहा-छन्द अनुष्टुप के तृतीय संस्करण और गाथा के द्वितीयसंस्करण के रूप में उपस्थित हुआ। यह दोहा-छन्द मात्रिक छन्द है और मात्रिक-छन्दों का सर्वप्रथम प्रयोग प्राकृत में प्रारम्भ हुआ। इसका प्रधान कारण यह है कि मात्रिक छन्दों के बीज लोक गीतों मे पाये जाते है। संगीत को रागिनी देने के लिये मात्रिक छन्द ही उपयुक्त होते है। तुक का मिलना ही संगीत में लय उत्पन्न करता है। यही कारण है कि सम और विषम चरणों में तुक मिलाने की पद्धति संगीत के लिये विशेष प्रिय हुई है।

दोहा-छन्द, जिसमे कि दूसरे और चौथे चरण में तुक मिलती है, अपभ्रंश के लिये अत्यधिक प्रिय रहा है। जितना भी प्राचीन अपभ्रंश साहित्य है, वह सब दोहों मे लिखा हुआ ही मिलता है। **कडवक-पद्धति** का आविर्भाव कब और कैसे हुआ, इस सम्बन्ध मे निश्चित रूप से कुछ नही कहा जा सकता। महाकवि स्वयम्भू ने अपने 'रिट्ठणेमिचरिउ' की उत्थानिका में पूर्ववर्त्ती शास्त्रकारों और कवियों के प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करते हुए कहा है :—

छड्डणिय दुवइ धुवएहिं जडिय चउमुहेण समप्पिय पद्धडिया।—रिट्ठ० १।२।११

अर्थात् कवि चउमुह ने दुवई और ध्रुवको से जड़ा हुआ पद्धडिया छन्द समर्पित किया। इस उल्लेख से इतना स्पष्ट है कि चउमुह कवि ने ध्रुवक और दुवई के मेल से पद्धडिया छन्द का प्रयोग किया है। अपभ्रंश के प्रबन्धकाव्य में व्यवहृत कडवक इसी पद्धडिया छन्द का विकसित रूप है।

अलंकारशास्त्रियों ने "सर्गः कडवकाभिधः" (साहित्यदर्पण ६।३२७) कहकर कडवकों को सर्ग का सूचक माना है। संस्कृत का 'सर्ग' शब्द प्राकृत में आश्वास बना और यही अपभ्रंश में आकर कडवक बन गया। परन्तु विचार करने से ज्ञात होता है कि कतिपय अपभ्रंश-ग्रन्थों में सर्ग के स्थान पर सन्धि या परिच्छेद शब्द का व्यवहार हुआ है, अतः कडवकों को सर्ग मानना उचित नहीं है। महाकाव्य में सर्ग का ठीक वही महत्त्व है, जो नाटक में अंक का। नाटक का अंक कथा के किसी निश्चित बिन्दु पर समाप्त होता है। वह एक अवान्तर कार्य की परिसमाप्ति की सूचना भी देता है। ठीक यही काम सर्ग भी करता है, पर कडवक इतने छोटे होते हैं कि वे इस सर्ग की उक्त शर्त को पूर्ण नहीं कर पाते। अतएव सन्धि को तो सर्ग अवश्य कहा जा सकता है, पर कडवकों को नहीं। हमारा अपना अनुमान है कि कडवक का विकास लोकगीतों के धरातल पर हुआ है। जब अपभ्रंश में प्रबन्ध-पद्धति का आविर्भाव हुआ और दोहा-छन्द इसके लिये छोटा पड़ने लगा तब अपभ्रंश-कवियों ने मात्रिक-छन्दों की परम्परा पर प्रबन्ध के वहन कर सकने योग्य पद्धडिया-छन्द का विकास किया। १६, २०, २४, २८, ३२, एवं ४८ अर्धालियों के अनन्तर घत्ता छन्द देकर कडवक लिखने की परम्परा आविर्भूत हुई।

लोक-गीतों के विकास से अवगत होता है कि वीरपुरुषों के आख्यान गेय रूप मे प्रस्तुत किये जाते थे। ये गीत किसी-न किसी आख्यान को लेकर चलते थे। गेयता रहने के कारण आख्यान रोचक हो जाते थे। प्राकृत-काल मे भी प्रबन्ध-लोकगीत अवश्य रहे होंगे और इन गीतों का रूप-गठन बहुत कुछ पद्धडिया-छन्द से मिलता-जुलता रहा होगा। यदि यो कहा जाय कि प्रबन्ध-लोकगीतों में व्यवहृत तुकवाला छन्द, जिसका कि मूल उद्देश्य द्वितीय और चतुर्थ चरण की तुक मिलाकर आनन्दानुभूति उत्पन्न करना था, पद्धडिया का पूर्वज है तो कोई अत्युक्ति न होगी। अतः चउमुह कवि के जिस पद्धडिया-छन्द का उल्लेख स्वयम्भू कवि ने किया है, वह निश्चयतः प्रबन्ध-लोकगीत से विकसित हुआ ही होगा। हम अपने कथन की पुष्टि में एक सबल प्रमाण यह उपस्थित कर सकते है कि कडवक ठीक लोक प्रबन्धगीत का वह रूप है, जिसमें लोकगीत-गायक चारुता और सुविधा के आधार पर अपने प्रबन्ध को कई एक गीतो में विभक्त कर विरामस्थल उत्पन्न करता है। ठीक यही परम्परा कडवक की है। इसमें भी एक सन्दर्भांश को कुछ अर्धालियो में निबद्ध कर घत्ता के द्वारा विरामस्थल उत्पन्न कर कडवक का सृजन किया जाता है। अतः कडवक का विकास प्रबन्ध-लोकगीतो की परम्परा से मानना युक्तिसंगत प्रतीत होता है।

कडवक की परिभाषा पर सर्वप्रथम विचार आचार्य हेमचन्द्र ने प्रस्तुत किया है। उन्होंने अपने 'छन्दोऽनुशासन' मे (६।१) में लिखा है :—

सन्ध्यादौ कडवकान्ते च ध्रुवं स्यादिति ध्रुवा ध्रुवकं घत्ता वा।

अपनी संस्कृत-वृत्ति मे स्पष्ट करते हुए उन्होंने बताया है कि—

'चतुर्भिः पद्धटिकाद्यैश्छन्दोभिः कडवकम्। तस्यान्ते ध्रुवं निश्चितं स्यादिति ध्रुवा, ध्रुवकं, घत्ता चेति संज्ञान्तरम्।' अर्थात् चार पद्धडिया छन्दों का कडवक होता है। कडवक के अन्त मे ध्रुवा या घत्ता का रहना आवश्यक है।

भरतमुनि ने अपने नाट्यशास्त्र में 'ध्रुवाभिधाने चैवास्य' (१५।१५) कहकर छन्द के अन्त में ध्रुवा का प्रयोग बताया है। आचार्य हेम ने ध्रुवा की परिभाषा षट्पदी, चतुष्पदी एवं द्विपदी के रूप में प्रस्तुत की है। यथा—

सा त्रेधा षट्पदी, चतुष्पदो द्विपदी च। ६।२

प्रयोगात्मक विधि से कडवक की परिभाषा का विश्लेषण करने पर उसके अनेक रूप हमें उपलब्ध होते है। **जगमेटिया**, जिसके कि प्रत्येक चरण में ८ मात्राएँ, **रविता**, जिसके कि पूर्वार्ध और उत्तरार्ध में २८ मात्राएँ, **मलयविलयसिया**, जिसके प्रत्येक चरण मे ८ मात्राएँ **खंडयं** २३ मात्राओं वाला छन्द, **आवला** २० मात्रावाला छन्द, **हेला** २२ मात्रावाला छन्द, **दुवई**, प्रत्येक अर्धाली मे २८ मात्रावाला छन्द घत्ता के पूर्व पाया जाता है और चरणों की संख्या १४ से लेकर ३० तक पाई जाती है। कडवक के लिये अनिवार्य नियम घत्ता का पाया जाना है। कडवक में छन्द के पदों की कोई निश्चित संख्या नही पायी जाती। पुष्पदन्त ने ६ अर्धालियों से लेकर १३ अर्धालियों तक का प्रयोग कडवक में किया है। इनके हरिवंश में ८३वी सन्धि के १५वें कडवक में १० अर्धालियों के पश्चात् घत्ता का प्रयोग आया है और इसी सन्धि के १६वें कडवक में १२ अर्धालियों के पश्चात् घत्ता आया है। स्वयम्भू ने ८ अर्धालियों के अनन्तर घत्ता छन्द का व्यवहार किया है। यही शैली रामचरितमानस में भी पाई जाती है। महाकवि तुलसीदास ने ८ अर्धालियों अर्थात् चौपाई के बाद दोहे का प्रयोग किया है।

महाकवि जायसी ने अपने पद्मावत में ७ अर्धालियों के पश्चात् दोहा छन्द रखा है। यह छन्द-शैली पुष्पदन्त की कडवक-शैली से प्रभावित है। पुष्पदन्त ने ७ अर्धालियो से लेकर १२ अर्धालियो तक का घत्ता के पूर्व नियोजन किया है।

नूर मुहम्मद की अनुराग-बासुरी में दोहा के स्थान पर बरवै छन्द का प्रयोग पाया जाता है। अर्धालियों की संख्या अपभ्रंश के महाकवि स्वयम्भू और उनके पुत्र त्रिभुवन के समान ही है। अपभ्रंश-काव्य मे घत्ता की मात्राएँ समान नही हैं, अत. हिन्दी का बरवै भी घत्ते का ही रूपान्तर है। सोरठा, बरवै, कुण्डलिया का पूर्वार्ध एवं रोला का विकास भी घत्ता से ही हुआ है। यों तो रोला का प्रयोग अपभ्रंश में पाया जाता है, पर छन्द के विकास-क्रम पर ध्यान देने से स्पष्ट ज्ञात होता है कि घत्ता ने अनेक रूप धारण किये हैं और रोला भी उन्ही अनेक रूपों में से एक है। यही कारण है कि स्वयम्भू और प्राकृत-पैंगलम् इन दोनों के द्वारा प्रतिपादित घत्ता की मात्राओं में भी अन्तर पाया जाता है। अतएव यह निष्कर्ष निकालना सहज ही सम्भव है कि कडवक वह छन्द है जिसमें ७ से लेकर १६ या १८ तक अर्धालियाँ हो और अन्त में एक ध्रुवक या घत्ता का व्यवहार किया गया हो।



अपभ्रंश-साहित्य

और

साहित्यकार

श्री प्रेमसुमन जैन

स्नातक—काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

[अपभ्रंश-साहित्य में उन सभी साहित्यिक-विधाओं का समावेश है, जिनमे आज का साहित्य रचा जा रहा है। तुलनात्मक विवेचन की दृष्टि से देखें तो पुराणग्रन्थों को महाकाव्य, चरितग्रन्थों को प्रबन्धकाव्य, कथाग्रन्थों को खण्डकाव्य तथा फुटकर साहित्य को मुक्तककाव्य की कोटि में सहज ही रखा जा सकता है।……अतः इसमें दो मत नहीं हो सकते कि अपभ्रंश-साहित्य ही आज के साहित्य का जन्मदाता है।]

भारतीय वाङ्मय का मध्ययुग अपभ्रंश-साहित्य का युग है। अन्य भारतीय भाषाओं की तरह अपभ्रंश भाषा भी अपने समय मे काफी समृद्ध एवं लोकप्रिय थी। अपभ्रंश-साहित्य की प्रचुरता एवं समृद्धि इस बात की साक्षी है। हर भाषा सर्व-साधारण में प्रिय एवं प्रसारित हो जाने पर साहित्यिक बाना धारण करती है। तभी वह समृद्ध भाषाओं की कोटि में गिनी जाती है। अपभ्रंश भाषा भी इसी क्रम से पल्लवित हुई है। प्रायः जैन विद्वानों की अमर कृतियां ही अपभ्रंश साहित्य की अनुपम उपलब्धि है। जैनेतर विद्वानों ने जो कुछ भी इसमें लिखा वह साहित्य अपभ्रंश साहित्य का कलेवर तो बढाता है, किन्तु किसी नवीन विधा की सृष्टि नही करता। प्रस्तुत निबन्ध अपभ्रंश भाषा की उत्पत्ति, विकास एवं साहित्यिक-विधाओं के समुचित विवेचन द्वारा यह तथ्य प्रकाश मे लाने की दिशा में है कि वर्तमान भारतीय वाङ्मय को समृद्ध बनाने में अपभ्रंश-साहित्य को प्रकाश में लाने की कितनी महती आवश्यकता है।

उत्पत्ति :

प्रारम्भ में अपभ्रंश शब्द का अर्थ था, शिष्टेतर या शब्द का बिगडा हुआ रूप। पातंजलि और उनके पूर्व के आचार्य उन शब्दों को अपभ्रंश समझते थे, जो संस्कृत भाषा मे विकृत या भ्रष्ट होते थे।[1] भरत मुनि अपभ्रंश को विभ्रष्ट नाम से पुकारते हैं। इस समय तक अपभ्रंश हिमप्रदेश, सिन्धु और सौवीर मे वर्तमान थी।[2] ६ वी सदी के भामह अपभ्रंश को काव्योपयोगी भाषा और काव्य का एक विशेष रूप मानने लगे थे।[3] यद्यपि उस समय की अभी तक कोई रचना प्राप्त नही हुई है।

---

१. शब्दसंस्कारहीनो यो गौरिति प्रयुयुक्षिते।
तमपभ्रंशमिच्छन्ति विशिष्टार्थनिवेशिनम्॥ —वाक्यपदीयम्, प्रथम काण्ड, १४८

२. नाट्य० १७-६२। ३—काव्यालंकार १. १६. २८।

सातवी सदी के दण्डी ने अपभ्रंश को वाङ्मय के एक भेद के रूप में निर्देश किया हैं।[1] आठवी सदी के विद्वान-लेखक उद्योतनसूरि अपभ्रंश को आदरकी दृष्टि से तो देखते ही थे, उसके साहित्य की प्रशंसा भी करते थे।[2] नवी शताब्दी में काव्यालंकार के रचयिता कवि रुद्रट ने अपभ्रंश के आधार पर काव्य के भेद किये है।[3] दसवी सदी के पुष्पदन्त के महापुराण में संस्कृत और प्राकृत के साथ-साथ राजकुमारियो को अपभ्रंश का भी ज्ञान कराया जाता था, ऐसा उल्लेख है।[4] इसी समय के राजशेखर ने काव्यपुरुष के जघन के रूप में अपभ्रंश को स्वीकार किया है।[5]

इसके अनन्तर मम्मट ११ वी, वाग्भट, गुणचन्द्र एवं अमरचन्द १२ वी सदी के ये सब विद्वान अपभ्रंश को संस्कृत और प्राकृत की कोटि की साहित्यिक भाषा स्वीकार करते है। इस तरह अपभ्रंश भाषा का नाम लगभग प्रथम शताब्दी के करीब लिया जाने लगा था। छठवी सदी मे वह साहित्यिक भाषा की सूचक हो गयी थी और ११ वी सदी तक आते-आते अपभ्रंश भाषा व्याकरण और साहित्य मे व्यापक रूप से प्रयुक्त होने लगी थी।[6]

विकास :

विकास की दृष्टि से सोचें तो हमें देखना होगा कि अपभ्रंश भाषा किस तरह साहित्यारूढ़ हुई है; क्योंकि हर भाषा का विकास उसमें होने वाले साहित्य-निर्माण के द्वारा होता है। अपभ्रंश के पूर्व प्राकृत मे ग्रन्थ रचे जाते थे। ५ वी सदी के लगभग प्राकृतो के व्याकरण बने। इससे प्राकृतो में होने वाला साहित्य-सृजन रुक गया। क्योकि व्याकरण में बंध जाने के कारण किसी भी भाषा में अधिक साहित्य-सृजन नही हो पाता। साहित्यिक-प्राकृतो के विकास के रुक जाने से उस समय में प्रचलित बोलचाल की देशी भाषाएँ तीव्र गति से आगे बढ़ी। इनके पूर्व भी उनका प्रसार हो रहा था। इधर वे अपभ्रंश के नाम से विख्यात हो गयीं। धीरे-धीरे उसमे साहित्य भी रचा जाने लगा। १३ वी सदी में अपभ्रंश भाषा अपने पूर्ण विकास पर थी। तभी महाकवि विद्यापति को कहना पड़ा है कि—'संस्कृत बहुतो को अच्छी नहीं लगती और प्राकृत-रसके मर्म से अपरिचित है। देशी भाषा सबको मीठी लगती है, इसलिए मैं उसी मे रचना करता हूँ।'[7] इसके बाद जन-साधारण की भाषा का रूप जरूर बदला, किन्तु अपभ्रंश में १७ वी सदी तक साहित्य रचना बराबर होती रही।

अन्य भाषाओं पर प्रभाव :

अपभ्रंश भाषा का महत्व इससे और बढ़ जाता है कि उसे जैन विद्वानों के अथक परिश्रम के कारण भारतीय भाषाओ की जननी होने का सौभाग्य प्राप्त है। बंगाली, गुजराती, राजस्थानी,

१. काव्यादर्श १-३२। २. अपभ्रंश-काव्यत्रयी भू. ९७-९८। ३. काव्या० २.११।
४. महापुराण ५.१८.६। ५—अध्या. ३ .पृ० ६। ६. अपभ्रंश-साहित्य, हरिवंश कोछड़,।

७. सक्कइ वाणी बहु न भावइ
पाउस रस को मम्म न जानइ।
देसिल बउना सब जन मिट्ठा
ते तैसल जम्पओ अवहट्ठा॥

पंजाबी एवं हिन्दी आदि प्रान्तीय आर्य भाषाएँ अपभ्रंश से ही प्रसूत मानी जाती हैं। इन भाषाओं का विकास तत्कालीन प्रचलित सर्व-साधारण की बोलियों से हुआ है। उस समय, लगभग १३वीं सदी से १५वीं सदी तक प्रान्तीय शब्दों और रूपों के मेल से एक भाषा विकसित हुई थी, जिसे अवहट्ठ कहा गया है। वस्तुतः यह अवहट्ठ भाषा ही आधुनिक भारतीय भाषाओं और अपभ्रंश के बीच की कड़ी है।[1]

अपभ्रंश भाषा के अनेक भेदों से अलग-अलग प्रान्तीय भाषाएँ प्रसूत हुई हैं। शौरसेनी अपभ्रंश से ब्रजभाषा, खड़ीबोली, राजस्थानी, पंजाबी, गुजराती एवं पहाड़ी भाषाओं का सम्बन्ध है। मागधी अपभ्रंश से भोजपुरी, उड़िया, बंगाली, आसामी, मैथिली एवं मगही का विकास हुआ और अर्धमागधी अपभ्रंश से पूर्वी हिन्दी एवं अवधी का। ये प्रान्तीय भाषाएँ १०वीं सदी से अपभ्रंश के साथ चलने लगी थी। १३-१४ वीं सदी तक ये भाषाएँ अपभ्रंश साहित्य से प्रभावित दिखायी देती है, किन्तु उसके बाद अपभ्रंश साहित्य भी इन प्रान्तीय भाषाओं से प्रभावित होता रहा है।[2] विषय-विस्तार के भय से यहाँ उद्धरण उपस्थित नहीं किये जा सकते।

प्रायः विद्वान्, अधिकतर जैन, अपभ्रंश-साहित्य में जैन विद्वानों के योगदान की चर्चा करते अधिक नजर आते है। किन्तु मेरे विचार से तो इस ढंग से सोचना भी अपभ्रंश-साहित्य के प्रति ईमानदारी नहीं है। योगदान तो वहाँ होता है जहाँ कोई व्यक्ति किसी सम्पूर्ण कार्य मे कोई एक अंश की पूर्ति करे। यहाँ तो प्रायः सम्पूर्ण अपभ्रंश-साहित्य जैन विद्वानों की लेखनी द्वारा प्रसूत हुआ है। जैनेतर कवियों ने तो उसके लालन पालन में थोड़ा हो सहयोग प्रदान किया है। अब देखना हमें यह है कि अपभ्रंश-साहित्य के इन मनीषियों ने अपनी अमर कृतियों द्वारा उन किन-किन साहित्यिक विधाओं का श्रीगणेश किया है, जिनसे आज हिन्दी-साहित्य दिनोंदिन समृद्ध होता चला जा रहा है।

अन्य भाषाओं की तरह अपभ्रंश में भी जैन विद्वानों द्वारा पुराण, चरित तथा कथा-ग्रन्थों का निर्माण हुआ है। वैसे अधिकतर यही विधाएँ अपभ्रंश साहित्य मे अधिक पायी जाती है, किन्तु रासा, स्तुतिपूजा विषयक साहित्य तथा आध्यात्मिक, सैद्धान्तिक और औपदेशिक साहित्य की भी कमी नहीं है।[3] साहित्य के इन रूपों के अन्तर्गत हमें महाकाव्य, खण्डकाव्य, मुक्तककाव्य, रूपक-काव्य आदि सभी आधुनिक विधाओं का दिग्दर्शन मिल जाता है।

अपभ्रंश-साहित्य मे पुराण, चरित एवं कथा साहित्य ही क्यों अधिक पाया जाता है, इसके भी कारण है। अपभ्रंश-साहित्य के अधिकांश ग्रन्थ जैनाचार्यों ने श्रावकों के अनुरोध से लिखे हैं। उस समय इन विद्वानों का प्रमुख उद्देश्य अपनी रचनाओं द्वारा जन-साधारण तक नैतिक भावना का पहुँचाना था; आध्यात्मिक एवं नैतिकता का वातावरण समाज में उत्पन्न करना था। अतः महापुरुषों की जीवनियों एवं उनके अलौकिक रूप से परिचित कराने की दशा में पुराणों का

---

१. अपभ्रंश प्रकाश पृ० २१,२२।

२. अपभ्रंश साहित्य, कोछड़।

३. अनेकान्त फाइल, वर्ष ११, किरण ७।

प्रणयन हुआ। चरित-ग्रन्थ विशेष-पुरुषों के आचरणों से शिक्षा ग्रहण करने-कराने के उद्देश्य से निर्मित हुए एवं कथा-साहित्य वर्तमान जीवन में आनन्द एवं मनोरंजन की व्यापकता लाने के अर्थ सृजित हुआ, जिससे सहज ही में जन-साधारण अनेक शिक्षाएँ भी ग्रहण करता रहा। कथा के माध्यम को अपनाने में जैनाचार्यों की मनोवैज्ञानिकता तो प्रगट होती ही है, साथ ही वे कुशल-उपदेशक भी कम सिद्ध नहीं होते। इस तरह अपभ्रंश-साहित्य में पुराण, चरित एवं कथा-साहित्य की बहुलता स्वाभाविक है।

पुराणग्रन्थ :

अपभ्रंश-साहित्य में पुराण-ग्रन्थों का अन्य साहित्य की अपेक्षा अधिक महत्व है। प्रायः पुराण-ग्रन्थों में जैन कवियों ने त्रेसठ-शलाका पुरुषों के चरित वर्णित किये हैं। कहीं-कहीं पुराण-ग्रन्थों की कथावस्तु में कुछ परिवर्तन भी दृष्टिगोचर होता है। अपभ्रंश-पुराणग्रन्थों में २४ तीर्थंकरों के चरितों की अधिकता दिखायी देती है। तीर्थंकरों के सम्पूर्ण जीवन की झांकी इन पुराणों में मिलती है, किन्तु कहीं-कहीं किसी एक पक्ष का उद्घाटनमात्र भी प्राप्त होता है।

अपभ्रंश-साहित्य के पुराण-ग्रन्थों का वर्गीकरण दो तरह से किया जा सकता है। प्रथम वे पुराण-ग्रन्थ हैं, जिनमें २४ तीर्थंकरों का वर्णन है। द्वितीय वे कृतियाँ हैं, जिनमें तीर्थंकरों के अतिरिक्त अन्य महापुरुषों की जीवनियों का उल्लेख है। इस कोटि में महाकविधवलकृत हरिवंशपुराण, पुष्पदन्तकृत महापुराण, श्रुतकीर्त्तिकृत हरिवंशपुराण, रइधूकृत पद्मपुराण, यशःकीर्त्तिकृत पाण्डव-पुराण एवं हरिवंशपुराण तथा पद्मकीर्त्तिकृत पार्श्वपुराण ये अमर कृतियाँ आती हैं। प्रथम कोटि के पुराण-साहित्य में अभी तक निम्न तीर्थंकर-चरितों का उल्लेख मिलता है।

(१) पासणाहचरिउ (पद्मकीर्त्ति), (२) पासणाहचरिउ (श्रीधर), (३) णेमिणाहचरिउ (हरिभद्र), (४) पउमचरिउ (स्वयम्भू), (५) पासणाहचरिउ (असवाल), (६) वड्ढमाणकब्बु (जयमित्रहल्ल), (७) सम्मइणाहचरिउ (रइधू), (८) वड्ढमाणकहा (नरसेन), (९) णेमिणाह-चरिउ (लक्ष्मण), (१०) चंदप्पहचरिउ (यशःकीर्ति) तथा (११) संतिनाहचरिउ (महीचन्द्र)।

इस तरह कुल मिलाकर करीब १८-२० ग्रन्थ पुराण-साहित्य की निधि कहे जा सकते हैं। हो सकता है, यह संख्या तब और वृद्धि को प्राप्त हो, जब किसी परिश्रमी एवं विद्वान व्यक्ति का सर्वस्व जैन ग्रन्थभण्डारों के अन्वेषण में अर्पित हो।

चरित-ग्रन्थ :

अपभ्रंश चरित-ग्रन्थों में अधिकतर तत्कालीन प्रसिद्ध महापुरुषों का चरित्र-वर्णन मिलता है। प्रायः ये ग्रन्थ धर्म के आवरण से आवृत हैं। उसका प्रमुख कारण यह है कि जैन कवि लेखक के साथ-साथ उपदेशक अधिक थे। अतः उन्होंने अपनी कृतियों द्वारा ही धार्मिक एवं नैतिक भावना को जन-साधारण तक अधिक पहुँचाया है। अनेक चरित ग्रन्थों में आश्रयदाताओं की प्रशस्तियाँ भी प्राप्त होती हैं। लगता है जैन कवि उपकार को भूलने वाले नहीं थे। प्रायः सभी चरित-काव्यों में आश्चर्यत्व एवं चमत्कार बहुलता से दिखायी देता है। वर्णन तो इतना रोचक है कि यदि इन चरितकाव्यों को पद्यबद्ध उपन्यास कहा जाय तो कोई अत्युक्ति न होगी। यदि अपभ्रंश साहित्य-सृजन के समय गद्य का प्रचार होता तो इसमें कोई शक नहीं उपन्यास-साहित्य भी अपभ्रंश साहित्य की अपनी निधि होता।

अभी तक निम्न चरित-ग्रन्थों का उल्लेख अपभ्रंश-साहित्य में मिला है। इनमें से कुछ ग्रन्थ अनुपलब्ध हैं, शेष प्रकाशन की बाट जोह रहे हैं।

(१) जमहरचरिउ, (२) णयकुमारचरिउ (पुष्पदन्त), (३) जम्बूस्वामिचरिउ (वीर), (४) सुदंसणचरिउ (नयनंदि), (५) पउमसिरिचरिउ (धाहिल), (६) करकंडुचरिउ (मुनिकनकामर), (७) सुकमालचरिउ (श्रीधर), (८) सुलोचनाचरित (देवसेन), (९) श्रेणिकचरित्र (जयमित्रहल), (१०, श्रीपालचरित्र (११) णेमिणाहचरिउ (दामोदर), (१२) सणकुमारचरिउ (हरिभद्र), (१३) पज्जुण्णचरिउ (सिंह), (१४) जिनदत्तचरिउ (लक्ष्मण), (१५) बाहुबलिचरिउ (धनपाल), (१६) सुकोसलचरिउ, (१७) धन्नकुमारचरिउ, (१८) श्रीपाल चरिउ (रइधू), (१९) सिरिपालचरिउ, (२०) णयकुमारचरिउ (नरसेन), (२१) नागकुमारचरिउ, (२२) अमरसेनचरित (माणिक्कराज), (२३) ससिलेहाचरिउ, (२४) मृगांकलेखाचरिउ (भगवतीदास), (२५) मयणपराजय (हरिदेव), (२६) मोहराजविजय आदि।

कथा-ग्रन्थ :

कथा-साहित्य जैन-साहित्य का विशेष अंग रहा है। यह परम्परा अपभ्रंश में भी पूर्ण रूप से निबाही गयी है। जैन कथाकारों का उद्देश्य अपने धर्म के मूलभूत सिद्धान्तों का प्रचार करना था। इसके लिए उन्होंने कथा के माध्यम को ही अपनाया। क्योकि जन-साधारण तक अपनी बात पहुँचाने का सबसे सुगम और सहज माध्यम कथा और कहानी ही है। कथा-संग्रहो के अवलोकन एवं मनन से प्रतीत होता है, वस्तुतः इन कथाकारो ने जन-साधारण के नैतिक एवं सदाचारमय जीवन के स्तर को ऊँचा उठाने में कोई कसर नही रखी। अपभ्रंश के सभी कथा-ग्रन्थो में प्रायः हमे व्रतों का अनुष्ठान, आचरण करने वाले श्रावकों का जीवन-परिचय, व्रतों का स्वरूप, विधान और फल-प्राप्ति के रोचक वर्णन मिलते है।

अपभ्रंश-साहित्य में जैन कवियो द्वारा रचित निम्न कथा-संग्रहो का उल्लेख मिलता है, जिनमे से कुछ ही अनुपलब्ध है। इन कथा-संग्रहों में ५० से लेकर २०० एवं ३६० कथाओं तक का संग्रह एक-एक कथा-ग्रन्थ में मिलता है। इससे अनुमान किया जा सकता है कि कम से-कम इन कथाकारो की लेखनी से हजार-दोहजार कथाएँ प्रसूत हुई है।

(१) कथाकोश (मुनिश्रीचन्द), (२) भविसयत्तकहा (धनपाल), (३) पुरन्दरविहाणकहा (अमरकीर्ति), (४) चन्दणछट्ठीकहा (कवि लक्ष्मण), (५) णिज्झरपंचमीविहाणकहाणक (भट्टारक विनयचन्द्र), (६) जिनरत्ति कहा, (७) रविवउकहा (यशःकीर्ति) (८) अणथमीकहा (९) पुण्णास्सवकहा (रइधू), (१०) अणथमीकहा (हरिचन्द), (११) सिद्धचक्रकथा (नरसेनदेव), (१२-२६) भट्टारक गुणभद्रकृत अणंतवयकहा आदि १५ कथाएँ, (२७) सोखवईविहाणकहा (विमलकीर्ति), (२८) सुयंधदसमीकहा (देवदत्त), (२९) रविवउकहा, (३०) अणंतवयकहा (मुनि नेमिचन्द्र) एवं (३१) तिद्दुहसत्तमीकहा (मुनि बालचन्द) आदि।

फुटकर साहित्य :

पुराण, चरित एवं कथा-ग्रन्थों के अतिरिक्त अपभ्रंश-साहित्य में जैन विद्वानों द्वारा रचित अनेक फुटकर ग्रन्थ भी उपलब्ध होते हैं। इनको अपनी महत्ता भी कम नहीं है। इन ग्रन्थों में किसी

एक पक्ष को लेकर धार्मिक एवं नैतिक भावनाओं का चित्रण किया गया है। अनेक ग्रन्थ नीति-शास्त्र भी कहे जा सकते हैं। ये सब स्वतन्त्र रचनाएँ हैं, जिनमें अधिकतर संसार की अनित्यता को लेकर उपदेश दिये गये है। फुटकर साहित्य के कुछ प्रमुख ग्रन्थ निम्न हैं :—

(१) परमात्मप्रकाश, (२) योगसार (योगीन्दु), (३) पाहुडदोहा (मुनि रामसिंह), (४) वैराग्यसार (सुप्रभाचार्य) (५) दोहापाहुड (मुनि महचन्द्र), (६) आनन्दानन्दस्तोत्र (आनन्द), (७) सावयधम्मदोहा (देवसेन), (८) कल्याणकवर्णन (मनसुख), (९) कालस्वरूपकुलक (जिनदत्तसूरि), (१०) भावनासंधिप्रकरण (जयदेवमुनि), (११) रोषवर्णन (गोयम), (१२) संयममंजरी (महेश्वरसूरि), (१३) सुभाषितरत्नसार, (१४) षट्कर्मोपदेश (अमरकीर्त्ति), (१५) चूनड़ी (विनयचन्द्रमुनि) आदि।

इन ग्रन्थो के अतिरिक्त अपभ्रंश-साहित्य में हमें एक प्रकार के और कुछ ग्रन्थ ऐसे मिलते हैं जिनकी विधा अपभ्रंश-साहित्य से ही प्रसूत हुई है। वे है—रासाग्रन्थ। (१) उपदेशरसायनरास, (२) नेमिरास, (३) अन्तरंगरास, (४) जम्बूस्वामीरास, (५) समरास तथा (६) रेवतगिरिरास जैन-कवियों द्वारा प्रणीत रासासाहित्य की प्रमुख रचनाएँ हैं।

इस तरह हम पाते है कि अपभ्रंश-साहित्य में उन सभी साहित्यिक विधाओं का समावेश है, जिनमे आज का साहित्य रचा जा रहा है। तुलनात्मक विवेचन की दृष्टि से देखें तो पुराण-ग्रन्थों को महाकाव्य, चरित-ग्रन्थों को प्रबन्ध-काव्य, कथाग्रन्थों को खण्ड-काव्य तथा फुटकरसाहित्य को मुक्तककाव्य की कोटि में सहज ही रखा जा सकता है। इन विधाओं के लक्षण एवं समस्त विशेषताएं उपरोक्त वर्गीकरण के ग्रन्थो में परिलक्षित होती हैं। अतः इसमें दो मत नहीं हो सकते कि अपभ्रंश-साहित्य ही आज के साहित्य का जन्मदाता है।

अपभ्रंश भाषा जन-साधारण की भाषा होने से वैसे ही अधिक प्रिय थी, किन्तु कवियों ने विविध छन्दो द्वारा जो इसके साहित्य मे सरसता और मधुरता का समावेश किया है, उसके कारण आज भी अपभ्रंश साहित्य पढते समय मन झूम उठता है। रड्ढा, ढक्का, चौपई, पद्धड़िया, दोहा, सोरठा, घत्ता, दुवई, मंसरिणि, भुजगंप्रयात्, दोधक और गाहा वे प्रमुख छन्द हैं, जिनमें प्रायः सम्पूर्ण अपभ्रंश-साहित्य रचा गया है। इससे सहज अनुमानित है, जैन विद्वानों का छन्द-शास्त्र में भी कितना अधिकार था।

अपभ्रंश-साहित्य से सम्बन्धित जितनी अधिक सामग्री हमें प्राप्त होती है, उतनी ही कम मात्रा में अपभ्रंश-साहित्यकारों के जीवन-परिचय उपलब्ध हैं। बहुत ही कम कवियों ने अपनी कृतियों के साथ जीवन-वृत्तांत का उल्लेख किया है। फिर भी कुछ प्रमुख कवियों का जीवनचरित जानने की हम कोशिश करेंगे। सभी का जीवन चरित जानने में अभी बहुत समय लगेगा।

(१) **चतुर्मुख**—कवि चतुर्मुख अपने समय के प्रमुख एवं प्रसिद्ध कवि थे। इनका समय ८ वीं सदी माना जाता है। इनकी तीन कृतियो—हरिवंशपुराण, पउमचरित और पंचमीचरित का उल्लेख है, किन्तु इनमें से एक भी उपलब्ध नही है।

(२) **महाकवि स्वयम्भू**—अपभ्रंशसाहित्य के जन्मदाता के रूप में इनका नाम लिया जाता है। इनके पिता का नाम मारुतदेव, माता पद्मिनी थीं। ये ९ वीं सदी के प्रतिष्ठित विद्वान थे। इनकी तीन पत्नियाँ थी। अन्तिम पत्नी सुअव्वा के पुत्र का नाम त्रिभुवन स्वयम्भू था, जिसने

स्वयम्भू के पउमचरिउ नामक ग्रन्थ को पूरा किया था। महाकवि स्वयम्भू के पांच ग्रन्थों का उल्लेख मिलता है, जिनमें दो अनुपलब्ध है।

(३) महाकवि पुष्पदन्त—पुष्पदन्त श्रीकेशव एवं मुग्धा देवी की सन्तान थे। ये प्राकृत, संस्कृत तथा अपभ्रंशभाषा के महापंडित थे। पुष्पदन्त स्वाभिमानी तथा उग्र प्रकृति के व्यक्ति थे। ये बड़े ही निस्पृही थे। प्रेम इनके जीवन का प्रमुख अंग था। इनका समय १० वी सदी का अन्तिम भाग तथा ११ वी का पूर्वार्ध माना जाता है। इनके तीनों ग्रन्थ—महापुराण, नागकुमारचरित एवं जसहरचरिउ प्रकाशित हो चुके हैं।

(४) धवल—कवि धवल आचार्य अम्बसेन के शिष्य थे। पिता नामसूर, माता का नाम केसल्ल था। असग और पद्मकीर्ति के उल्लेख के कारण इनका समय १०वी सदी के लगभग अनुमानित किया जाता है। इनका हरिवंशपुराण अपभ्रंश-साहित्य का प्रमुख ग्रन्थ माना जाता है, जिसमें करीब १८००० श्लोक हैं।

(५) हरिषेण—ये मेवाड़ मे स्थित चित्तौड के निवासी थे। पिता का नाम गोवर्द्धन, माता गुणवती थी। इनका समय ११४४ (ई०) के करीब माना जाता है। धम्मपरिक्खा आपका प्रमुख ग्रन्थ है।

(६) कवि लक्ष्मण—ये १२वी सदी के प्रमुख विद्वान् थे। लक्ष्मण की जगह इन्हे लाखू कवि के नाम से भी जाना जाता है। ये जैसवाल वंश मे उत्पन्न हुए थे। पिता का नाम साहुल था। इनका जिनदत्तचरिउ प्रमुख ग्रन्थ है।

(७) महाकवि रइधू—ये ग्वालियर के निवासी थे। पिता हरिसिंह, माता का नाम विजयश्री था। ये श्रीपाल आचार्य के शिष्य थे। इनका समय १४८१ से १५३६ ई० तक माना जाता है। महाकवि रइधू, आशु कवि थे। इनकी रचनाओं में ऐतिहासिक तथ्यों का उल्लेख अधिक मिलता है। रइधू के कुल मिलाकर २३-२४ ग्रन्थों का उल्लेख मिलता है। अतः इन्होंने अपभ्रंश-साहित्य को सबसे अधिक समृद्ध किया है।

इस तरह अपभ्रंश-साहित्य के और भी प्रमुख कवियो का कुछ जीवन-चरित हमे प्राप्त होता है, उन सबका यहाँ उल्लेख करना सम्भव नही। कुछ कवियो के नाम ही मात्र ज्ञात होते है, किन्तु उनकी रचना से उनके व्यक्तित्व का पता चल जाता है। लेकिन कुछ ऐसे कवियों का भी उल्लेख है, जिनके न जीवन-चरित का पता है, न रचनाओं का। फिर भी उन्हें अपभ्रंश-साहित्य के कवि मानने में हमें संकोच नही होता। इस तरह कुलमिलाकर करीब ९२-९५ जैन कवियों की लेखनी अपभ्रंश-साहित्य के निर्माण में चली है।

यह अपभ्रंश साहित्य और साहित्यकारो का संक्षिप्त परिचय है, इस निबन्ध द्वारा अपभ्रंश-साहित्य का भण्डार और महत्व दर्शाने का ही प्रयास किया गया है। इसमें इतने विशाल अपभ्रंश-साहित्य की सम्पूर्ण-सामग्री आ गयी हो, ऐसी बात नही है। क्योकि कुछ बातें चाहते हुए भी विषय-विस्तार के भय से इसमे नही आ पायी। अन्त में इतना ही कहना है कि अपभ्रंश-साहित्य के अन्तर्गत करीब १७५ ग्रन्थो का उल्लेख है। इनमे से (१) अणुंगचरिउ, (२) अणुपेहा, (३) चंदप्पहचरिउ, (४) झाणपईव, (५) पउमचरिउ, (६) महापुराण, (७) हरिवंशपुराण, (८) वरंगचरिउ, (९) संतिणाहपुराण, (१०) स्वयम्भूव्याकरण आदि २५ ग्रन्थ अनुपलब्ध है।

(१) कुवलयमाला (२) करकंडुचरित (३) पउमसिरिचरिउ, (४) महापुराण, (५) जसहरचरिउ, (६) सोहंथुति, (७) पउमचरिउ, (८) णेमिकुमारचरिउ, (९) कुमारपालप्रतिबोध, (१०) मदणपराजय आदि २०-२१ ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके हैं। शेष करीब १३० ग्रन्थ अप्रकाशित रूप में ग्रन्थ-भंडारों में पड़े विद्वान अन्वेषकों एवं प्रकाशकों की राह देख रहे है।

इसमें कोई शक नहीं कि मध्ययुग का सांस्कृतिक एवं सामाजिक अध्ययन बिना अपभ्रंश-साहित्य को प्रकाश में लाये पूर्ण नही हो सकता। अतः आवश्यकता इस बात की है कि यदि हम चाहते है, मध्ययुग की सभ्यता, संस्कृति जीवित रहे; अनुपलब्ध-अप्रकाशित अपभ्रंशसाहित्य प्रकाश मे आकर हमें एक नवीन दिशादान दे एवं उन अथक परिश्रमी मनीषी-साहित्यकारों की परम्परा अक्षुण्ण रहे, तो अन्वेषण के क्षेत्र में हमें नया कदम उठाना होगा। नये अन्वेषक तैयारकर उन्हें सारी सुविधाएँ जुटानी होंगी। तभी अपभ्रंश-साहित्य का सितारा चमकेगा।



हेमचन्द्र के अपभ्रंश व्याकरणोद्धृत पद्यों
का
तुलनात्मक अध्ययन

प्रो० शालिग्राम उपाध्याय

[आचार्यप्रवर हेमचन्द्र के अपभ्रंश-व्याकरणोद्धृत पद्योंपर विचार करने वाले समीक्षकों ने बताया है कि उनमें से अनेक पद्य भिन्न-भिन्न स्थानों से लेकर या तो उसी रूप में या कुछ परिवर्त्तनों के साथ संगृहीत हैं। यहाँ उन्हीं का समीक्षात्मक एवं तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया गया है।]

हेमचन्द्र के अपभ्रंश-व्याकरणोद्धृत पद्यों पर विचार करने वाले समीक्षको ने बताया है कि उनमें से अनेक पद्य भिन्न-भिन्न स्थानों से लेकर या तो उसी रूप मे या कुछ परिवर्तनों के साथ संगृहीत है। कई विद्वानो ने अनेक पद्यो के मूल रूपो का पता भी लगाया है। यहाँ उन पद्यो का तुलनात्मक अध्ययन किया गया है, जो या तो उसी रूप मे या कुछ परिवर्तनो के साथ हेमचन्द्र से पूर्व या उनके बाद प्राप्त होते है।

हेमचन्द्र का समय १०८८-११७२ ई० तक माना जाता है। उनसे पूर्व १००० ई० के आस-पास 'पाहुडदोहा' के रचयिता रामसिंह ने पाँच ऐसे दोहे दिये हैं, जो बहुत कम परिवर्तनो के साथ हेमचन्द्र के अपभ्रंश-व्याकरण में मिलते है।

रामसिंह १. 'सयलु वि कोवि तडप्फडइ सिद्धत्तणहु तणेण।
सिद्धत्तणु परि पावियइ चित्तहं णिम्मल एण॥" (पाहुड० ८८)

[सभी-कोई सिद्धत्व के लिए तड़फड़ाता है। पर सिद्धत्व चित्त के निर्मल होने से ही मिल सकता है।] हेमचन्द्र ने इसमे परिवर्तन किया है—

"साहु वि लोउ तडप्फडइ बड्डत्तणहा तणेण।
वड्डप्पणु परिपाविग्राइ हत्थिं मोकलडेण॥" (८।४।३६६।१)

हेमचन्द्र ने 'सर्व' के स्थान पर 'साहु' प्रयोग का यह उदाहरण दिया है। इस प्रकार उन्होने पाहुड के 'सयलु' का संशोधन किया है। सिद्धत्तण के स्थान पर 'बड्डत्तण' या 'वड्डप्पणु' रख कर एवं 'चित्तहं णिम्मल एण' की जगह 'हत्थिं मोकलडेण' रख कर धार्मिकता के स्थान पर लौकिकता पर विशेष बल दिया है। बड़प्पन के लिए मुक्तहस्त दान का विधान हेमचन्द्र का प्रतिपाद्य है।

रामसिंह का दूसरा दोहा—

२. "छंडेविणु गुणरयणणिहि अग्घथडिहिं घिप्पंति।
तहिं संखाहँ विहाणु पर फुक्किज्जंति ण भंति॥" (पाहुड ०१५१)

[गुणों के रत्नाकर (समुद्र) को छोड़ कर शंख विकी हुई वस्तुओं की ढेर में फेंके जाते हैं और फिर वहाँ उन का क्या विधान होता है ? वे फूंके जाते हैं, इसमें भ्रान्ति नहीं । अर्थात् जो सत्संगति छोड़ देते है उनकी बड़ी दुर्गति होती है । हेमचन्द्र में इसका रूप यों है—

"जे छड्डेविणु रयणनिहि अप्पउं तडि घल्लन्ति ।
तहं संखहं विट्टालु पर फुक्किज्जंत भमन्ति ॥" (हे० ४२२।३)

यहाँ हेमचन्द्र ने 'छंडेविणु' को 'छड्डेविणु' तो किया ही, द्वितीय चरण को एकदम बदल दिया है । 'तहिं' को 'तहं' एवं 'विहाणु' को 'विट्टालु' कर दिया है । इसी प्रकार 'फुकिज्जंत ण भंति' की जगह 'फुक्किज्जंत भमन्ति' कर के हेमचन्द्र ने पाहुडदोहे में पर्याप्त परिवर्त्तन किया है । वास्तव में यह उदाहरण 'विट्टालु' के लिए है जो अस्पृश्य-संसर्ग के लिए अपभ्रंश में प्रयुक्त होता है ।

३. रामसिंह का तीसरा दोहा है--

"अखइ णिरामइ परमगइ अजवि लउ ण लहंति ।
भग्गी मणहण भंतडी तिम दिवहडा गणंति ॥" (पाहुड० १६६)

[अक्षय, निरामय परमगति में अभी तक लय को प्राप्त नहीं होते और मन की भ्रांति मिटी नहीं, इसी प्रकार दिन गिनते है । अर्थात् आत्मा में लीन हुए बिना सच्चा आत्मकल्याण नहीं हो सकता]

हेमचन्द्र के यहां इसे निम्नलिखित रूप में देखते हैं—

"प्राइव मुणिहँ वि भंतडी तें मणिअडा गणंति ।
अखइ निरामइ परम पइ अजवि लउ न लंहंति ॥" (४१४।२)

"प्राइव' के प्रयोग के लिए हेमचन्द्र ने यह उदाहरण दिया है । अतः हेमचन्द्र ने 'प्राइव' तो जोड़ ही दिया है । इसके अतिरिक्त मणियों की गणना करने की बात करके 'दिवहडा' की गणना की अपेक्षा दोहे को अधिक सरस और उत्कृष्ट बना दिया है ।

४. रामसिंह का चौथा दोहा है—

"जिम लरेणु विलिज्जइ पाणियहं तिम जइ चित्तु विलिज्ज ।
समरसि (०स) हूवइ) (०उ) जीवडा काई समाहि करिज्ज ॥" (पाहुड० १७६)

[जैसे लवण पानी में विलीन हो जाता है वैसे यदि चित्त विलीन हो गया, तो जीव समरस हो गया और समाधि में क्या किया जाता है ।]

इसी प्रकार का एक दोहा बौद्ध-सिद्ध-कवि कण्हपा (१०वीं शती ई०) के दोहा-कोश में मिलता है—

"जिम लोणु बिलिज्जइ पाणिएहि, तिम घरणी लइ चित्त ।
समरस जाई तक्खणे, जइ पुणु ते समणित्त ॥"

जैसे पानी से मिलकर लवण समरस हो जाता है उसी प्रकार गृहिणी चित्त से मिले तो समरसता हो । हेमचन्द्र ने लिखा है—

"लोणु विलिज्जइ पाणिएँण अरि खल मेह म गज्जु ।
वालिउ गलइ सु झुम्पडा गोरी तिम्मइ अज्जु ॥" (४१८।५)

हेमचन्द्र ने पाहुड दोहे का भावात्मक संशोधन भी किया है। समाधि संबंधी समरसता अर्थात् दार्शनिकता से ऊपर उठा कर अपने दोहे के द्वारा उन्होंने रतिवृत्ति को जागरित करने का प्रयत्न किया है। अतः उनका दोहा लौकिक शृंगारिक हो गया है।

५. रामसिंह का पाँचवा दोहा है—

जइ इक्कहि पावीसि पय अंकय कोडि करीमु ।
णं अंगुलि पय पयडणहं जिम सव्वंगय सीसु ॥ (पाहुड० ९७७)

[यदि एक ही पद को पा गया, तो अमृत कौतुक करूँगा, जैसे उँगली, पद प्रकट करने से अवश्य शेष अंग प्रकट हो जाते है।]

इसका परिवर्त्तित रूप हेमचन्द्र के दोहे मे यों है—

"जइ केवइँ पावीसु पिउ अकिआ कुड्डु करीमु ।
पाणिउ णवइ सरावि जिवं सव्वङ्गे पइसीसु ॥" (३९६।४)

इस दोहे मे भी हेमचन्द्र ने शृङ्गारिकता लाकर इसे सरस बना दिया है। इस तरह हम देखते हैं कि हेमचन्द्र ने उपर्युक्त पाहुड-दोहो को संशोधित एवं परिष्कृत किया है। उन्हें दार्शनिकता या धार्मिकता से उठाकर साहित्यिक बना दिया है। भाषा की दृष्टि से भी हेमचन्द्र ने उपर्युक्त दोहो को परिष्कृत किया है। हेमचन्द्र का अपभ्रंश Standerd (प्रतिमित) अपभ्रंश है। उपर्युक्त पाहुड दोहो की चर्चा डॉ० हीरालाल जैन ने पाहुडदोहा की भूमिका में की है।

एक दूसरे कवि है जैन मुनि जोइन्दु (योगीन्द्र)। इनका समय भी १००० ई० के आसपास माना जाता है। इनके द्वारा रचित 'परमप्पपयास' (परमात्मप्रकाश) में भी तीन ऐसे दोहे मिलते है जिनका सम्बन्ध हेमचन्द्र के अपभ्रंश-व्याकरणोद्धृत पद्यों से जोड़ा जा सकता है। प्रथम दोहा है—

१. पंचहं णायकु वसि करहु जेण होन्ति वसि अण्ण ।
मूल विणट्ठइं तरुवरहं अवसइं सुक्कहिं पण्ण ॥ (२७१)

[पाँचों के नायक को वश में करो, जिससे अन्य सभी वश में होते है। तरुवर के विनष्ट होने पर पत्ते अवश्य ही सूख जाते हैं।]

इससे तुलनीय हेमचन्द्र का पद्य है—

"जिब्भिन्दिउ नायगु वसि करहु जसु अभिन्नइँ अन्नइँ ।
मूलि विणट्ठे तुंबिणिहे अवसें सुक्कहिं पण्णइँ ॥" (४२७।१)

हेमचन्द्र ने 'अवसें' के प्रयोग के लिए यह उदाहरण दिया है। जोइंदु के यहाँ यह 'अवसइं' है। इन्द्रियों और पर्णों की नपुंसकता ने यहाँ 'अधिन्नइं, अन्नइं, 'पण्णइँ' कराकर दोहे का रूप बिगाड़ दिया है। हेमचन्द्र ने छन्द की दृष्टि से इसमें परिवर्त्तन कर दिया है। संभव है कई स्वरों को गटकते हुए कोई इसे दोहे के समान भी पढ़े। जोइंदु का दूसरा दोहा है--

२. "बलि किउ माणुस जम्मडा देक्खंतहं पर सारु ।
जइ उट्ठब्भइ तो कुहइ अह डज्झइ तो छारु ॥"

[परम-तत्त्व को देखते हुए मनुष्य-जन्म को बलि कर दो अथवा मनुष्य का जन्म जो, देखने में परमोत्कृष्ट लग रहा है, उसकी बलि कर दो; क्योंकि यदि इसे (पानी या मिट्टी में) रखा जाय तो सड़ जाता है और यदि जलाया जाय तो छार हो जाता है।] यहाँ मनुष्य-शरीर की नश्वरता पर ध्यान आकृष्ट किया गया है जिससे परम तत्त्व प्राप्त किया जा सकता है। हेमचन्द्र का निम्नलिखित दोहा तुलनीय है—

"आयहो दंड कलेवरहो जं वाहिउ तं सारु।
जइ उट्ठब्भइ तो कुहइ अह डज्झइ तो छारु॥" (३६५।३)

हेमचन्द्र ने यहाँ पूर्वार्द्ध परिवर्तित कर दिया है। मानव-शरीर की नश्वरता नहीं, प्रत्युत उसकी क्षणिकता में भी सारतत्त्व की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट किया है।

परमप्पपयास का तीसरा दोहा है—

३— "संता विसय जु परिहरइ बलि किज्जउं हउं तासु।
सो दइवेण जि मुंडियउ सीसु खडिल्लउ जासु॥" (२७०)

[विषयों के रहते हुए जो उनका परिहार करता है उसको मैं बलि करता हूँ (जाता हूँ) जिसका शिर खडिल्ल है—जो खल्वाट है अर्थात् जो गंजा है वह तो दैव द्वारा ही मुंडित किया गया है। 'विकारहेतौ सति विक्रियन्ते येषां न चेतांसि त एव धीराः।' के द्वारा कालिदास ने उन्हें धीर कहा है। जोइंदु का उपर्युक्त दोहा हेमचन्द्र के निम्नलिखित दोहे से तुलनीय है—

"सन्ता भोग जु परिहरइ तसु कन्तहों बलि कीसु।
तसु दइवेण वि मुण्डियउँ जसु खल्लिहडउँ सीसु॥" (३८९।१)

यहाँ 'विसय' का 'भोग' और 'खडिल्लउ' का 'खल्लिहडउ' तो हो ही गया है, बीच में 'कन्त' का भी आगमन हो गया है।

इससे भाव-साम्यवाला एक छन्द दशवैकालिक में द्रष्टव्य है—

वत्थगन्धमलंकारं इत्थीओ सयणाणि य।
अच्छन्द जे न भुञ्जन्ति न से चाइत्ति वुच्चइ॥
जे य कन्ते पिये भोए लद्धे विप्पिट्ठि कुव्वइ।
साहीणे चयइ भोए से हु चाइत्ति वुच्चइ॥—(दशवै० ११।२, ३)

हेमचन्द्र के अपभ्रंश-व्याकरणोद्धृत दोहों के संबंध में जर्मन विद्वान रिचार्ड पिशेल का कथन है[1] कि "उन्हें (हेमचन्द्र के दोहों को) देखकर कुछ ऐसा लगता है कि वे किसी ऐसे संग्रह से लिए गए हैं जो सतसई के ढंग का है, जैसा कि त्साखारिआए (गोएटिंगिशे गेलेर्ते आन्त्साइगेन १८८४ पे ३०६) ने बताया है। हेमचन्द्र के पद ४।३५७।२ और ३ सरस्वतीकंठाभरण के पेज ७६ में मिलते हैं जहाँ उनकी सविस्तर व्याख्या दी गई है। इसके अतिरिक्त हेमचन्द्र ४।३५३; चंड २.२७ पेज ४७ में मिलता है।...हेमचन्द्र ४।४२०।५ सरस्वतीकंठाभरण के ९८ में मिलता है और ४।३६७.५ शुकसप्तति के पेज १६० में आया है।

---

१. डॉ० हेमचन्द्र जोशी द्वारा अनूदित प्राकृत भाषाओं का व्याकरण।

यहाँ यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि पिशेल ने हेमचन्द्र के ४।३५७,२ और ३ जिन दो छन्दों की चर्चा की है वे वस्तुतः दो छन्द नहीं अपितु एक ही छन्द है और वह भोजराज (१०५७ ई०) के सरस्वती कंठाभरण (काव्यमाला ९४ द्वितीयावृत्ति १९३४ ई०) के प्रकीर्ण-पद्मा के उदाहरण में दूसरे परिच्छेद के ७६ वें उदाहरण के रूप में सचमुच सुदीर्घ व्याख्या के साथ उपलब्ध है। उदाहरण द्रष्टव्य है—

१. "एक्कहिँ अच्छिहिँ सावणु अण्णहि भद्दवउ
माहउ महिअल सत्थरि गण्डत्थल सरउ।
अङ्गहिँ गिह्म सुहच्छिइ तिलवण मग्गसिरु
मुद्धिहिँ मुहपङ्कअसरि आवासिउ सिसिरु॥" (२।७६)

हेमचन्द्र का परिवर्तन है—एक्कहि अक्खिहि गण्डत्थलें, गिह्म, सुहच्छी, तिलवणि, एवं 'तहे मुद्धहे मुहपङ्कइ आवासिउ सिसिरु।'

यहाँ हम देखते हैं कि हेमचन्द्र का ३५७।२ जो संभवतः रासक या आभाणक छन्द है, कुछ परिवर्तनों के साथ सरस्वतीकंठाभरण में प्राप्त है। 'तहे मुद्धहे मुहपंकइ' का प्रमुख परिवर्तन हेमचन्द्र में अधिक सरस है। सरस्वतीकंठाभरण में भी यह उदाहरण अन्यत्र से लिया प्रतीत होता है। इसी प्रकार एक दूसरा स्थल, जिसकी चर्चा पिशेलने की है, निम्नलिखित परिवर्तित रूप में विरोधमूलक असंगति के उदाहरण के रूप में यों प्राप्त होता है—-

२. "सा उप्पडो गोट्ठउहि, णोक्खी कावि विसगण्ठि।
भिडिय पचेल्लिउ सो मरइ, जस्स ण लग्गइ कण्ठि॥"

सरस्वतीकं० (३।६२)

हेमचन्द्र के यहाँ यह है—

"साव सलोणी गोरडी नवखी कवि विसगण्ठि।
भड्डु पच्चलिउ सो मरइ जासु न लग्गइ कण्ठि॥ (४२०।३)

हेमचन्द्र ने दोहे का स्वरूप अक्षुण्ण रखा है। 'साव सलोणी गोरडी' और 'भड्डु पच्चलिउ' आदि परिवर्तनों के द्वारा रसात्मकता भी पर्याप्त आ गई है। हेमचन्द्र के यहाँ यह उदाहरण 'प्रत्युत' के स्थान पर 'पच्चलिउ' आदेश का है किन्तु यह 'पच्चलिउ' सरस्वतीकंठाभरण वाले उदाहरण में 'पचेल्लिउ' है।

इसी प्रकार पिशेल ने शुकसप्तति (समय अभी अज्ञात है) के पृ० १६७ वाले जिस उद्धरण की चर्चा की है, जिसे हेमचन्द्र के ३६७।५ से तुलनीय बताया है वह शुकसप्तति की ५७ वी कथा में निम्नलिखित रूप में मिलता है—

"जइ ससिणेही तउ मुई, जइ जीवइ ससिणेह।
दुहिअ पराअहिं गअधर किं गच्छसि खल गेह॥" (श्लोक २५७)

हेमचन्द्र के यहाँ इसका रूप है—

"जइ ससणेही तो मुइअ, अह जीवइ निन्नेह।
बिंहिवि पयारेंहि गइअ धण किं गज्जहि खल मेह॥" (३६७।४)

स्पष्ट है कि हेमचन्द्र ने इसे भाषा, छन्द और साहित्यिकता तीनों दृष्टियों से सुव्यवस्थित रखा है।

पिशेल ने चंड (जिसे हेमचन्द्र से पूर्व का वैयाकरण माना जाता है) के जिस उद्धरण की चर्चा की है, मैं समझता हूं रेवतीकान्त भट्टाचार्य द्वारा संपादित प्राकृतलक्षण के १।१४ वां सूत्र के रूप में वह प्राप्त है—

"कमलइं मल्लवि अलि उलइं, करि गण्डाइं महंति ।
असुलह एत्थ ण जाहं भलि, ते णवि दूरं गणंति ।।"

यह दोहा हेमचन्द्र के अपभ्रंश-व्याकरण में निम्नलिखित रूप में मिलता है—

'कमलइं मेल्लवि अलि उलइं करि गण्डाइं महन्ति ।
असुलह मेच्छण जाहं भलि, ते णवि दूर गणन्ति ।।' (३५३।१)

हेमचन्द्र के यहां 'मल्लवि' का 'मेल्लवि' 'असुलह एत्थ ण' का 'असुलह मेच्छण' और 'दूरं' का 'दूर' हो गया है। फिर भी चंड के दोहे का विशेष संशोधन नहीं हुआ, वह करीब-करीब वैसा ही है।

हेमचन्द्र के ४।४४७ सूत्र के उदाहरण में जो 'शदमाणुशमंशभालके' आदि गद्यवत् अंश प्राप्त होता है, वह भट्टनारायण (७२५ ई०) कृत वेणीसंहार के तीसरे अंक से लिया गया है। यह एक श्लोक है जो सरस्वतीकंठाभरण में भी उद्धृत है। वेणीसंहार में वह द्रष्टव्य है—

शद माणशमंशभालके कुम्भशहश्श वशाहि शंचिदे ।
अणिशं च पिआमि शोणिदे वलिशशदे शमले हुवीअदि ।।

हेमचन्द्र ने 'माणश' को 'माणुश' और 'शहश्श' को 'शहस्र', 'वशाहि' को 'वशहि' कर दिया है। जो मागधीकी प्रकृति के प्रतिकूल है। संभवतः यह पाठभेद का प्रभाव है। हेमचन्द्र जैसा प्राकृत का प्रकृष्ट आचार्य भाषा-संबंधी ऐसी मोटी भूल नहीं कर सकता। अतः उनके व्याकरण के किसी सुन्दर प्रामाणिक रूप के न मिलने के कारण ऐसी स्थिति अनेकत्र उत्पन्न हो जाती है।

हेमचन्द्र द्वारा उद्धृत ४४८।१ 'हिट्ठ ट्ठिअ' आदि गाहा 'वाक्पतिराज (७३६ ई०) कृत 'गउडवहो' के मंगलाचरण से लिया गया है। वहां 'णिवारणाय' और 'दुरुक्खया' के स्थान पर क्रमशः 'णिवारणाअं' और 'दुरुक्खआ' यश्रुति की अपेक्षा उद्वृत्त स्वर मिलते हैं। यथा—

"हेट्ठ ट्ठिअ सूर णिवारणाअं छत्तं अहो इव वहन्ती ।
जअइ ससेसा वाराह-सास-दुरुक्खआ पुहवी ।।" (मंगलाच० १५)

श्रीचन्द्रशर्मा गुलेरी ने बताया है कि हेमचन्द्र (४०९।१) से 'मुग्गडा हराविआ' वाली गाथा राजशेखर सूरि (१३०० ई०) कृत चतुर्विंशतिप्रबन्धगत श्रावक-प्रबन्ध में भी मिलती है। इसी प्रकार उन्होंने 'पुत्ते जाएं कवणु गुणु' (हेमचं० ३९५।६) से परिवर्तित 'वेटाजायां कवण गुण' की चर्चा की है। इस दोहे के साथ ही 'एइति घोडा' 'एइ थलि' हेमचन्द्र (३३०।४) दोहे को भी कुछ परिवर्तनों के साथ ठाकुर भूरिसिंह जी शेखावत के विविध-संग्रह में हेमचन्द्र के नाम से प्राप्त होने की बात उन्होंने की है। (द्रष्टव्य 'पुरानी हिंदी' पृ० १६ और (१५३)

हेमचन्द्र ४१६।३ वाला दोहा—

"जउ पवसन्तें सहुँ न गय न मुअ विग्रोएँ तस्सु ।
लज्जिज्जइ संदेसडा दिन्हेंहिं सुहय जणस्सु ॥"

अद्दहमाण (राहुलजी के अनुसार समय १०१० ई०) कृत संदेशरासक में

"जसुपवसन्त ण पवसिया मुइअ वियोइण जासु ।
लज्जिज्जउ संदेसउड दिंती पहिय पियासु ॥" (संदे० ७०)

रूप में प्राप्त होता है। संदेशरासक की सरलता देखकर लगता है या तो यह दोहा लोक से अथवा हेमचन्द्र से लेकर प्रकरण के अनुकूल जोड़ गया है अथवा प्रक्षिप्त है। कुछ विद्वानो ने अद्दहमाण का समय हेमचन्द्र के बाद भी बताया है। इस आधार पर संभव है अद्दहमाण ने ही इसे लिया हो और 'जउ' को जसु, 'तस्सु' के स्थान पर 'जास,' और 'जणस्सु' के स्थान पर 'पियासु' कर दिया हो।

पं० गुलेरीजी ने 'पुरानी हिंदी' में सोमप्रभ सूरि (११९५ ई०) की कुछ रचनाओं को उद्धृत किया है, जिनमे कुछ ऐसे उद्धरण हैं जो हेमचन्द्र के अपभ्रंश-व्याकरणोद्धृत दोहों में किंचित् परिवर्तन के साथ पाये जाते हैं। यथा:—

१—माणि पणट्टइ जइ ण तणु तो देसडा चइज्ज ।
मा दुज्जन कर पल्लविहिं दंसिज्जंतु भमिज्ज ॥ (पु० हिं पृ० ८१)

हेमचन्द्र:—माणि पणट्टइ जइ न तणु तो देसडा चइज्ज ।
मा दुज्जण कर पल्लवेंहि दंसिज्जन्तु भमिज्ज ॥ (४१८।४)

परिवर्तन नहीं के बराबर।

२—"मइं जाणियउं पिय विरहियह कविधर होइ वियालि ।
नवरि मयंकु वि तह तवइ जह दिणयरुखयकालि ॥" (पु० हिं पृ० ८८)

हेमचन्द्र के यहां—

मइँ जाणिउँ पिअविरहिअहँ कविधर होइ विआलि ।
णवर मियङ्कु वि तिह तवइ जिह दिणयरुखयगालि ॥ (३७७।१)

हेमचन्द्र का 'णवर', 'तिह', 'जिह' और 'खयगालि' सोमप्रभ के यहाँ 'नवरि', 'तह', 'जह' और खयकालि हो गया है। कोई विशेष परिवर्त्तन नहीं है।

३—"मरगयवन्नह पियह उरि पिय चंपय यह देह। (समस्या)
कसवट्टइ दिन्निय सहइ नाइ सुवन्नह-रेह ॥" (पूर्ति)
(पु० हिं पृ० ८९)

हेमचन्द्र ३३०।१ मे यह तुलनीय है। हेमचन्द्र ने लिखा है—

"ढोल्ला सामला धण चम्पा-वण्णी ।
णाइ सुवण्णरेह कसवट्टइ दिण्णी ॥" (हे० च० ३३०।१)

सोमप्रभ और हेमचन्द्र के छन्द में भी अन्तर है।

४— "चूउउ चुन्नी होइसइ, मुद्धि कवोलि निहित्तु । (समस्या)
सासानलिए झलक्किग्रउ, वाह सलिल संसित्तु ॥" (पूर्ति)

हेमचन्द्र के यहाँ इसका निम्नलिखित रूप द्रष्टव्य है—

"चूडुल्लउ चुण्णी होइसइ मुद्धि कवोलि निहित्तउ ।
सासानलजाल-झलक्किग्रउ वाह-सलिल संसित्तउ ॥" (हे० व्या० ३९५।२)

हेमचन्द्र की अपेक्षा सोमप्रभ के यहाँ दोहा का स्वरूप सुरक्षित है । यह उदाहरण 'झलक' का प्रयोग दिखाने के लिए दिया गया है । सोमप्रभ और हेमचन्द्र दोनों के यहाँ 'झलक्किग्रउ' है । पर हेमचन्द्र के यहाँ 'चूडुल्लउ', 'निहित्तउ' और 'संसित्तउ' है और सोमप्रभ के यहाँ 'चूडउ', निहत्तु और 'संसित्तु' ।

५— 'ग्रम्हे थोडा रिउ बहुय इउ कायर चिंतंति ।
मुद्धि निहालहि गयणयलु कइ उज्जोउ करंति ॥ (पु० हिं० पृ० ९२)

हेमचन्द्र के यहाँ—

'ग्रम्हे थोवा रिउ बहुग्र, कायर एम्व भणन्ति ।
मुद्धि निहालहि गयण-यलु कइ जण जोण्ह करन्ति ॥ (३७६।१)

हेमचन्द्र के यहाँ 'थोवा' सोमप्रभ के यहाँ 'थोड़ा'; हेमचन्द्र के यहाँ 'बहुग्र' उद्वृत्त स्वरयुक्त सोमप्रभ के यहाँ 'बहुय' यश्रुतियुक्त; हेमचन्द्र के यहाँ 'कायर एम्व भणन्ति' है और सोमप्रभ के यहाँ 'इउ कायर चिंतंति', हेमचन्द्र के यहाँ 'कइ जण जोण्ह करंति' सोमप्रभ के यहाँ 'कइ उज्जोउ करंति ।' इस प्रकार इस दोहे मे कुछ परिवर्तन दिखाई पड़ता है । उपर्युक्त उद्धरणों को देखने से हेमचन्द्र के छन्द, जिनमे कुछ छन्दो मे दोहाका लक्षण घटित नही होता, स्पष्ट हो जाते है । हेमचन्द्र के दोहो की स्पष्टता के लिए सोमप्रभ के दोहों का तुलनात्मक अध्ययन महत्त्वपूर्ण है ।

हेमचन्द्र के ३५२।१—"वायसु उड्डावन्ति अए पिउ दिट्ठउ सहस त्ति ।
अद्धा वलया महिहि गय अद्धा फुट्ट तड त्ति ।"

मँजे हुए राजस्थानी रूप की चर्चा पं० चन्द्रधरशर्मा गुलेरी ने यों की है—

"काग उडावण जावंती पिय दीठो महसत्ति ।
आधी चूड़ि काक गल आधी टूट तडित्ति ॥" (पु० हि० पृ० १५)

हेमचन्द्रका—'विप्पिग्र-ग्रारउ जइवि पिउ तो वित ग्राणहि ग्रज्जु ।
ग्रग्गिण ढड्ढा जइ वि घरु तो तें ग्रग्गिं कज्जु ॥ (३४३।२)

प्राकृत पैंगलम् की निम्नलिखित गाहा से तुलनीय है—

जेण विणा ण जिविज्जइ अणुणिज्जइ सो कग्रावराहो वि ।
पत्ते वि णयर डाहे भण कस्स न वल्लहो ग्रग्गी ॥ (१।५५)

हेमचन्द्र के दोहे से भाव-साम्य वाला एक छन्द सरस्वतीकंठाभरण में भी प्राप्त होता है—

"जो जस्स हिग्रग्र दइग्रो दुक्खं देन्तो वि सो सुहं देइ ।
दइग्र णह दूहमाणं वि बड्ढीइ त्थणग्राणं रोमञ्चो ॥ (४।१६१)

[जो जिसके हृदय का दयित है वह दुख देता हुआ भी सुख देता है। प्रिय के नख से क्षत स्तनों पर रोमाञ्च बढ़ता है।

सूरदास के संबंध मे प्रसिद्ध दोहा—

"बाह छुड़ाए जात हो, निवल जानि कै मोहिं।
हिरदय से जौ जाहुँगे मरद बदौगो तोहि॥" श्री हेमचन्द्र के

"बाह विछोडवि जाहि तुहुँ हउ तेवँइ को दोसु।
हिअयठिउ जइ नीसरहि जाणउँ मुञ्ज सरोसु॥ (४३९।३)

नैषधीय-चरित के एक श्लोक में नल के शिर पर स्थिति चिकुर-समूह के दो भागों में बँटे होने की चर्चा है जिसमें श्री हर्ष ने उसके दो दोषो की उत्प्रेक्षा की है। वहाँ एक प्रकार से नल की प्रशंसा ही की गई है—

"विभज्य मेरुर्न यदर्थिसात्कृतो न सिन्धुरुत्सर्गजलव्ययैर्मरुः।
अमानि तत्तेन निजायशो युगं द्विफालबद्धाश्चिकुराः शिरःस्थितम्॥" (१।१६)

अपभ्रंश-व्याकरणोद्धृत दोहो मे भी एक नायिका का भाव अपने पति के संबंध में कुछ इसी प्रकार का है। वह अपने पति के दो दोषों की चर्चा करती है—

महु कन्तहो वे दोसडा हेल्लि म झङ्खहि आलु।
देन्तहो हउं पर उव्वरिअ जुज्झन्तहो करवालु॥ (३७९।१)

हेमचन्द्र के अपभ्रंश दोहों में प्रकृति-निरीक्षण संबंधी निम्नलिखित

दोहा "रवि-अत्थमणि समाउलेण कण्ठि विइण्णु न छिण्णु।
चक्कें खण्डु मुणालिअहे नउ जीवग्गलु दिण्णु॥" (४४४।१)

इससे भाव-साम्यवाला एक श्लोक काव्यप्रकाश मे भी मिलता है, जिसमें गुलेरीजी ने सुभाषितावली से लिया हुआ बताया है। श्लोक निम्नलिखित है—

मित्रे क्वापि गते सरोरुहवने बद्धानने ताम्यति
क्रन्दत्सु भ्रमरेषु जातविरहाशंकां विलोक्य प्रियाम्।
चक्राह्वेन वियोगिना यत्कृतं नास्वादितं नोज्झितं
कण्ठे केवलमर्गलेव विहिता जीवस्य निर्गच्छतः॥

इस तरह देखते हैं कि हेमचन्द्र के अपभ्रंश-व्याकरण में उद्धृत अनेक पद्य उनके पूर्ववर्ती जोइंदु, रामसिंह, भोजराज, चंडभट्टनारायण, वाकपतिराज, अद्दहमाण की रचनाओं से सम्बद्ध है। शुकसप्तति, सुभाषितावली में मिलनेवाले श्लोक या पद्य भी हेमचन्द्र के अपभ्रंश-व्याकरणोद्धृत पद्यो में या तो शब्द-परिवर्तन के साथ या उसी भाव में मिलते हैं। प्राकृतपैंगलम्, नैषधीयचरित आदि ग्रन्थों में भी हेमचन्द्र से भाव-साम्य वाले पद्य हैं। सोमप्रभसूरि, राजशेखर सूरि की रचनाओं में या अनेक राजस्थानी प्रसिद्ध दोहो के रूप में भी हेमचन्द्र के दोहे दिखाई पड़ते हैं। इसी प्रकार अनेकत्र अनेक छन्द बिखरे होंगे, जिनकी ओर विद्वानों का ध्यान जाना चाहिए। जिससे उन दोहो या छन्दों की भाषा-सम्बन्धी और भाव-सम्बन्धी विशेषताओं का सम्यक् निरूपण किया जा सके।

●●●

जैन-साहित्य में ग्राम-चेतना

श्रीरामनाथ पाठक 'प्रणयी'

[जैन साहित्य में जहाँ ग्राम-चेतना निहित है, वहाँ तो उसकी भावभूमि और भी अधिक रस-प्रवण हो उठी है। ग्राम-चेतना के ऐसे मांगलिक स्वर क्रान्तिदर्शी कवीश्वरों की द्राक्षा-स्पर्द्धिनी सूक्तियों एवं तपःसिद्ध ऋषियों की उपदेश-वाणियों में समान रूप से दृष्टिगोचर होते हैं।]

आज से शताब्दियों पूर्व भारत के एक भारतीय ग्राम कुण्डग्राम की सौभाग्य-समृद्धि पर सम्पूर्ण लिच्छवि-जनपद अमन्द आनन्द-मन्दाकिनी की लहरों में हिलोरें लेने लगा था। वह शताब्दि त्रिशला की गोद में अवतीर्ण आलोक-पुंज से जगमग हो रही थी। वह आलोक-पुंज अपने तारुण्य के प्रकर्ष से तत्कालीन विस्तृत मानस-क्षितिज पर छा गया था। वह प्रभा-ज्योति किसी भी प्रकार के मोह मे सर्वथा अनावृत थी।

> सयमेव अभिसमागम्म आयय जोगमायसो हीए,
> अभिणिव्वुडे अमाइल्ले आवकहं भगवं समियासी।

स्वयमेव तत्त्वों को भली प्रकार जानकर आत्मशुद्धिद्वारा मन, वचन, काया के योगों को अपने वश में करके शान्त, माया-रहित भगवान् यावज्जीवन पाँच समितियों एवं तीन गुप्तियों से युक्त थे। भगवान् महावीर तब कुण्डग्राम छोड़ चुके थे।

भारतीय दर्शन एवं साहित्य को कलेवर चाहे बहुत पहले मिल गया हो, किन्तु उसमें आत्मा का सञ्चरण, निश्चय ही, भगवान् महावीर का समकालीन मान्य होगा।

सच तो यह है कि जैन-साहित्य की अन्तिम निर्माण-वेलामें प्राकृत की वीणा अत्यधिक सुरीली हो चुकी थी। जन-जन के प्राणों पर शिशिर-मधुर वाणी का जादू असर कर गया था। तभी तो वाक्पतिराज का यह कथन यथार्थ प्रमाणित हो सका—

> णवमत्थदंसणं सनिवेससिसिराओ बन्धरिद्धीओ,
> अविरलमणिमो आयुवणबन्धमिह णवरपअयम्मि।

[सृष्टि के प्रारंभ से लेकर आज तक प्रचुर परिमाण में नूतन-नूतन अर्थों का दर्शन तथा सुन्दर रचनावाली प्रबन्ध-सम्पत्ति यदि कहीं भी है तो वह केवल प्राकृत में है।]

जयवल्लभ ने तो यहाँ तक कह डाला कि जब युवतियों का ललित, मधुर, प्रिय तथा शृङ्गार-रस-पूर्ण प्राकृत-काव्य उपलब्ध है, तो संस्कृत कौन पढ़े ?

> ललिए महुरक्खरए जुवई-यण-वल्लहे स-सिंगारे
> संते पाइयकव्वे को सक्कइ सक्कयं पढिउं।

प्राकृत की प्रशंसा में राजशेखर का श्लोक भी कम कमनीय नहीं है—

परुसो सक्कय-बंधो पाउअ-बन्धो वि होइ सुउमारो,
पुरिस-महिलाणं जेत्तिअमिहंतरं तेत्तिअमिमाणं ।

[संस्कृत-भाषा कर्कश और प्राकृत-भाषा सुकुमार होती है। पुरुष और स्त्री में जितना अन्तर होता है, उतना ही इन दो भाषाओं में है।]

तो, इस प्रकार यह निर्विवाद सिद्ध है कि जैन साहित्य के रस-रक्त से ओज:—पर्यन्त प्राकृत की सुधा प्रवाहित हो रही है। आज जैन साहित्य के सम्बन्ध मे जन-जीवन से सम्बद्ध यह धारणा निर्मूल हो चुकी है कि जैन-साहित्य केवल धर्म-ग्रन्थों की पोथियों में ही समाहित है। जैन-साहित्य की परवर्त्ती उपलब्धियों के अनुशीलन मे साहित्य-चिन्तकों के समक्ष यह तथ्य अतिरोहित हो चुका है कि इसमें साहित्य की प्रत्येक विद्या का अक्षय वैभव विद्यमान है।

निबन्ध, कथा, आख्यायिका, उपन्यास, चरित-काव्य, प्रबन्ध-काव्य, मुक्तक-काव्य एवं नाटक सब-के-सब अपने चरमोत्कर्ष पर पहुँचे हुए हैं। जैन-साहित्य की भाषागत विशिष्टता के साथ ही उसकी भावगत उत्कर्षता भी इतर साहित्य के लिए स्पर्द्धा की वस्तु है।

जैन साहित्य में जहाँ ग्राम-चेतना निहित है, वहाँ तो उसकी भावभूमि और भी अधिक रस-प्रवण हो उठी है। ग्राम-चेतना के ऐसे माङ्गलिक स्वर क्रांतदर्शी कवीश्वरों की द्राक्षा-स्पर्धिनी सूक्तियों एवं तपःसिद्ध ऋषियों की उपदेश-वाणियों में समान रूपेण श्रुतिगोचर होते है।

सच तो यह है कि साधना की वही पृष्ठभूमि काव्य को अमरता प्रदान कर पाती है, जो सामाजिक उर्वरक से सम्पन्न हो। इस दृष्टि से जैन-साहित्य कला के सर्वोच्च शिखर पर आसीन है। यह प्रत्यक्ष है कि भारतीय समाज का अधिकांश गाँवो के अंचल मे पलता है, जहाँ प्राकृत की पुष्करिणी खिलखिला रही—

चोराणं कामुआणं अ पामर-पहिआणं कुक्कुडो वअइ,
रे रमह वहह वाहयह एत्थ तणु आअए रअणी ।

[अब रात थोड़ी-सी बच रही है, यह सूचित कर, मुर्गा चोरों कामुको एवं पथिकों को सावधान कर रहा है।]

ग्राम-जीवन में मुर्गे की स्थिति उपेक्ष्य नहीं है। 'अभक्ष्यो ग्रामकुक्कुटः', 'जहाँ मुर्गे नहीं होगे, वहाँ सुबह नही होगी' प्रभृति उक्तियाँ कुक्कुटगत ग्राम-चेतना के निर्देशन है।

मज्झे पअणुअपङ्कं अवहोवासेसु साणचिक्खिल्लं,
गामस्स सीसमीमन्तअं व रच्छामुहं जाअं ।

[ग्राम का रास्ता बीच में स्वल्पपङ्क एवं दोनों ओर शुष्कपङ्क धारण करके इसके शीर्षगत सीमन्त जैसा प्रतीत हो रहा है। यहाँ ग्राम-चेतना-समन्वित कल्पना की नवीनता सर्वथा मन:प्राणों को झुमा देती है।]

अप्पाहेइ मरन्तो पुत्तं पल्लीवई पअत्तेण,
मह णामेण जह तुमं ण लज्जसे तह करेजासु ।

[मरता, मृतप्राय, गाँव का मुखिया यत्नपूर्वक अपने पुत्र को यह उपदेश दे रहा है कि बेटा, उस प्रकार काम करना, जिससे मेरा नाम लेने पर कोई तुम्हें लज्जित न करे ।]

मुक्तक की इन पंक्तियों में शाश्वत ग्राम-चेतना लहरा रही है । मुक्तक का यह ग्राम-मुखिया ग्राम-जीवन की उदात्त वृत्ति एवं लोक-मंगल-भावना पर जो अमिट छाप छोड़ता जा रहा है, वह केवल कल्पना की अल्पना से शोभित नहीं, तथ्य एवं यथार्थ से मण्डित है ।

'गावों में अग्रतः सन्तु', 'गावो में पृष्ठतः सन्तु' उक्तियों के रसनाग्रवर्त्तिनी होते ही आँखों में ग्राम-जीवन रूपायित हो उठता है । गायें ग्राम-जीवन में कामधेनु हैं । स्वर्ग के पारिजात धरती की इन कामधेनुओं से पराजित रहते हैं । लोकाराधन में अरण्यों से लेकर गाँवों तक गायों का समान योग है । हर्ष का विषय है कि जैन कवि इस लोकैषणा से पराङ्मुख नहीं हो पाये हैं । देखिए—

तह परिमलिया गोवेण तेण हत्थं पिजा ण ओल्लेइ ।
सच्चिअ धेणू एहिण्हं पेच्छसु कुडदोहिणी जाआ ॥

[देखो, जो धेनु पहले उस गोप द्वारा उस प्रकार दुही जाकर भी उसके हाथ को भी गीला नहीं कर पाती थी, वही घड़ा भर कर दूध दे रही है ।] और भी—

धवलो जिअइ तुह कए धवलस्स कए जिअन्ति गिट्ठीओ ।
जिअ तम्बे अम्हे वि जीविएण गोट्ठं तुमाअत्तं ॥

[हे धेनु, तुम्हारे ही सुख के लिए गोरा बैल प्राण-धारण करता है एवं एक बार प्रसूता धेनुएँ भी उनके सुख के लिए जीवित हैं । तुम बची रहो, अपने जीवन द्वारा तुमने हम लोगों के गोष्ठ को अपने अधीन कर रखा है ।]

इसी प्रकार अधस्तन पंक्तियों में ग्राम के अंक में खिली नवमल्लिका-सदृश मनोज्ञ उपमा की नैसर्गिक छटा दर्शनीय है—

पङ्कमइलेण छीरेक्कपाइणा दिण्णजाणुवडणेण ।
आनन्दिज्जइ हलिओ पुत्तेण व सालिछेत्तेण ॥

[पंक-मलिन, केवल दुग्धपायी एवं घुटनों द्वारा चलनेवाले शिशु की भाँति पंक-मलिन, केवल जलपायी एवं जानुस्थानीय (धान) मृणाल-ग्रन्थिधारणशील शालि (धान्य) क्षेत्र द्वारा हालिक आनन्दोपभोग कर रहा है ।]

वस्तुतः उपमा-उपमेय के इस मणि-कांचन-संयोग का दृश्योपभोग गाँव से बाहर दुर्लभ है ।

वर्णन की रमणीयता का एक दूसरा उदाहरण प्रस्तुत है—

कहँ मे परिणइकाले खलसङ्गो होहिइ त्ति चिन्तन्तो ।
ओण अमुहो ससूओ रुवइ व साली तुसारेण ॥

[मेरे परिणतिकाल में अर्थात् पक्वावस्था में खलिहान एवं दुष्ट-जन-खेल का संग कैसा होगा—यह चिन्ता कर मुख नीचे कर थूक-सहित शालि-धान्य तुषार के बहाने जैसे रो रहा है ।]

ग्राम-पक्षियों में सुग्गे को ग्रामीणों द्वारा जितना प्यारोपहार उपलब्ध होता है, उतना अन्य किसी पक्षी को नहीं । गाँवों के अन्तरंग का निरीक्षण करने पर घर के बरामदों में टँगे हुए पिञ्जर-

गत शुक की हरीतिमा को देख-देख आँखें अघा जाती है। वृक्ष-कोटर से निकलते हुए शुकों की कतार पर दृष्टिपात करते ही जैन कवि की कल्पना की उड़ान विस्मित कर देती है—

उग्रह तरुकोडराग्रो णिक्कन्तं पुंसुआणँ रिञ्छोलिं ।
सरिए जरिओ व्व दुमो पित्तं व्व सलोहिअं वमइ ।।

[देखो, वृक्षकोटर से पुंशुको की पंक्ति निकल रही है। जान पड़ता है कि शरत् में ज्वराक्रांत वृक्ष रक्तमिश्रित पित्त की उलटी कर रहा है।]

कवि की कितनी दूरदर्शिता है। आयुर्वेद का सिद्धान्त है कि 'वर्षासु चीयते पित्तं शरत्काले प्रकुप्यति' वर्षा में पित्तका संचय होता है और शरत् ऋतु में उसका प्रकोप होता है। अतः स्वभावतः बढा हुआ पित्त शरत्काल में शरीर से बाहर निकलने के लिए उपद्रवकारी बन जाता है।

गाँवों के अन्त्यज पंछी कौवे की दुर्दशा भी दर्शनीय है—

धाराधुव्वन्तमुहा लम्बिअवक्खा णिउंचिअग्गोवा ।
वइवेढनेसु काआ सूलाहिण्णा व्व दीसन्ति ।।

[खेतकी मेड़ के ऊपर बैठकर वृष्टिधारा द्वारा धोये हुए मुख, लम्बे पंख एवं फैली हुई ग्रीवा वाले कौए शूलद्वारा विद्ध जैसे प्रतीत हो रहे हैं।]

एक अन्य अतिसूक्ष्म ग्राम्य-कल्पना की किंकिणी-ध्वनिकी सरसता भी आस्वाद्य है—

महिसक्खन्धविलग्गं घोलइ सिंगाहअं सिमिसिमन्तं ।
आहअवीणाझंकारसद्दमुहलं मसअबुन्दं ।।

[भैंसो के कन्धे पर लगे मशकवृन्द सींगों द्वारा आहत होने पर सिम-सिम शब्द करते-करते आहत-वीणा के झंकार की ध्वनि की भांति मुखर हो घूम रहे हैं।]

और भी—

जीहाइ कुणन्ति पिअं भवन्ति हिअअम्मि णिव्वुइं काउं ।
पीडिज्जन्ता विरसं जणन्ति उच्छू कुलीणा अ ।।

[गन्ना जिस प्रकार जिह्वा का स्वाद उत्पन्न करता है, हृदय में ताप निवृत्त कर, शान्ति का विधान करता है एवं निष्पीडित होने पर भी रस उत्पन्न करता है, उसी प्रकार कुलीन व्यक्ति भी जिह्वा अर्थात् अनुकूल वचन द्वारा प्रियता उत्पन्न करते है। हृदय में शान्ति प्रदान करते है, एवं प्रपीडित होने पर भी प्रीति उत्पन्न करते है।]

सोचिए, यह ईख ग्राम का ही रस-स्रोत है न? हाँ, तो उसी गाँव में उपान्त एक सुभग के प्रति किसी ग्रामीण के उक्ति-श्लेषके चमत्कार का आश्लेष कीजिए:—

भुञ्जसु जं साहीणं कुत्तो लोणं कुगामरिद्धम्मि ।
सुहअ सलोणेण वि किं तेण सिणेहो जहिं णत्थि ।

[अपने उद्योग द्वारा जो जुट रहा है, उसीका भोजन करो। गँवई में रन्धन-कार्य के लिए लवण कहाँ मिलेगा? हे सुभग! जिस वस्तु में स्नेह (स्निग्धता) नहीं है, उसके केवल लवण (लावण्य) युक्त होने से क्या लाभ?]

ग्राम-मर्यादा के एक अपर शिल्पका साक्षात्कार करें--

चिरंडि पि अग्राणन्तो लोग्रा लोएहिं गोखग्महिग्रा ।
सोरणार तुले व्व णिरक्खरा वि खन्धेहिं उब्भन्ति ॥

[अनेक व्यक्ति वर्णमाला के ज्ञान से रहित अनेक व्यक्तियों को गौरव में अधिक समझ कर स्वर्णकार की निरक्षर तुला की भाँति, कन्धे पर झुलाकर ढोते हैं ।]

सरस मुक्तक-काव्यों की तरह दर्शन एवं उपदेश-वाणियों में भी ग्राम-चेतना की चमत्कृति के चरण-चिह्न उपलब्ध है । जीव और कर्म के सम्बन्ध के प्रसंग में कथित एक पद्य को मेरे कथन के समर्थन में उपस्थित किया जा सकता है—

जह भारवहो पुरिसो वहइ भरं गिण्हिऊण काउडियं ।
एमेव वहइ जीवो कम्मभरं कायकाउडियं ॥

[जैसे कोई भार ढोनेवाला पुरुष कावड़ के द्वारा भार ढोता है वैसे ही जीव कायरूपी कावड़ के द्वारा कर्मरूपी बोझे को ढोता है ।]

इसी प्रकार सम्यक्मिथ्यात्व गुणस्थान के सम्बन्ध में यह श्लोक स्मरणीय है--

दहिगुडमिव वामिस्सं पुहभावं णेव कारिदुं सक्कं ।
एवं मिस्सयभावो सम्मामिच्छो त्ति णायव्वो ॥

[मिले हुए दही और गुड़ की भाँति जिसका पृथक् स्वभाव नहीं बतलाया जा सकता, ऐसे सम्यक्त्व और मिथ्यात्वरूप मिले हुए परिणाम वाला सम्यक्मिथ्यात्व नाम का तीसरा गुणस्थान है ।]

क्रोध की निन्दा के प्रसंग में प्रस्तुत श्लोक कितनी हृदयस्पर्शिनी ग्राम-चेतना को लक्षित कर रहा है--

जध करिसयस्स धण्णं वरिसेण समजिदं खलं पत्तं ।
डहदि फुलिंगो दित्तो तध कोहग्गी समणसारं ॥

[जैसे खलिहान में इकट्ठे किये गये किसान के वर्षभर के सारे अनाज को एक अग्नि का कण जला देता है वैसे ही क्रोधरूपी आग श्रमणसार अर्थात् श्रमण के तपरूपी पुण्य को जला देती है ।]

दान-फल के स्वरूप-निर्देशन का अवलोकन कीजिए—

जह उत्तमम्मि खित्ते पइण्णमण्णं सुबहुफलं होइ ।
तह दाणफलं णेयं दिण्णं तिविहस्स पत्तस्स ॥
जह मज्झिमम्मि खित्ते अप्पफलं होइ वावियं बीयं ।
मज्झिमफलं विजाणह कुपत्तदिण्णं तहा दाणं ॥
जह ऊसरम्मि खित्ते पइण्णबीयं ण किं पि सहेइ ।
फलवज्जियं वियाणह अपत्तदिण्णं तहा दाणं ॥

[जैसे उत्तम क्षेत्र में बोया हुआ अन्न बहुत फल देता है वैसे ही तीन प्रकार के पात्रों को दिया हुआ दान का फल भी समझना चाहिए । जैसे मध्यम क्षेत्र में बोया हुआ बीज अल्पफल वाला होता है वैसे ही कुपात्र को दिया गया दान मध्यमफलवाला जानना चाहिए । एवं जैसे ऊसर क्षेत्र में

बोया हुआ बीज कुछ भी नहीं उगता है, वैसे ही अपात्र को दिया गया दान भी बिलकुल निष्फल होता है ।]

शील एवं संगति मानव-जीवन की विभूतियां है । जो मनुष्य इन्हें खो देता है, वह अपने जीवन से हाथ धो बैठता है । सच पूछा जाय तो [शील ही विशुद्ध तप है, शील ही दर्शनशुद्धि है और ज्ञानशुद्धि है । शील ही विषयों का दुश्मन है और शील ही मोक्ष का सोपान है ।]

सीलं तवो विसुद्धं दंसणसुद्धी य णाणसुद्धी य ।
सीलं विसयाण अरी सीलं मोक्खस्स सोपाणं ॥

संगति के विषय में तो जितना भी कहा जाय, अल्प ही है ।

देखिए—

तरुणस्स वि वेरग्गं पण्हाविज्जदि णरस्स बुड्ढेहिं ।
पण्हाविज्जइ पाडच्छी वि हु वच्छस्स फरुसेण ॥

[जैसे जिसका दूध सूख गया है, ऐसी भी गाय बछड़े के स्पर्श से प्रस्रावित हो जाती है अर्थात् उसका दूध भरने लगता है वैसे ही तरुण मनुष्यो के भी वृद्धों (विशेष ज्ञानी एवं तपस्वियों) की संगति से वैराग्य उत्पन्न हो जाता है ।]

दु:शील के चित्रण में निम्नांकित श्लोक भी कम आकर्षक नही है—

जहा सुणी पूइकण्णी निक्कसिज्जई सव्वसो ।
एवं दुस्सील पडिणीए मुहरी निक्कसिज्जई ॥

[जैसे सड़े हुए कान वाली कुतिया सब जगह से हटा दी जाती है, उसी तरह दु:शील, ज्ञानियों के प्रतिकूल रहनेवाला और वाचाल मनुष्य सब जगह से निकाल दिया जाता है ।]

एक श्लोक द्वारा परिग्रह के स्वरूप को पहचानने मे कठिनाई नहीं होगी ।

जह कुंडओ ण सक्को सोधेदुं तंदुलस्स सतुसस्स ।
तह जीवस्स ण सक्का मोहमलं संगसत्तस्स ॥

[जैसे तुषसहित तंदुल का अन्तर्मल नही दूर किया जा सकता, उसी प्रकार परिग्रह सहित जीव का भी मोहरूपी मल नही छुड़ाया जा सकता ।]

इस प्रकार ग्राम-चेतना से अनुप्राणित कतिपय सरस, मधुर मुक्तकों के आस्वादन के पश्चात् यह नि:सङ्कोच कहा जा सकता है कि जैन साहित्य में ग्राम-चेतना का सागर निश्चय ही अनन्त अनमोल मणि-मुक्ता-रत्नो से समृद्ध हो महनीय हो रहा है ।

●●●

वैदिक तथा बौद्ध शिक्षा-पद्धति के तुलनात्मक विवेचन सहित

प्राचीन भारत में जैन-शिक्षापद्धति

डा० हरीन्द्रभूषण

विक्रम विश्वविद्यालय, उज्जैन

[जैन संस्कृति में चाण्डालों तक का दार्शनिक शिक्षा पाकर महर्षि बनना सम्भव था। उत्तराध्ययनसूत्र में हरिकेशबल नामक चाण्डाल की चर्चा आती है, जो स्वयं ऋषि बन गया था और सभी गुणों से अलंकृत था। जैन शास्त्रों में यह स्पष्ट कहा गया है कि वर्णव्यवस्था जन्मगत नहीं, किन्तु कर्मगत है। अतः शूद्रों के विद्याध्ययन में भी किसी प्रकार की बाधा नहीं आती थी ······]

व्यक्तित्व के विकास की दिशा में ज्ञान का सर्वाधिक महत्त्व है। मानव-जीवन की सफलता मानव के ज्ञान की मात्रा पर अवलम्बित होती है। शतपथ-ब्राह्मण (११, ५, ७, १-५) में ज्ञान की प्रतिष्ठा को प्रमाणित करते हुए कहा गया है कि—'स्वाध्याय और प्रवचन से मनुष्य का चित्त एकाग्र हो जाता है, वह स्वतंत्र बन जाता है, नित्य उसे धन प्राप्त होता है, वह सुख से सोता है, वह अपना परम चिकित्सक है, उसे इन्द्रियों पर संयम होता है, उसकी प्रज्ञा बढ़ जाती है और उसे यश मिलता है।'

जैनागम मे ज्ञान की अतिशय महिमा स्वीकार की गई है। शिष्य ने पूछा—'हे पूज्य ! ज्ञान-संपन्नता से जीव को क्या लाभ है ?'। गुरु ने कहा—'हे भद्र ! ज्ञान-संपन्न जीव समस्त पदार्थों का यथार्थ भाव जान सकता है। यथार्थ भाव जानने वाले जीव को चतुर्गतिमय संसाररूपी अटवी मे कभी दुःखी नही होना पड़ता। जैसे धागा वाली सुई खोती नही है, वैसे ही ज्ञानी जीव संसार मे पथ-भ्रष्ट नही होता और ज्ञान, चरित्र, तप तथा विनय के योग को प्राप्त होता है।[१]

जैन तथा बौद्धों ने लौकिक विभूतियों को तिलाञ्जलि दी और भिक्षु का जीवन अपना कर ज्ञान का अर्जन और वितरण किया। तत्कालीन समाज ने नतमस्तक होकर उन महामनीषियों की पूजा की और अपना सर्वस्व उनके चरणों पर न्योछावर कर दिया। अवश्य ही उन विद्वान्-साधुओं का समाज पर यह प्रभाव पड़कर रहा कि अनेक राजाओं और राजकुमारों ने अपने वैभव और ऐश्वर्य के पद को अंगीकार न करके जीवन भर ज्ञान-मार्ग के पथिक रहकर सरल जीवन बिताया और अपने जीवन के द्वारा ज्ञान की महिमा को उज्ज्वल किया।[२]

भारत में प्राचीन काल में शिक्षा का उद्देश्य सदाचार की वृद्धि, व्यक्तित्व का विकास, प्राचीन संस्कृति की रक्षा तथा सामाजिक एवं धार्मिक कर्तव्यो की शिक्षा देना था।[३]

---

१. उत्तराध्ययन, २९, ५९।

२. वही २०, भगवतीसूत्र—१२.२, १३.६, अन्तगडदशाओ—७।

३. 'एज्युकेशन इन एंश्येंट इण्डिया' : लेखक—आल्तेकर, पृ० ३२६.

विद्यार्थी-जीवन :

ब्राह्मण-संस्कृति के अनुसार बालक का विद्यार्थी-जीवन उपनयन-संस्कार से प्रारम्भ होता है। इस संस्कार के पश्चात् उसका ब्रह्मचर्याश्रम-जीवन माना जाता है। उपनयन-संस्कार के बाद विद्यार्थी लगभग १२ वर्षों तक वैदिक धर्म, साहित्य और दर्शन का अध्ययन करता था।

जैनागम में उपनयन-संस्कार का वर्णन है। अभयदेव ने उपनयन (उवणयण) का अर्थ 'कलाग्राहण' किया है। कला का अर्थ है विद्या। विद्या-ग्रहण के समय जो उत्सव मनाया जाता था उसे उपनयन कहा गया है।[१] उपनयन के बाद माता-पिता अपने पुत्र को कलाचार्य (विद्यागुरु) के साथ भेज देते थे।

प्रायः छात्र अपने अध्यापकों के घर पर ही रहकर अध्ययन किया करते थे। कुछ धनी लोग नगर में भी छात्रों को भोजन तथा निवास देकर उनके अध्ययन मे सहायक होते थे।[२] छात्र तथा अध्यापकों के सुन्दर संबंध कभी वैवाहिक संबंधो के रूप में भी परिणत होजाते थे।[३]

अध्ययन-काल :

वैदिक-युग मे ब्रह्मचर्याश्रम का प्रारम्भ १२ वर्ष की अवस्था मे होता था। उस युग में वेदो का अध्ययन ही प्रधान था।[४] अत. १२ वर्ष की अवस्था से लेकर जब तक वेदों का अध्ययन चलता रहता था तब तक विद्यार्थी पढ़ते रहते थे। साधारण रूप मे १२ वर्ष का समय ब्रह्मचारी के लिए उचित माना गया है।[५]

जैनागम के अनुसार बालक का अध्ययन कुछ अधिक ८ वर्ष मे प्रारंभ होता था; और जब तक वह कलाचार्य के निकट संपूर्ण ७२ कलाओं का अथवा कुछ कलाओं का अध्ययन नही कर लेता था तब तक उसका अध्ययन चलता रहता था।[६]

बोद्ध संस्कृति में कोई गृहस्थ अपने कुटुम्ब का परित्याग करके किसी अवस्था का होने पर भी बुद्धसंघ और बुद्ध को शरण में जाकर विद्याध्ययन मे लग सकता था।

विद्या के अधिकारी :

वैदिक काल मे जिन विद्यार्थियों की अभिरुचि अध्ययन के प्रति होती थी, आचार्य, प्रायः उन्ही को अपनाते थे। जिन विद्यार्थियों की प्रतिभा ज्ञान प्राप्त करने मे असमर्थ होती थी उन्हे फाल और हल या ताने-बाने के काम मे लगना पड़ता था।[७]

बौद्ध संस्कृति में विद्यार्थी का सदाचारी होना आवश्यक माना गया है। तत्कालीन आचार्यों का विश्वास था कि दुष्ट स्वभाव का शिष्य कड़े जूते के समान है, जो क्रय किए जाने पर भी पैर को काटता है। दुष्ट शिष्य, आचार्य से जो ज्ञान ग्रहण करता है उसी से उनकी जड़ काटता है। गौतम ने नियम बनाया था कि ढांगी, ढीट, मायावी तथा गृहस्थों की निन्दा करने वाले भिक्षुओं के लिए

---

१. भगवती, ११, ११, ४२९, पृ० ९९९ (अभयदेववृत्ति)। २. उत्तराध्ययन-टीका, ९ पृ० १२४। ३. वही १८, पृ० २९३। ४. छान्दोग्य-उपनिषद्, ६, १, १-२। ५. गोपथब्राह्मण, २, ५। ६. नायाधम्मकहाओ, १, २०, पृ०२१। ७. छान्दोग्य-उपनिषद् ६, १, २। ८. चुल्लवग्ग, १०, ७, २।

संघ में स्थान नहीं है। गौतम ने आदेश दिया था कि गृहासक्त, पापेच्छु तथा पापसंकल्पी भिक्षु को बाहर निकाल दिया जाय। संघ में प्रवेश करने वाले भिक्षु को छूत-रोग तथा ऋण-भार से मुक्त होना, राजा की सेवा में न होना, माता-पिता की स्वीकृति होना तथा अवस्था का कम-से-कम २० वर्ष होना आवश्यक था।

जैनाचार्यों ने विद्यार्थी की योग्यता के लिए उसका आचार्य-कुल में रहना, उत्साही, विद्या-प्रेमी, मधुर-भाषी तथा शुभ-कर्मा होना आवश्यक बतलाया है।[1] आज्ञा उल्लङ्घन करने वाले, गुरुजनों के हृदय से दूर रहने वाले, शत्रु की तरह विरोधी तथा विवेकहीन शिष्य को 'अविनीत' कहा गया है। इसके विपरीत जो शिष्य गुरु की आज्ञा का पालन करने वाला है, गुरु के निकट रहता (अन्तेवासी) है तथा अपने गुरु के इंगित मनोभाव तथा आकार का जानकार है वह 'विनीत' कहा गया है।[2]

शिष्य के लिए वाचाल, दुराचारी, क्रोधी, हँसी-मजाक करने वाला, कठोर वचन कहने वाला बिना पूछे उत्तर देने वाला, पूछने पर असत्य उत्तर देने वाला, गुरुजनों से वैर करने वाला नहीं होना चाहिए।[3] उत्तराध्ययन में शिष्य के लिए निम्न प्रकार का विधान बतलाया गया है—'शिष्य को गुरुजनों की पीठ के पास अथवा आगे-पीछे नहीं बैठना चाहिए; इतना पास भी न बैठना चाहिए, जिससे अपने पैरों का उनके पैरों से स्पर्श हो; शिष्य को शय्या पर लेटे-लेटे तथा अपनी जगह पर बैठे-बैठे गुरु को प्रत्युत्तर न देना चाहिए; उन्हें गुरुजनों के समक्ष पैर पर पैर चढ़ाकर, अथवा घुटने छाती से सटाकर तथा पैर फैलाकर कभी नहीं बैठना चाहिए। यदि आचार्य शिष्य को बुलावे तो उसे कभी भी मौन न रहना चाहिए। ऐसी स्थिति में मुमुक्षु तथा गुरु-कृपेच्छु शिष्य को तत्काल ही अपने गुरु के पास जाकर उपस्थित होना चाहिए। शिष्य को ऐसे आसन पर बैठना चाहिए जो गुरु के आसन से ऊँचा न हो और जो शब्द न करता हो। आचार्य का कर्तव्य है कि ऐसे विनयी शिष्य को सूत्र, वचन और उनका भावार्थ उसकी योग्यता के अनुसार समझाये।[4]

उत्तराध्ययन मे गुरु तथा शिष्य के संबंध पर भी प्रकाश डाला गया है—'जैसे अच्छा घोड़ा चलाने मे सारथी को आनन्द आता है वैसे चतुर साधक के लिए विद्या-दान करने में गुरु को आनन्द प्राप्त होता है। जिस तरह अड़ियल टट्टू को चलाते-चलाते सारथी थक जाता है वैसे ही मूर्ख शिष्य को शिक्षण देते-देते गुरु भी हतोत्साह हो जाता है। पापदृष्टि वाला शिष्य, कल्याणकारी विद्या प्राप्त करते हुए भी गुरु की चपतों और भर्त्सनाओं को बध तथा आक्रोश (गाली) मानता है। साधु पुरुष तो यह समझकर कि गुरु, मुझको अपना पुत्र लघुभ्राता अथवा स्वजन के समान मानकर ऐसा कर रहे हैं, गुरु की शिक्षा (दण्ड) को अपना कल्याणकारी मानता है। किन्तु पाप-दृष्टि वाला शिष्य उस दशा में अपने को दास मानकर दुःखी होता है। यदि कदाचित् आचार्य क्रुद्ध हो जाय तो शिष्य अपने प्रेम से उन्हे प्रसन्न करे, हाथ जोड़कर उनकी विनय करे तथा उनको विश्वास दिलावे कि वह भविष्य में वैसा अपराध कभी नहीं करेगा।

---

१. उत्तराध्ययन ११. १४।
२. वही. १. २।
३. वही. १. ४, ९, १३, १४, १७।
४. वही. १. १८-२३।

शूद्रों का विद्याधिकार :

वैदिक काल में आर्येतर जातियो के आर्यभाषा और संस्कृति में निष्णात होकर वैदिक मंत्रों की रचना करने का उल्लेख मिलता है। शूद्रों की वैदिक शिक्षा पर रोक प्रधानतः स्मृति-काल में लगी। उनके लिए सदा से ही पुराणों के अध्ययन की सुविधा थी। आश्वलायन-गृह्यसूत्र में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र, चारों जातियों के 'समावर्तन' संस्कार के विधान दिए गए हैं।[१]

बौद्ध संस्कृति में भी ज्ञान के द्वारा व्यक्तित्व के विकास करने का मार्ग, सबके लिए समान रूप से खोल दिया गया था। एक बार संघ मे प्रवेश पा जाने पर, ज्ञान प्राप्त करने की दिशा में शूद्र जाति के कारण किसी प्रकार की बाधा नहीं होती थी। गौतम के जीवन-काल में शूद्र-वर्ग के असंख्य व्यक्ति उनके शिष्य बन चुके थे[२]। जातक-काल में ऐसे अनेक शूद्र और चाण्डाल हो चुके हैं, जो उच्च कोटि के दार्शनिक तथा विचारक थे[३]। सुत्त-निपात के अनुसार मातङ्ग नामक चाण्डाल तो इतना बड़ा आचार्य हो गया था कि उसके यहाँ अध्ययन करने के लिए अनेक उच्च वर्ण के लोग आते थे।

जैन संस्कृति में चाण्डालों तक का, दार्शनिक शिक्षा पाकर महर्षि बनना संभव था। उत्तराध्ययन (१२.१.) में हरिकेशबल नामक चाण्डाल की चर्चा आती है जो स्वयं ऋषि बन गया था और सभी गुणों से अलंकृत था। जैनशास्त्रो मे यह स्पष्ट कहा गया है कि वर्णव्यवस्था जन्मगत नहीं, किन्तु कर्मगत है। "कर्म से ब्राह्मण होता है, कर्म से क्षत्रिय होता है, कर्म से वैश्य होता है तथा कर्म से शूद्र होता है"।[४] इस प्रकार प्राचीन काल में जैन दृष्टि से शूद्रो के विद्याध्ययन में किसी भी प्रकार की कठिनाई नही थी।

अध्ययन के विषय :

वैदिक शिक्षण के आदिकाल से ही ऋग्वेद का अध्ययन और अध्यापन सर्व प्रथम रहा है। वेद के अतिरिक्त वेदाङ्गों का भी महत्त्व भारतीय विद्यालयों में सदैव रहा है। इनका अध्ययन और अध्यापन वैदिक काल मे वैज्ञानिक दृष्टि से होने लगा था। छान्दोग्य-उपनिषद् (७.१.२) में तत्कालीन अध्ययन के विषयों की एक सूची इस प्रकार मिलती है—'चारों वेद, इतिहास-पुराण, वेदों का वेद (व्याकरण), पित्र्य (श्राद्धयज्ञ), राशि (गणित), दैव (भौतिक विज्ञान), निधि (काल-ज्ञान), वाकोवाक्य (तर्क), एकायन (नीति), देवविद्या (शिल्प तथा कलायें)।

भगवतीसूत्र (२.१) में अध्ययन के विषय निम्न प्रकार बतलाए गये हैं—छह वेद, छह वेदाङ्ग तथा छह उपाङ्ग।

छह वेद इस प्रकार है—१. ऋग्वेद, २. यजुर्वेद, ३. सामवेद, ४. अथर्ववेद, ५. इतिहास- (पुराण) तथा ६. निघण्टु।

छह वेदाङ्ग इस प्रकार है—१. संखाण (गणित), २. सिक्खाकप्प (स्वरशास्त्र), ३. वागरण (व्याकरण), ४. छंद, ५. निरुक्त (शब्दशास्त्र) तथा ६. ज्योइस (ज्योतिष)। छह उपाङ्गों में प्रायः वेदाङ्गों में वर्णित विषयों का और अधिक विस्तारपूर्वक वर्णन था।

---

१. आश्वलायन-गृह्यसूत्र ३.८। २. चुल्लवग्ग ९.१.४ तथा महावग्ग ६.३७.१।
३. सेतुजातक ३७७। ४. उत्तराध्ययन २५.३३।

स्थानाङ्ग (३. ३. १८५) में भी ऋग्वेद, यजुर्वेद तथा सामवेद का उल्लेख मिलता है। जैन परम्परा के अनुसार वेद दो प्रकार के हैं—आर्यवेद तथा अनार्यवेद। आर्यवेदों की रचना भरत तथा अन्य आचार्यों ने की थी। इनमें तीर्थङ्करों के यशोगान तथा श्रमण एवं उपासकों के कर्तव्यों का वर्णन था। बाद में सुलसा, याज्ञवल्क्य आदि ने अनार्यवेदों को रचना की।[1]

उत्तराध्ययन-टीका (३. पृष्ठ ५६ अ.) में निम्न प्रकार १४ विद्यास्थान (अध्ययन के विषय) बताए गए हैं—४ वेद, ६ वेदाङ्ग, मिमांसा, नाय (न्याय), पुराण तथा धम्मसत्थ (धर्मशास्त्र)।

अङ्गशास्त्र में ७२ कलाओं का वर्णन मिलता है। ये कलाएं निम्न प्रकार हैं—१. लेह (लेख), २. गणिय (गणित), ३. पोरेकव्व (काव्य-निर्माण), ४. अज्जा (आर्याछन्द), ५. पहेलिया (प्रहेलिका), ६. मागधिया (मागधी भाषा), ७. गाहा (गाथा), ८. गोइय (गीति), ९. सिलोय (श्लोक), १०. रूव (मूर्तिनिर्माण-कला), ११. नट्ट (नृत्य), १२. गीय (गायन), १३. वाइय (वादित्र) १४. सरगय (सरगम), १५ पोक्खरगय (ढोल-वादन), १६ समताल (ताल का ज्ञान), १७. दगमट्टिय (मृत्तिका-विज्ञान), १८. जूय (द्यूत), १९. जणवाय (एक विशेष प्रकार का द्यूत), २०. पासय (अक्षद्यूत), २१. अट्ठावय (शतरञ्ज), २२. सुजखेड (कठपुतली-विज्ञान), २३. वत्थ (भौरे का खेल) २४. नलिका-खेड (पांसो का खेल), २५. अन्नविहि (भोजन-विज्ञान), २६. पाणविहि (पानक-विज्ञान), २७. वत्थविहि (वस्त्र-विज्ञान), २८. विलेवणविहि (विलेपन-विज्ञान), २९. सयणविहि (शयन-विज्ञान), ३०. हिरण्णजुत्ति (चांदी के आभूषणों का विज्ञान), ३१. सुवण्णजुत्ति (सोने के आभूषणों का विज्ञान), ३२. चुण्णजुत्ति (चूर्ण-विज्ञान), ३३. आभरण-विहि (अन्य आभरण-विज्ञान), ३४. तरुणीपडिकम्म (युवती-विज्ञान), ३५. पत्तच्छेज्ज (पत्रों द्वारा आभूषणों के प्रकार बनाना), ३६. कडच्छेज्ज (मस्तक को सजाने का विज्ञान), ३७. इत्थि-लक्खण (स्त्री-लक्षण), ३८. पुरिसलक्खण (पुरुष-लक्षण), ३९. हयलक्खण (अश्व-लक्षण), ४०. गयलक्खण (गज-लक्षण), ४१. गो-लक्खण (गो-लक्षण-विज्ञान), ४२. कुक्कुडलक्खण (मुर्गी-पालन), ४३. छत्तलक्खण (क्षत्रलक्षण-विज्ञान), ४४. दण्डलक्खण (दण्डलक्षण-विज्ञान), ४५. असिलक्खण (असिलक्षण-विज्ञान, ४६. मणिलक्खण (मणिलक्षण-विज्ञान), ४७. काकिणी-लक्खण (काकिणीरत्नलक्षण-विज्ञान), ४८. सउणरूअ (पक्षिओंकी बोलीका ज्ञान), ४९-५०. चार-पडिचार (ग्रहोके चलन तथा प्रतिचलन की विद्या), ५१. सुवण्णपाग (स्वर्ण बनाने की विद्या), ५२. हिरण्णपाग (चांदी बनाने की विद्या), ५३. सज्जीव (नकली धातुओं को असली धातु में परिवर्तित करने की विद्या), ५४. निज्जीव (असली धातुओं को नकली धातुमें परिवर्तित करनेकी विद्या), ५५. वत्थुविज्जा (गृहनिर्माण-विद्या), ५६–५७. नगर-माण-खंधारमाण (नगर तथा स्कंधावारों को नापने की विद्या), ५८. जुद्ध (युद्ध-विज्ञान), ५९ निजुद्ध (मल्ल-विज्ञान), ६०. जुद्धातिजुद्ध (घोर युद्ध), ६१. दिट्ठिजुद्ध (दृष्टि-युद्ध), ६२. मुट्ठ-जुद्ध (मुष्ठियुद्ध), ६३. बाहुजुद्ध (बाहु-युद्ध), ६४. लयाजुद्ध (मल्लयुद्ध), ६५. ईसत्थ (तीर चलाने की विद्या), ६६. छरुप्पवाय (असिविज्ञान), ६७. धनुव्वेय (धनुर्वेद) ६८. वूह (व्यूह-विज्ञान) ६९. पडिवूह (प्रतिव्यूह-विज्ञान), ७०. चक्कवूह (चक्रव्यूह-विज्ञान), ७१. गरुलवूह (गरुडव्यूह-विज्ञान) तथा ७२. सगडवूह (शकव्यूह-विज्ञान)।

---

१. आवश्यकचूर्णि २१५.

स्थानाङ्गसूत्र (९.६७८) में नव प्रकार के पाप-श्रुतों का वर्णन इस प्रकार है—१. उप्पाय (अपशकुन-विज्ञान), २. निमित्त (शकुन-विज्ञान), ३. यन्त (उच्च-इन्द्रजाल-विद्या), ४. आउक्खिय (नीच-इन्द्रजाल-विद्या), ५. तेगिच्छिय (चिकित्सा-विज्ञान), ६. कला (कला-विज्ञान), ७. आवरण (गृहनिर्माण-विज्ञान), ८. अण्णाण (साहित्य-विज्ञान), ९. मिच्छापवयण (असत्य-शास्त्र),[१]

आचार्य :

ऋग्वेदिक आचार्य, जिसके दिव्य प्रतीक अग्नि और इन्द्र है, तत्कालीन ज्ञान और आध्यात्मिक प्रगति की दृष्टि से समाज में सर्वोच्च व्यक्ति थे। आचार्य विद्यार्थी को ज्ञानमय शरीर देता था।[२] वह स्वयं ब्रह्मचारी होता था और अपने ब्रह्मचर्य की उत्कृष्टता के बल पर असंख्य विद्यार्थियों को आकर्षित कर लेता था![३]

बौद्ध-शिक्षण में गौतम के व्यक्तित्व की सर्वोपरि महिमा थी। गौतम ने जो निजी आदर्श उपस्थित किया था वह बौद्ध-शिक्षण के परवर्ती आचार्यों के लिए मार्ग-प्रदर्शक बनकर रहा। गौतम में अदम्य उत्साह था। उनमें कर्मण्यता की कल्पनातीत शक्ति थी और नई-नई विषम परिस्थितियों को सुलझाने के लिए प्रत्युत्पन्न बुद्धि और समाधान की क्षमता थी। सारे भारत के भिक्षु गौतम के निकट अपने संदेहों को मिटाने के लिए आते थे।[४]

जैन-शिक्षण के आचार्यों पर महावीर और उनके पूर्ववर्ती तीर्थङ्करों की छाप रही। वे अपना जीवन और शक्ति मानवता को सत्पथ दिखाने के प्रयत्न में ही लगा देते थे।[५]

'रायपसेणिय' में तीन प्रकार के आचार्यों का वर्णन है – १. कलाचरिय (कलाचार्य), २. सिप्पाचरिय (शिल्पाचार्य), ३. धम्माचरिय (धर्माचार्य)।

आचार्य को ज्ञान की दृष्टि से पूर्ण योग्य होना आवश्यक था। आचार्य के आदर्श व्यक्तित्व की, जैन-संस्कृति में जो रूपरेखा बनी वह इस प्रकार थी—'वह सत्य को नहीं छिपाता था और न उसका प्रतिवाद करता था। वह अभिमान नहीं करता था और न यश की कामना करता था। वह कभी भी अन्य धर्मों के आचार्यों की निन्दा नहीं करता था। सत्य भी कठोर होने पर उसके लिए त्याज्य था। वह सदैव सद्विचारों का प्रतिपादन करता था। शिष्य को डाँट-डपट कर या अपशब्द कहकर वह काम नहीं लेता था। वह धर्म के रहस्य को पूर्णरूप से जानता था। उसका जीवन तपोमय था। उसकी व्याख्यान-शैली शुद्ध थी। वह कुशल विद्वान् और सभी धर्मों का पण्डित होता था।[६]

शिक्षण-विधि :

वैदिक काल में प्रारम्भ से ही सूत्रों को कण्ठस्थ करने की रीति थी। उदात्त, अनुदात्त तथा स्वरित की अभिव्यक्ति, वाणी के साथ हाथ की गति से भी की जाती थी। वैदिक मंत्रों को कण्ठस्थ करने के लिए विविध प्रकार के पाठ होते थे, जैसे—संहितापाठ, पदपाठ, क्रमपाठ, जटापाठ आदि।

---

१. नायाधम्मकहाओ. १. २०. (पृ० २१)। २. अथर्ववेद. ११. ५. ३।
३. वही. ११. ५. १६।
४. महावग्ग. ८. १३. ७।
५. आचाराङ्ग १.६.५ २-४।
६. सूत्रकृताङ्ग १.१४. १६-२७।

बौद्ध शिक्षण-पद्धति का आदर्श, स्वयं गौतम बुद्ध ने प्रतिष्ठित किया था। गौतम ने कहा था—"जिस प्रकार समुद्र की गहराई शनैः शनैः बढ़ती है, सहसा नहीं, हे भिक्षुओं, उसी प्रकार धर्म की शिक्षा शनैः शनैः होनी चाहिए। पद-पद चलकर ही अर्हत् बना जा सकता है।[1] गौतम के शिक्षण में उपमा, दृष्टान्त, उदाहरण और कथा का समावेश होता था।

जैन शिक्षण-पद्धति का श्रेय महावीर को है। महावीर ने कहा था कि—"जैसे पक्षी अपने शावकों को चारा देते है, वैसे ही शिष्यों को नित्य-प्रति, दिन और रात शिक्षा देनी चाहिए।[2] यदि शिष्य संक्षेप में कुछ समझ नहीं पाता तो आचार्य व्याख्या करके उसे समझाता था। आचार्य अर्थ का अनर्थ नहीं करते थे। वे अपने आचार्य से प्राप्त विद्या को, यथावत्, शिष्य को ग्रहण कराने में अपनी सफलता मानते थे। वे व्याख्यान देते समय व्यर्थ की बातें नहीं करते थे।[3]

परवर्ती युग में शास्त्रों के पाठ करने की रीति का प्रचलन हुआ। विद्यार्थी शास्त्रों का पाठ करते समय शिक्षक से पूछ कर सूत्रों का ठीक-ठीक अर्थ समझ लेता था। विद्यार्थी बार-बार आवृत्ति करके अपना पाठ कण्ठस्थ कर लेता था। फिर वह पढ़े हुए पाठ का मनन और चिन्तन करता था।[4] प्रश्न पूछने से पहले विद्यार्थी आचार्य को हाथ जोड़ लेता था।[5]

जैन शिक्षण की वैज्ञानिक शैली के ५ अंग थे—१. वाचना (पढ़ना), २. पृच्छना (पूछना), ३. अनुप्रेक्षा (पढ़े हुए विषय का मनन करना) ४. आम्नाय (कण्ठस्थ करना और पाठ करना) तथा ५. उपदेश।[6]

अवकाश :

अवकाश के समय आश्रम बन्द हो जाते थे। अकाल मेघों के आ जाने पर, अत्यधिक गर्जन बिजली का चमकना, अधिक वर्षा, कोहरा, धूल के तूफान तथा चन्द्र-सूर्य ग्रहण के समय प्रायः अवकाश हो जाता था। दो सेनाओं अथवा दो नगरों में आपस में युद्ध द्वारा नगर की शान्ति-भंग हो जाने पर, मल्ल युद्ध के समय अथवा नगर के सम्मान्य नेता की मृत्यु हो जाने पर अध्ययन बन्द कर दिया जाता था। कभी बिल्ली द्वारा चूहे का मारा जाना, रास्ते में अण्डे का मिल जाना, जिस जगह विद्यालय है उस मुहल्ले मे बच्चे का जन्म आदि तुच्छ कारणों से भी विद्याध्ययन का कार्य बन्द कर दिया जाता था।[7]

अनुशासन :

वैदिक-काल में आचार्य विद्वानों को प्रथम दिन ही आदेश देता था कि—अपना काम करो, कर्मण्यता ही शक्ति है, अग्नि में समिधा डालो, अपने मन को अग्नि के समान ओजस्विता से समिद्ध करो, सोओ मत।[8]

जैन-शिक्षण मे भिक्षुओं के लिए शारीरिक कष्ट को अतिशय महत्त्व दिया गया है। व्रत-भंग के प्रसंग पर साधु को मरना ही श्रेयस्कर बताया गया है। जैन शिक्षण में शरीर की बाह्य-शुद्धि को केवल व्यर्थ ही नहीं, अपितु अनर्थ भी बताया गया है। शरीर का संस्कार करने वाले श्रमण 'शरीर-

---

१. चुल्लवग्ग ६.१-४। २. आचाराङ्ग १.६ ३-३। ३. सूत्रकृतांग १.१४. २४-२७।
४. उत्तराध्ययन २६.१८ तथा १.१३। ५. वही १.२२ ६. स्थानांग ४६५।
७. व्यवहार-भाष्य ७.२८१-३१९। ८. शतपथ ब्राह्मण ११.५.४.५।

बकुश' (चरित्र-भ्रष्ट) कहलाते थे।[1] परवर्ती युग में विद्यार्थियों के लिए आचार्य की आज्ञा का पालन करना, डाट पड़ने पर भी चुपचाप सह लेना, भिक्षा में स्वादिष्ट भोजन न लेना, आदि नियम बनाये गए। विद्यार्थी सूर्योदय के पहले जागकर अपनी वस्तुओ का निरीक्षण और गुरुजनों का अभिवादन करते थे। दिन के तीसरे पहर में वे भिक्षा मांगते थे, रात्रि के तीसरे पहर में वे सोते थे। विद्यार्थी भूल से किए गए अपराधों का प्रायश्चित्त भी करते थे।[2]

योग्य छात्र वही था जो अपने आचार्य के उपदेशों पर पूर्ण ध्यान दे, प्रश्न करे, अर्थ समझे तथा तदनुसार आचरण करने का प्रयत्न करे।[3] योग्य छात्र कभी भी गुरु की आज्ञा का उल्लङ्घन नहीं करते थे, गुरु से असद् व्यवहार नही करते थे, और झूठ नहीं बोलते थे। अयोग्य विद्यार्थी भी हुआ करते थे जो गुरु से सदैव हस्त ताडन तथा पाद-ताडन (खंडुया, चपेडा) प्राप्त किया करते थे। वे वेत्र-ताडन भी प्राप्त करते थे तथा बड़े कठोर शब्दो से सम्बोधित किये जाते थे।[4] अयोग्य विद्यार्थियों की तुलना दुष्ट बैलों से की गई है। वे गुरु की आज्ञा का पालन नहीं करते थे। कभी-कभी गुरु ऐसे छात्रों से थककर उन्हें छोड़ भी दिया करते थे।[5] छात्रो की तुलना पर्वत, घड़ा, चलनी, छन्ना, राजहंस, भैंस, मच्छर, जोंक, बिल्ली, गाय, ढोल आदि पदार्थों से की गई है जो उसकी योग्यता और अयोग्यता की ओर संकेत करते है।[6]

जैन संस्कृति के विद्यार्थी ऊन, रेशम, क्षौम, मन, ताड़पत्र आदि के बने वस्त्रों के लिए गृहस्थ से याचना करते थे। वे चमड़े के वस्त्र या बहुमूल्य रत्न या स्वर्ण जटित अलंकृत वस्त्रो को ग्रहण नहीं करते थे। हट्टे-कट्टे विद्यार्थी केवल एक और भिक्षुणियाँ चार वस्त्र पहिनती थीं।[7]

समावर्तन :

वैदिक काल में अध्ययन समाप्त हो जाने पर कुछ विद्यार्थी आचार्य की अनुमति से घर लौट जाते थे। आश्रम छोड़ते समय आचार्य विद्यार्थी को कुछ ऐसे उपदेश देता था जो उसके भावी जीवन की प्रगति में सहायक होते थे। (तैत्तिरीयोपनिषद् १. ११)

जैनागम मे भी समावर्तन संस्कार का वर्णन मिलता है। छात्र जब अध्ययन समाप्त करके घर वापस आता था तब अत्यन्त समारोह के साथ उसे ग्रहण किया जाता था। 'रक्षित' जब पाटलिपुत्र से अध्ययन समाप्त कर घर वापस आया तो उसका राजकीय सम्मान किया गया। सारा नगर पताकाओं तथा वन्दनवारो से सुसज्जित किया गया। 'रक्षित' को हाथी पर बिठाया गया तथा लोगो ने उसका सत्कार किया। उसकी योग्यता पर प्रसन्न होकर लोगों ने उसे दास, पशु, स्वर्ण आदि द्रव्य दिया।[8]

विद्यालय तथा विद्या के केन्द्र :

वैदिक काल में प्रायः प्रत्येक गृहस्थ विद्वान् का घर विद्यालय होता था[9], क्योंकि गृहस्थ के ५ यज्ञों में ब्रह्मयज्ञ की पूर्ति के लिए गृहस्थ को अध्यापन-कार्य करना आवश्यक था।[10] जिन वनों,

---

१. स्थानांग ४४५ तथा १५८। २. उत्तराध्ययन २६।
३. आवश्यकनिर्युक्ति। २२। ४. उत्तराध्ययन। १.१३. (टिप्पणी)।
५. वही। २७ ८,१३,१६। ६. आवश्यकनिर्युक्ति। १३९. आवश्यकचूर्णि १२१.४।
७. आचाराङ्ग। २,५,१,१। ८. उत्तराध्ययन टीका २, पृ०, २२,
९. छान्दोग्य उपनिषद् ८,१५,१ तथा ४,९,१ तथा २,२३,१। १०. मनुस्मृति ३,७०,।

पर्वतों, और उपनद प्रदेशों को लोगों ने स्वास्थ्य-सम्बर्धन के लिए उपयोगी माना वे स्थान आचार्यों ने अपने आश्रम और विद्यालयों के उपयोग के लिए चुने। महाभारत में कण्व, व्यास, भरद्वाज और परशुराम आदि के आश्रमों के वर्णन मिलते है।[1] रामायणकालीन चित्रकूट में वाल्मीकि का आश्रम था।[2]

बौद्ध-शिक्षण विहारों में होता था। ये विहार नगरों के समीप ऊँचे भवनों के रूप में बनते थे। तत्कालीन अनेक राजाओं और धनी लोगों ने गौतम बुद्ध के समय से ही विहारों के बनवाने का उत्तरदायित्व लिया। ऐसी परिस्थिति में विहारों का राजप्रसाद के समकक्ष होना स्वाभाविक था। प्रारंभ में विहार सादे होते थे, पर धीरे-धीरे वे सुसंस्कृत बनने लगे।

श्रावस्ती के 'जेतवन' विहार का निर्माण अनाथपिंडक ने गौतम बुद्ध के जीवनकाल में कराया था। उसमें १२० भवन और अनेक शालाएँ थी। उपदेश देने के लिए, समाधि लगाने के लिए तथा भोजन करने के लिए पृथक्-पृथक् शालाएं थी। साथ ही स्नानागार, औषधालय, पुस्तकालय, अध्ययनकक्ष आदि बने हुए थे। पुस्तकालय में बौद्धधर्म की पुस्तकों के अतिरिक्त अन्य विचार-धाराओं के ग्रन्थों का भी संग्रह किया गया था। उसमे अनेक जलाशय भी बनाये गये थे।[3]

वलभी में बौद्धधर्म के महायान तथा हीनयान सम्प्रदाय वाली पाठशालायें थीं। हीनयान वालों का बहुमत था। वलभी, शिक्षाकेन्द्र के रूप में उस समय ख्याति की चरम सीमा पर था। तिसांग ने लिखा है कि नालन्दा की भाँति वलभी में भी विश्वविद्यालय था। प्रायः सभी विषयों की शिक्षा, (शब्द से आरम्भ होकर अभिधर्म तक की) दी जाती थी। वहाँ के विद्यार्थी बाहर से आये हुए छात्रों को भी पढाने की क्षमता रखते थे। तिसांग ने आगे लिखा है कि भारतवर्ष में, पूर्व में नालन्दा और पश्चिम में वलभी, चीन के चिन-मा, शिह-चू तथा चाऊ-लि से किसी प्रकार कम नही थे।

वलभी नालन्दा की तुलना मे किसी प्रकार कम नही था। नालन्दा जहाँ महायान का केन्द्र था, वहाँ वलभी में हीनयान की प्रमुखता थी। वलभी में प्रवेश पाना भी सरल कार्य नहीं था। दस में से मात्र दो-तीन छात्र ही वहां प्रवेश पा सकते थे। शब्द न्याय, अभिधर्म, शिल्प, चिकित्सा जैसे विषयो की वहां शिक्षा दी जाती थी। वेद तथा उपनिषद् का भी वहा अध्ययन होता था। ह्वेनसांग ने लिखा है कि वलभी में १०० विहार तथा ६००० भिक्षु थे। इससे प्रतीत होता है कि वलभी विश्वविद्यालय में छात्रों की संख्या भी पर्याप्त थी।[४]

जैन संस्कृति की आचार्य-परंपरा तीर्थङ्करो से आरम्भ होती है। तीर्थङ्कर प्रायः अनगार होते थे। अन्तिम तीर्थङ्कर महावीर का अनगार होना प्रसिद्ध है। ऐसे तीर्थङ्करों की शाला का भवनों में होना संभव न था। उनके शिष्य-संघ आचार्यो के साथ ही देश-देशान्तर में पर्यटन करते थे। महावीर के जो ११ गणधर (शिष्य) थे वे सब आचार्य थे। उनमें इन्द्रभूति, अग्निभूति, वायुभूति, आर्यव्यक्त तथा सुधर्मा के, प्रत्येक के ५०० शिष्य थे, मण्डिक तथा मौर्यपुत्र के प्रत्येक के ३५० शिष्य थे और अकम्पिक, अचलभ्राता, मेदार्य तथा प्रभास के प्रत्येक के ३०० शिष्य थे।

---

१. आदि पर्व, ७०। २. रामायण २. ५६. १६।
३. वार्ट्स 'ह्वेन साङ्ग'—भाग १ पृ० ३८५–३८६
४. भारती (भवन की पत्रिका), लेख वलभी, ले० ज. ह. दवे पृ० ६७।

ये श्रमण करते हुए संयोगवश, महावीर से मिले और उनके व्यक्तित्व से प्रभावित होकर अपने शिष्यों सहित उनके संघ में सम्मिलित हो गये।[१]

शनैः शनः जैन मुनियों तथा आचार्यों के लिए भी गुफा मंदिर तथा-तीर्थ क्षेत्र के मन्दिर आदि बनने लगे। इसके बाद राजधानियाँ, तीर्थ-स्थान, आश्रम तथा मन्दिर शिक्षा के केन्द्र बनें। राजा तथा जमींदार लोग विद्या के पोषक तथा संरक्षक थे। समृद्ध राज्यों की अनेक राजधानियाँ बड़े-बडे विद्या-केन्द्रों के रूप में परिणत हुई। जैनागमों में वर्णन है कि बनारस विद्या का केन्द्र था। शंखपुर का राजकुमार अगडदत्त वहाँ विद्याध्ययन के लिए गया था। वह अपने आचार्य के आश्रम में रहा और अपना अध्ययन समाप्त कर लौटा। सावत्थी (श्रावस्ती) एक अन्य विद्या का केन्द्र थी। पाटलिपुत्र भी विद्या का केन्द्र था। रक्खिय, जब अपने नगर दशपुर में अपना अध्ययन न कर सका तो वह उच्च-शिक्षा के लिए पाटलिपुत्र गया। प्रतिष्ठान, दक्षिण में विद्या का केन्द्र था।

साधुओं के निवास स्थान (वसति) तथा उपाश्रयो मे भी विद्याध्ययन हुआ करता था। ऐसे स्थानों पर वे ही साधु अध्यापन के अधिकारी थे जिन्होंने उपाध्याय के समीप रहकर, आगम का पूर्णरूप से अभ्यास कर लिया हो।[२]

उपर्युक्त रूप से विचार करने पर, स्पष्टतः ऐसा प्रतीत होता है कि, आज से सुदूर प्राचीन काल में, भारत मे, जैन धर्म के अध्ययन-अध्यापन की एक सुव्यवस्थित शिक्षा-प्रणाली वर्तमान थी।



१. कल्पसूत्र, 'लिस्ट आफ स्थविराज' तथा 'श्रमण भगवान् महावीर' पृ० २११-२२०।

2. 'Life in Ancient India' by J. C, Jain. पृ० १७३-१७४.

कविवर बनारसीदास और रस-परम्परा

श्री जमनालाल जैन

[सुकवि वह होता है जो अपनी रचना में परमार्थ रस का वर्णन करता है। हृदय में कल्पित बात नहीं लाता और असत्य मृषावाद से प्रीति नहीं करता।]

कविवर बनारसीदासजी १७ वी शताब्दी के प्रतिभाशाली कवि थे, उनकी पद्यबद्ध आत्म-कथा (अर्धकथानक) से तो अब हिन्दी-जगत् लगभग परिचित हो ही गया है। यह "अर्ध-कथानक" हिन्दी-साहित्य में पहली आत्म-कथात्मक रचना है, जो भाषा, भाव और शैली की दृष्टि से अद्भुत है। बनारसीदासजी साहित्य में परमार्थ अथवा आत्म-तत्त्व के पोषक थे। लोकरंजनात्मक साहित्य को उन्होंने अपना विषय नही बनाया। वे तत्त्व-चिन्तक थे और साहित्य को आत्मोन्नति में सहायक मानते थे। उनका सम्पूर्ण वाङ्मय आत्मलक्षी है। उनकी दृष्टि मे वह ज्ञान मिथ्या ही है, जो आत्म-दर्शन से विमुख करे या केवल लौकिक हो। अपने सुप्रसिद्ध ग्रन्थ समयसार-नाटक मे वे सुकवि की प्रशंसा मे कहते है कि 'सुकवि वह होता है जो अपनी रचना में परमार्थ-रस का वर्णन करता है, हृदय मे कल्पित बात नहो लाता और असत्य-मृषावाद से प्रीति नहीं करता।' कुकवि के लिये वे कहते हैं—

ख्याति लाभ पूजा मन आनै,
परमारथ-पथ भेद न जाने।
बानी जीव एक करि बूझै,
जाको चित जड़ ग्रन्थ न सूझै॥

जीवन के उषाकाल में, यानी चौदह वर्ष की उम्र में उन्होने एक हजार दोहा-चौपाइयों में शृङ्गार-काव्य की रचना की थी, लेकिन उनकी मूल आध्यात्मिक प्रेरणा ने इसका समर्थन नहीं किया, सो गोमती के प्रवाह में बहा दी! वे मानते थे कि शब्द वस्तुतः ब्रह्म है, यह अनादि है, उसकी शक्ति असीम है, उसका दुरुपयोग नहीं होना चाहिए। शब्दों के साथ खिलवाड़ को वे अपराध मानते थे।

साहित्य के रसों के बारे में भी उनके अपने विचार थे। इस लेख में बनारसीदासजी की मान्यता को ध्यान में रखकर कुछ प्रकाश डालना उचित होगा।

रस की व्यापकता :

"रस" का अर्थ अत्यन्त व्यापक है। सम्पूर्ण ब्रह्मांड रस से ओत-प्रोत है। संसार में कोई वस्तु ऐसी नहीं है, जिसमें रस न हो। मानव-जीवन का एक-एक कण और एक-एक क्षण रसमय

है, पेड़-पौधे भी माँ वसुधा से रस ग्रहण करते और सरस बनकर हमारे मन-प्राण को संपोषण देते हैं। मनुष्य अपनी इन्द्रियों से और मन से प्रतिक्षण रस ग्रहण करता रहता है और इसी कारण वह चैतन्य रहता है। किसी भी वस्तु और विषय के साथ जब मनुष्य तादात्म्य स्थापित करता है, उसमें लीन होता है, तो उसके भीतर एक प्रकार का रस-निर्माण होता है, जो आनन्द देता है। हम किसी से प्यार करें या घृणा, किसी पर करुणा करें या क्रोध, किसी से डरें या प्रसन्न हों, सब अवस्थाओं में हमारा मानस एक प्रकार की अनुभूति करता है। यह अनुभूति ही रस है। इस रसमयता की, अनुभूति की अभिव्यक्ति शब्दों में बहुत हो कम हो पाती है। मिश्री की मिठास की अनुभूति स्वाद में है, शब्दों में नहीं।

अनुभूति और रस :

हम अपनी पांचों इन्द्रियों तथा मन के द्वारा निरन्तर सक्रिय रहते हैं। स्पर्शन इन्द्रिय द्वारा स्पर्श करते है, रसना द्वारा स्वाद लेते है, घ्राण द्वारा गंध अनुभव करते हैं, आंखों द्वारा देखते हैं और कानों द्वारा सुनते हैं, मन इन सब इन्द्रियों का सरदार है। उसकी प्रेरणा से ही ये इन्द्रियाँ दौड़ती रहती हैं, पर मन की अपनी भी क्रिया शीलता होती है। वह बिना इन्द्रियों की मदद के भी सब कुछ करता रहता है। जीभ तो वस्तु को पाकर ही स्वाद की सूचना देगी, पर मन तो बिना देखे ही उसकी अनुभूति से सुखी-दुखी हो जाता है। असल में इन्द्रियाँ तो मनकी चाकर है, वे तो सूचना भर देती हैं। अनुभूति तो मन ही करता है और उसकी प्रतिक्रिया इन्द्रियों पर प्रकट हो जाती है।

इसलिये कहा जा सकता है कि रस और अनुभूति एक ही चीज है। दोनों को अलग करके नहीं देखा जा सकता। बनारसी दासजी ने ठीक ही कहा है :

> वस्तु विचारत ध्यावतैं, मन पावै विश्राम।
> रस स्वादन सुख ऊपजैं, अनुभौ याको नाम॥
>
> × × ×
>
> अनुभव चिन्तामनि-रतन, अनुभव है रसकूप।
> अनुभव मारग मोख को, अनुभव मोख सरूप॥

इससे अधिक और क्या कहा जा सकता है कि अनुभव स्वयं मोक्ष स्वरूप है। मोक्ष यानी सुख, अखण्ड सुख। उनकी दृष्टि में "अनुभौ समान न धरम कोऊ और है।"

अनुभव के अनन्त प्रकार :

अनुभव या अनुभूति एक-सी नहीं होती। अनुभूति केवल सुखात्मक ही नहीं होती, दुखात्मक भी होती है। एक ही मन में, एक ही क्षण में, एक ही वस्तु के प्रति अनेक प्रकार की अनुभूतियाँ होती रहती हैं। इसलिए निश्चित रूप से यह नहीं कहा जा सकता कि अनुभूतियाँ कितने प्रकार की होती है। फिर भी हम मोटे तौर पर अनुभूति के दो भेद कर सकते हैं :—इन्द्रियानुभूति और आत्मा-नुभूति। इनको परोक्षानुभूति और प्रत्यक्षानुभूति भी कह सकते हैं।

अनेक तत्त्व-चिन्तकों की मान्यता है कि हम अपनी इन्द्रियों से जो कुछ अनुभव करते हैं, वह प्रत्यक्षानुभूति है और जो अनुभूति इन्द्रियों से नहीं होती वह परोक्षानुभूति है। स्थूल अर्थात् लौकिक

दृष्टि से यह ठीक ही है, लेकिन गहराई से सोचने पर प्रतीत होगा कि जिसे हम सामान्यतः प्रत्यक्षानुभूति कहते हैं, वह इन्द्रियाश्रित होती है। इन्द्रियों का दर्शन या ज्ञान एक तो स्थूल होता है, फिर उनकी शक्ति भी सीमित होती है। इन्द्रियानुभूति विविध प्रकार के भावों और परिस्थितियों पर अवलंबित होती है। अगर हम किसी इन्द्रिय से काम लेना बन्द कर दें या कोई इन्द्रिय हो ही नहीं, तो हमारी अनुभूति आत्मशक्ति के अभाव में कुंठित हो जाती है, इसीलिए इन्द्रियानुभूति वास्तव में परोक्षानुभूति है—परावलम्बी है। शुद्ध अनुभूति–वास्तविक अनुभूति तो आत्मानुभूति ही है, जो किसी भी इन्द्रिय पर अवलम्बित नहीं होती। इन्द्रियों द्वारा किसी वस्तु के समस्त गुणों को एक साथ ग्रहण नहीं किया जा सकता, जब कि आत्मा द्वारा वस्तु या विषय को एक साथ ग्रहण करने में कोई बाधा नही आती। यह दूसरी बात है कि आत्मा द्वारा अनुभूति करना सरल और सम्भव है या नहीं। आत्मा जितनी-जितनी राग-द्वेष से ऊपर उठेगी, उतनी-उतनी शुद्ध होगी और उतना ही उसका कार्य इन्द्रिय-निरपेक्ष होगा। इन्द्रियजन्य ज्ञान और अनुभूति आत्मज्ञान या आत्मानुभूति मे सहायक होती है सही, क्योंकि देह और आत्मा का सम्बन्ध अन्योन्याश्रित हैं। यों भी कह सकते हैं कि इन्द्रियों द्वारा जो ज्ञान और दर्शन होता है, उसकी रसानुभूति आत्मा द्वारा होती है। दोनों एक-दूसरे के पोषक हैं, किन्तु आत्मशक्ति इन्द्रिय-शक्ति से प्रबल और भिन्न है, इसमें सन्देह नहीं।

दृश्यानुभूति और शब्दानुभूति :

दृश्य देखकर और शब्द सुनकर जो कुछ अनुभूति होती है, वह दृश्यानुभूति और शब्दानुभूति है। यह इन्द्रियानुभूति ही है। इसी को काव्यानुभूति कह सकते हैं। घर-गृहस्थी और कारोबार सम्बन्धी अनुभूतियों मे काव्यानुभूति भिन्न होती है। काव्य-साहित्य को पढकर, सुनकर या नाटक आदि देखकर जो अनुभूति होती है, वही असल में साहित्य का रस है। इसे भावानुभूति भी कह सकते हैं। यह अनुभूति परिष्कृत और संस्कृत होती है, क्योंकि व्यवहार-क्षेत्र में तो मन सुखात्मक भावों में रमता है और दुखात्मक भावो से दूर भागता है। लेकिन काव्यानुभूति या रसानुभूति मे सुखात्मक या दुखात्मक भाव में मन समान रूपसे रमता है और एक प्रकार का रस पैदा होता है। साहित्य का दुख भी प्रिय लगता, उससे मन तादात्म्य स्थापित कर लेता है। पठन, श्रवण अथवा अवलोकन में तादात्म्य स्थिति ही रस का स्रोत है।

काव्य की आत्मा : रस :

जिस कृति के अवलोकन, श्रवण या पठन से मन रसानुभव नही करता, उसमें लीन नहीं होता, उस कृति को साहित्य नहीं कहा जाता। इसीलिये कहा गया है कि काव्य की आत्मा रस है। रस-विहीन काव्य ठूंठ जैसा ही होता है। किसी शोकाकुल व्यक्ति को देखकर उसके प्रति सहानुभूति पैदा हो सकती है, लेकिन काव्य में राम को सीता के वियोग में शोकाकुल देखकर जो भाव जाग्रत होता है, जो रस पैदा होता है, लेखक और राम के प्रति जो एकात्मता स्थापित होती है, वह अलग ही चीज है। उसका वर्णन नहीं हो सकता। यही काव्य की आत्मा है।

रस के भेद :

भावों के आधार पर प्राचीन आचार्यों ने रस के नौ भेद किये हैं। कुछ विद्वानों ने नौ से आगे बढ़कर वात्सल्य को भी दसवां रस माना है, ये नौ या दस रस नौ-दस स्थायी भावों के

आधार पर माने गये है। वास्तव में देखा जाय तो मानव-मन भावों का सागर है। उसमें प्रतिक्षण इतने भाव उठते हैं कि भावों को संख्या में बाँधना लगभग असम्भव है। एक समय मे एक ही भाव की प्रधानता रहती हो, सो भी नहीं। परस्पर-विरोधी भाव भी एक-साथ मन में उठते है। जैसे मधु की प्रथम बूँद के रस मे और पाँचवी बूँद के रस में फर्क पड़ जाता है, वैसे ही साहित्य-रस के ग्रहण में भी मन की स्थिति उत्कंठा से उदासीनता में परिवर्तित हो सकती है फिर भी रस के आधार स्वरूप जिन नौ भावो का माना गया है। वे साहित्य-शास्त्र की दृष्टि से बड़े उपयोगी हैं।

भाव स्थायी या अस्थिर ?

ये सारे भाव वस्तुतः राग-द्वेष-मोह जन्य ही होते है। रति, हास, विस्मय, उत्साह, क्रोध, जुगुप्सा, भय, शोक और निर्वेद—ये नौ भाव है। इन भावों का सीधा सम्बन्ध मन और इन्द्रियो से है और सर्वथा लौकिक हैं। हमारी जो इन्द्रिय जितनी मंद या कमजोर होगी, उतनी ही कम अनुभूति हम कर पायेंगे। इसीलिये इनकी स्थिरता संदिग्ध हो जाती है। आचार्यों ने इन्हें स्थायी भाव कहा है, लेकिन ये सब-के-सब सागर की लहरो की तरह बनते-मिटते रहते हैं, किसी काव्य ग्रन्थ, नाटक या उपन्यास को पढ़ते समय कभी हम करुणा से विह्वल हो उठते है, कभी क्रोध के कारण हमारी भवै तन जाती हैं, कभी हमारा मुखड़ा विषण्ण हो जाता है, कभी उत्साह में हमारा रक्त तेजी से दौडने लगता है। यहाँ तक कि शरीर तक फड़कने लगता है। कभी हम इतने अधीर हो जाते हैं कि लेटे-लेटे उठ बैठते है और कभी किताब पटक कर मन को विश्राम देने लगते हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि जिन भावों को साहित्य मे "स्थायी" कहा जाता है, वे अपने मे स्थिर नही है और वे इतने रूपों में व्यक्त होते है कि उनकी गणना नही हो सकती।

इस दृष्टि से राग-द्वेष-मोह से अतीत, निरपेक्ष आनन्दानुभूति ही वास्तविक रसानुभूति होती है, क्योंकि यही आत्मीय होती है। आत्मा को जो सहज सुख-रस मिलता है, वह किसी भी प्रकार के दबाव, प्रतिक्रिया, अकुलाहट या आकर्षण से नही होता। काव्य की आत्मा रस अवश्य है, किन्तु वह रस विविध स्वादों वाला होता है—कभी कटु, कभी तिक्त, कभी कसैला, कभी खारा। यह काव्य इन्द्रियों और मन को गुदगुदाता है, प्रभावित भी करता है, लेकिन शान्ति तो कदापि नहीं दे सकता। इसीलिये प्रश्न उठता है कि वह रस कौन-सा है जो खट्टे-मीठे स्वादो से परे, अत्यन्त शुद्ध है। वह होगा आत्मरस, परमार्थरस ! आत्मा के काव्य में, आत्मा के संगीत मे ही वह उपलब्ध हो सकता है। आत्मानुभूति में रस-विरस की विषमता मिट जाती है। शुद्ध आनन्द ही स्थायी हो सकता है।

स्थायी भाव और नोकषाय :

स्थायी भाव नौ हैं—रति, हास, विस्मय, उत्साह, क्रोध, जुगुप्सा, भय, शोक और निर्वेद। जैनदर्शन में मानसिक भावों की दृष्टि से नोकषायों का विधान है। ये नोकषाय भी नौ ही हैं—हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुरुषवेद, नपुंसकवेद। स्थायी भावो और नोकषायों में हास्य, रति, शोक, भय, जुगुप्सा तो समान हैं। लेकिन शेष में अन्तर है।

जैनों ने क्रोध, विस्मय और उत्साह को नोकषाय नहीं माना है। क्रोध भय का ही एक रूप हे और विस्मय और उत्साह भो निकटवर्ती ही है। उत्साह और विस्मय ऐसे भाव हैं जो मन पर

छा नहीं जाते। जैनाचार्यों ने उन्हीं भावों को महत्त्व दिया जो आत्मा को कसते हों। क्रोध, उत्साह विस्मय क्षणकालिक भाव होते है। निर्वेद स्थायीभाव की जगह स्त्री-पुरुष-नपुंसक वेदों (भावों) का संयोजन, मनोविज्ञान की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। निर्वेद स्थिति सगुण-साकार मानव में तभी सम्भव होती है, जब वह स्त्री-पुरुष के द्वंद्व से मुक्त होकर शुद्ध मानवात्मा रह जाता है। साहित्य में तो स्त्री-पुरुष-नपुसक भावों में मन उतरता-चढ़ता रहता ही है और इन्ही तीनों भावों, का विस्तारपूर्वक, रसपूरक वर्णन होता है। यो भी, जो साहित्यानुरागी नही हैं, साधारण लोग हैं, वे अपने नित्य-जीवन मे किसी-न-किसी भाव मे रहते हैं, पहुँचते हैं। अभिनयों और नृत्य-समारोहों में तो प्रत्यक्ष ही ऐसा होता है। नोकषायो की परिगणना मोहनीय कर्म में की गयी है, जिनसे मुक्त हुआ जा सकता है और होना चाहिये। इसका मतलब यही है कि इन भावों से ऊपर उठे बिना आत्म-सुख उपलब्ध नही हो सकता। असल में चाहे साहित्य के स्थायी भाव हों या दर्शन-शास्त्र के नोकषाय भाव, आत्मोन्नति में बाधक होते हैं—आत्मा को भरमाते है।

मूल रस ?

मूल रस या रसराज के सम्बन्ध में विद्वानो में मतभेद है। कोई शृङ्गार को मूल रस मानते है, कोई अहंकार को, कोई अद्भुत रस को मानते हैं। भवभूति ने करुण रस को ही एकमेव माना है। कविवर बनारसीदासने शान्त रस को "रसनिको नायक" कहा है। इन सब मतमतान्तरों को देखते हुये कहना कठिन है कि किस रस को मूल माना जाय। किसी एक रस को प्रमुख या मूल मानकर सिद्ध किया जा सकता है कि बाकी के समस्त रस उसके अनुगामी है या उसी से उद्भूत होते हैं, अथवा उसी में गर्भित है। मूल रस या रसराज वस्तुतः उसीको कहना उपयुक्त होगा, जो आत्मानुभूति को उज्वल बनाने में, जीवन को सहज, आनन्दमय, स्थिति में पहुचा दे और किसी प्रकार की अकुलाहट न हो। ऐसा रस एक शान्त ही हो सकता है, जिसकी अनुभूति में समरसता जागती है। लालसा-आकाक्षा शून्य हो जाती है और जिसमें आवेश, उत्तेजना, आमितता आदि नही होती। यही निजानन्द रसलीन स्थिति है।

बनारसीदासजी के स्थायी भाव :

बनारसीदासजी ने नव रसों के स्थायी भावों को दो दृष्टियो से व्यक्त किया है। एक साहित्य की दृष्टि से, दूसरे आध्यात्मिक दृष्टि से। दो छन्दो में उन्होंने अपनी बात कही है :—

सोभा में सिंगार बसै, वीर पुरुषारथ में, कोमल हिए मे करुण रस बखानिये।
आनन्दमें हास्य, रुंडमुंडमें विराजै रुद्र, बीभत्स तहाँ जहाँ गिलानि मन आनिये॥
चिन्तामें भयानक, अथाहता में अद्भुत, माया की अरुचितामें सांत रस मानिये।
एई नवरस भवरूप, एई भावरूप, इनको विलेछिन सुद्रिष्टी जागें जानिये॥

गुनविचार सिंगार, वीर उद्यम उदार रुख।
करुना समरस रीति, हास हिरदै उछाय सुख॥
अष्टकरम-दल-मलन, रुद्र वरतै तिहि थानक।
तन विलेछ बीभच्छ, दुंद मुख दसा भयानक॥
अद्भुत अनन्तबल चिंतवन, सांत सहज वैराग धुव।
नवरस विलास परगास तब, जब सुबोध घट परगट हुआ॥

प्राचीन परम्परा तथा बनारसीदासजी के अनुसार स्थायी भावों का तख्ता इस प्रकार बनता है—

रस	परम्परागत स्थायी भाव	बनारसीदासजी के स्थायी भाव	
		भवरूप या साहित्य रूप	भावरूप या आध्यात्मिक
१. शृंगार	रति	शोभा	गुण-विचार
२. हास्य	हास	आनन्द	उत्साह-सुख
३. अद्भुत	विस्मय	अथाहता	अनन्तबल-चिंतन
४. वीर	उत्साह	पुरुषार्थ	उद्यम, उदारता
५. रौद्र	क्रोध	रुण्ड-मुंड	अष्टकर्म-क्षय
६. बीभत्स	जुगुप्सा	ग्लानि	तन-अशुचि
७. भयानक	भय	चिंता	द्वंद्व-मुख दशा (जन्म-मरण विचार)
८. करुण	शोक	कोमलता	समरसता
९. शांत	निर्वेद	माया की अरुचि	दृढ वैराग्य

भवरूप और भावरूप :

बनारसीदासजी ने नव रसों के स्थायी भावों को भवरूप और भावरूप बताया है। भवरूप से उनका मतलब है कि वे संसार बढ़ाने वाले है, इनसे आत्मा का उद्धार नही हो सकता। क्योंकि लौकिक भावो की उत्पत्ति राग-द्वेष-मोह से होती है। बाहरी चकाचौंध में या मै-मेरा के चक्कर के कारण मनुष्य यह भूल ही जाता है कि वह कौन है, कहाँ से आया है, उसका स्वरूप क्या है, कहा उसे पहुँचना है ? माया-जाल को बढ़ाने वाले जो भाव है, वे सब भवरूप है, त्याज्य है। असल मे तो मनुष्य का कर्तव्य राग-द्वेष से ऊपर उठना है, आत्मस्वरूप में स्थित होना है, भावो और विभावों से, अनुभावो और कुभावों से अतीत होना है, उसका लक्ष्य तो आत्मोपलब्धि है, सब प्राणियो के प्रति समरसता स्थापित करना है, अपने और जगत् के गुणों का विचार करना है। वह तो स्वयं फँसा ही है, और क्या फँसना है। इसीलिये बनारसीदासजी ने कहा कि जब घट मे सुबोध प्रकट होता है, तभी रस-विरस रूपी विषमता नष्ट होती है और शुद्ध आत्म-रस प्रकट होता है। आत्म-रस-लीनता में इंद्रियातीत स्वाद होता है—न उसमे ग्लानि होती है; न भय होता है, न विस्मय। सारी अथाहता, सारा भय, सारा क्रोध, समता-रस के पान में विलीन हो जाता है। ऐसी अनुभूति को ही उन्होंने 'रसकूप' कहा है, जो कभी रीता नही होता, कभी बदलता नहीं—मोक्षरूप होता है।

स्थायी भाव : एक तुलना :

भावरूप स्थायी भावो को हम यहाँ छोड़ दें। वह ऊँची चीज है, साहित्यातीत है, वह ज्ञानमयी अवस्था ही है। हम यहाँ उनके साहित्यिक, लौकिक या 'भवरूप' भावों के साथ ही

परम्परागत स्थायी भावों की संक्षेप में तुलना करेंगे। इस तुलना में हमारा उद्देश्य एक को हेय और दूसरे को उपादेय, या एक को निकृष्ट या दूसरे को उत्कृष्ट बताने का नहीं है। अधिकारी विद्वान् इस विषय में गहराई से वैज्ञानिक विश्लेषण कर सकते हैं, और इन पर विचार होना ही चाहिये।

१. रति और शोभा—शृंगाररस का स्थायी भाव रति माना गया है। 'रति' का सीधा-सा अर्थ है प्रेम, अनुराग। उसका साहित्य में दुरुपयोग भी बहुत हुआ है। कुछ भक्त कवियों ने उसके भक्तिपरक अर्थ करके पुत्र-प्रेम, गुरु-प्रेम, पत्नी प्रेम, भगवद्-प्रेम पर भी उसे घटा दिया है। लेकिन जब हम 'शोभा' की ओर ध्यान देते है तो प्रतीत होता है कि 'रति' से 'शोभा' शब्द शृंगाररस के लिये अधिक उपयुक्त है। शृंगार का सीधा अर्थ शोभा ही होता है। जब हम किसी को अस्तव्यस्त, डरावनी या रोनी शक्ल मे देखते हैं, तब अनुराग या प्रेम होने पर भी एक प्रकार की अरुचि-सी होती है। अरुचि को हम हलकी 'घृणा' भी कह सकते हैं, शोभित या सजी वस्तु को देखकर मन में एक अनुराग उत्पन्न होता है। वर्षा-ऋतु में धरती की हरियाली को देखकर, सुन्दर फल-फूलों को निरखकर, प्रिय शब्दों को सुनकर जब प्रीत जागती है, तभी शृंगार-रस की निष्पत्ति मानी जानी चाहिए। शोभा बाहरी और भीतरी दो तरह की होती है। भीतरी शोभा को उज्ज्वलता या अनुराग कह सकते है, जिसके प्रति अनुराग होता है, उसकी बाहरी कुरूपता भी सुन्दर लगती है, बल्कि उसकी ओर ध्यान ही नही जाता। हर माँ के लिये अपना बेटा सर्वसुन्दर होता है। बेटे के लिये भी माँ सबसे श्रेष्ठ होती है। शोभा मे इस तरह श्रेष्ठता, असीमता, मानसिक अनुराग समाहित है।

पारमार्थिक दृष्टि मे अपने और जगत् के गुणो का विचार करना, सबमे सुन्दरता का दर्शन करना शृङ्गार-रस का कारण है। यानी सम्पूर्ण सृष्टि में श्रेष्ठता, शोभनीयता का दर्शन और उसके प्रति असीम अनुराग ही शृङ्गार रस का कारण है।

२. हास और आनन्द—हास्य-रस का स्थायी भाव 'हास' माना गया है। 'हास' अर्थात् हँसी, हँसना, मुसकराना। लेकिन 'आनन्द' का अर्थ अधिक व्यापक है। हास का एक अर्थ प्रसन्नता है, परन्तु सदैव 'हास' प्रसन्नता में ही नहीं होता। परमवेदना या दुःखकी स्थिति में भी मनुष्य हँसने लगता है। किसी रचना मे परम दारुण, वीभत्स या भयानक संकट का वर्णन पढकर पाठक प्रायः हँस पड़ता है। पाठक या दर्शक की इस हँसी में पात्र की मूर्खता प्रधान होती है। हँसी, पीड़ा या दुःख के प्रति नहीं होती, होती है पीड़ा के कारण मूर्खता पर, अगर हास्य-रस की निष्पत्ति मूर्खता से होती है तो हास्यरस का स्थायी भाव 'मूर्खता' हो जायगी। लेकिन भीतर-ही-भीतर उस मूर्खता के प्रति वेदना भी होती है। व्यक्ति अगर निकट का है, तो शर्म भी लगती है। वास्तव में हास्य का मूल आधार है प्रसन्नता। इसीलिये बनारसीदासजी के अनुसार हास्य का स्थायी भाव आनन्द ठीक प्रतीत होता है। आनन्द ऊपर से अभिव्यक्त हो भी सकता है, नही भी हो सकता है। सूरदासजी की रचनाओं में यशोदा भीतर-ही-भीतर प्रसन्न है, पर बाहर से कोप प्रकट कर रही हैं, रस्सी से कन्हैया को बांध भी रही है। असल मे जिस कृति के पढ़ने से या देखने से आनन्द हो, उसीसे हास्य-रस की निष्पत्ति उचित है।

आत्मानन्द का उत्साह निरन्तर बनाये रखना, सबके लिये प्रसन्न रहना, सबमें आनन्द की अनुभूति करना, समस्त चराचर विश्व में मुसकुराहट का दर्शन करना अनन्त-सुख का बीज है। यह हास्य कभी क्षीण नही होता।

३. विस्मय और अथाहता—अद्भुत रस का स्थायी भाव 'विस्मय' माना गया है। अथाहता का दर्शन भी विस्मयप्रद होता है। लेकिन इसमें एक सूक्ष्म अन्तर है। छोटी-छोटी बातों का भी विस्मय होता है और यह प्रायः अज्ञानजन्य होता है। ऐसे विस्मय बालकों को खूब होते हैं। उनके लिये हर नयी वस्तु एक चमत्कार होती है। लेकिन 'अथाहता' एक भाव है, जो हर समय नहीं होता। किसी बात की, विचार की गहराई देखकर, बुद्धि की गहराई देखकर जो आश्चर्य होता है, उसीसे रस ग्रहण होता है। 'अथाहता' गहराई कहलाती है। साहित्य या काव्य में जब वर्णन अत्यन्त गहराई तक पहुँच जाता है, तब एक प्रकार का विस्मयप्रद आनन्द होता है और कविकी सूक्ष्मता के प्रति 'विचारकता-कल्पनाशक्ति' के प्रति अनुराग भी होता है। जादू के खेल भी अचरज में डाल देते है, पर उनसे 'रस'-निर्माण नहीं होता।

पारमार्थिक दृष्टि से आत्मा के अनन्त बल का अर्थात् अनन्त ज्ञान, दर्शन, वीर्य और सुख का चिन्तन करना, सृष्टि की अनन्तता का चिन्तन करना अद्भुत रस का आधार है। इसी व्यापक अर्थ में अथाहता को ग्रहण करना संगत होगा। अनन्तरूपिणी इस सृष्टि का कण-कण विस्मयप्रद है।

४. उत्साह और पुरुषार्थ—'वीर' रस का स्थान साहित्य मे बहुत ऊँचा है। शृङ्गार के बाद वीर का ही स्थान है। युद्ध-वीरता, दान-वीरता, धर्म-वीरता, त्याग-वीरता, वाग्वीरता आदि की कितनी ही रचनाएँ हमारे साहित्य मे है, 'उत्साह' तो ठीक, लेकिन वीर-रस का स्थायी भाव होना चाहिये 'पुरुषार्थ'। 'पुरुषार्थ' में उत्साह ही नही, लगन और सक्रियता भी है। 'उत्साह' को स्थायी भाव मानने का यह परिणाम हुआ है कि हमारा साहित्य युद्धवीरता और दानवीरता की प्रशस्तिया रह गया। हर प्रकार का पुरुषार्थ—सेवा का, वाणिज्य का, कृषि का, जन-जागृति का—सब वीर-रस में आता है। 'वीरता' हमारे साहित्य मे केवल युद्ध-वर्णन तक सीमित होकर रह गयी। बडे-बड़े सन्त-मुनि और राष्ट्र-कल्याण करनेवाले नेता 'वीर' ही थे। त्याग-वीरता, क्षमावीरता और धर्मवीरता के वर्णन या दृश्यों को शान्त रस या अध्यात्म कोटि का मान लिया गया। एक और दृष्टि से भी विचार हो सकता है कि जहा उत्साह मे आवेश होता है, वहाँ वीरता परम गंभीर वृत्ति है। वीरता में जितनी उदारता जरूरी है, उतना आवेश नहीं, उत्साह तो रणभेरी बजा-बजाकर भी निर्माण किया जाता है, लेकिन वीरता आत्मगत होती है। उत्साह ठंढा पड़ जाता है, वीरता निरन्तर बढ़ती है!

पारमार्थिक दृष्टि से 'उदारता' वीर रस का मुख्य आधार है। अपने भीतर उठनेवाले समस्त संकुचित विचारों को त्यागकर जगत् के प्रति उदार वृत्ति रखना परम वीरता है। इस उदारता में कोमलता, सज्जनता भी रहती है। सच्ची वीरता मे युद्ध नही, त्याग और समर्पण मुख्य होता है—प्रेम प्रधान होता है। उत्साह मे—आवेश में आदमी ऊँच-नीच, भला-बुरा कदम उठा लेता है, पर 'वीर' का मन-प्राण सतेज, जागरूक, प्रसन्न और उदार होता है।

५. क्रोध और रुण्ड-मुण्डता—रौद्र रस का स्थायी भाव 'क्रोध' माना गया है। बनारसीदासजी ने रुण्ड-मुण्ड यानी रण-संग्राम माना है। रुद्र-भाव में जो आवेश और तेजी होती है, वह क्रोध में नहीं होती। 'क्रोध' के भीतर-भीतर अपार करुणा भी हो सकती है, ग्लानि भी हो सकती है। भय भी हो सकता है, प्यार भी हो सकता है। रौद्र-रस की अनुभूति तब होती है जब हम कोई युद्ध-वर्णन पढ़ते है या युद्ध का दृश्य देखते है। हमारा शरीर भी फड़कने लगता है। वहा 'क्रोध' की कम

ही सम्भावना रहती है। क्रोध ऐसा भाव नहीं है जिससे रस-निष्पत्ति हो और मन उसमें रम जाये। क्रोध एक मानसिक विकार है, जो प्रायः अपनी ही कमजोरी पर होता है और वैयक्तिक होता है। रुद्रता या रुण्ड-मुण्डता का दृश्य देखकर रस निर्माण होता है और वह सामूहिक होता है।

पारमार्थिक दृष्टि से आत्मा पर छाये हुए अष्टकर्मों के आवरण को दूर करने के लिए जूझना रुद्रता है। 'अष्टकर्म' जैन दर्शन का एक विभाग है। ये आठ कर्म आत्मा के गुणों को ढक देते है, इनके परमाणु सदा आत्मा पर छाये रहते हैं और सही दर्शन नही होने देते। यों कह सकते हैं कि अपनी पाप और पुण्य की परतों को काटना ही रुद्रता है।

६. जुगुप्सा और ग्लानि—जुगुप्सा और ग्लानि में सूक्ष्म अन्तर है। ग्लानि तब होती है जब हम किसी पात्र को अनैतिक, अप्रामाणिक अथवा समाज-विरोधी कृत्य करते पाते हैं या लेखक वैसा भाव अंकित करना चाहता है। पात्र की कृति से जो प्रभाव हमारे मन पर पड़ता है, वही स्थायी भाव माना जाना चाहिए। उस पात्र की 'जुगुप्सा' यानी निन्दा हम नही करेंगे। निन्दा करने में तो स्वयं एक प्रकार का रस निर्माण होगा, जिसमें क्रोध और बदनाम करने की इच्छा भी रह सकती है। ग्लानि का विषय पात्र ही नहीं, वस्तु भी हो सकती है, स्थान भी हो सकता है। ग्लानि में करुणा और मदाशयता रहती है।

पारमार्थिक दृष्टि से अपने तन की 'अशुचिता' का चिन्तन करना, संसार-संसर्ग की अशुचिता का विचार करना बीभत्स-रस का कारण है।

७. भय और चिन्ता—भयानक रसका स्थायी भाव भय माना गया है। किसी वर्णन को पढकर भयभीत होना, भय का वातावरण खड़ा हो जाना भयानक रस का कारण हो सकता है, लेकिन किसी पात्र के प्रति चिन्ता होना, उसके लिए सोच में पड़ना भी भयानक रस का कारण है। भय और चिन्ता का भेद स्पष्ट है। हम एक कहानी पढते है और किसी पात्र के प्रति हमारे मनमें चिन्ता उत्पन्न हो जाती है, इसमें भय नहीं है। भय आक्रामक होता है। हम भयभीत हो सकते है, परन्तु तब जब यह आशंका हो कि उसका कारण हमसे सम्बन्धित है। रामायण के रावण से हमें भय नहीं होता, यद्यपि भयोत्पादक प्रसंग बहुत हैं। हाँ, हनुमान के लंका पहुँचने पर चिन्ता अवश्य पाठक को हो जाती है कि अब पता नहीं, क्या होगा। वहाँ हमारे मन में भयकी लहर दौड़ जाती है कि अब सीता का क्या होगा।

पारमार्थिक दृष्टि से अपने सांसारिक स्वरूप का, जन्म-मरण के दुःखो का विचार करना इसमें आता है। संसार की भयानकता का विचार करना और अपने जन्म-मरण का विचार करना भयानक रस का कारण है। संसार अनेक दुःखों से भरा है, जन्म-मरण का भी दुःख है। दुःखों का विचार करना आत्मीक दृष्टि से भयानक रस का कारण है।

८. शोक और कोमलता—करुण रस का स्थायी भाव शोक माना गया है। बनारसी-दासजी ने 'कोमलता' कहा है। करुण रस का आधार कोमलता, सहानुभूति, सरलता है, न कि शोक। शोक तो तब होता है जब कोई हानि हो जाती है। उसमें कोमलता नही होती। किसी दीन-हीन, अपाहिज का वर्णन पढ़कर मन में करुणा, कोमलता जाग्रत होती है; न कि शोक।

पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र ने लिखा है कि जब 'शोक' और 'करुणा' नामों पर विचार किया जाता है तो स्पष्ट लक्षित होता है कि शोक-भाव तमोगुणमय है और करुण सत्त्वगुण-सम्पन्न।

शोकभाव अपने ऊपर पड़नेवाली विपत्ति से हुआ करता है, किन्तु रस रूप में परिणत होने पर वह 'करुणा' का रूप धारण कर लेता है।" इससे भी स्पष्ट है कि शोक और कोमलता में कितना अन्तर है। कोमलता सात्त्विकगुण-सम्पन्न वृत्ति है। कोमलता की वृत्ति दूसरे के लिये सहायक बनने वाली सात्त्विक वृत्ति है। कोमल हृदय में ही करुणा का निवास होता है।

इस पर यों भी विचार कर सकते है कि हमने एक ऐसा वर्णन पढा कि डकैती में एक घर तबाह हो गया। परिवार के लोग शोकाकुल हो सकते हैं, पर कोमल हृदय व्यक्ति उनकी मदद को पहुंच जायगा। जैनशास्त्रीय भाषा में शोक आर्तध्यान है और कोमलता धर्मध्यान है। 'शोक' मनको चेतना-शून्य बना देता है, जब कि कोमल मन सेवा को दौड़ पड़ता है।

पारमार्थिक दृष्टि से बनारसीदासजी ने 'समरसता' का उल्लेख किया है। सम्पूर्ण विश्व के प्रति आत्मौपम्यवृत्ति, समरसता रखना, करुण-रस का आधार है। सब प्राणियों के प्रति समरसता ऊँची सात्विकता है।

९. **निर्वेद और माया-अरुचि** :—बनारसीदासजी ने शात-रस को मूल रस या रसों का नायक कहा है; क्योंकि परम-शाति ही मानवात्मा का लक्ष्य है। जिन प्रसंगों को पढकर पाठक के मन में माया के प्रति, जगत् के प्रति, धन-दौलत के प्रति, मान-अभिमान के प्रति अरुचि हो जाती है, वही असल में शात-रस का आधार है। निर्वेद का एक अर्थ स्त्री-पुरुष-नपुंसकवेदकता से शून्य अवस्था है। सामान्यतया निर्वेद उदासीनता के अर्थ मे आता है, आध्यात्मिक या वैराग्य-प्रधान साहित्य के पढ़ने से संसार के प्रति उदासीनता हो जाना शांत-रस का कारण माना गया है, लेकिन ऐसी उदासीनता स्थायी भाव नही हो सकती। वृद्धावस्था, अकुशलता, अहंकार, अज्ञान, आलस्य आदि के कारण भी उदासीनता आती है। इसमे शात-रस की निष्पत्ति बिलकुल असम्भव है।

पारमार्थिक अर्थ में दृढ़ वैराग्य ही शात-रस का कारण बताया है। बनारसीदासजी के मत से यही एक ऐसी अवस्था है जहां जाकर रस-विरस की विषमता समाप्त हो जाती है।

साहित्य और अध्यात्म :

कुछ लोगों का मत है कि साहित्य अध्यात्म से अलग ही रहना चाहिए। अध्यात्म में जीवन-मूल्यों का विचार अलग ढंग से किया जाता है और साहित्य में जीवन की यथार्थता प्रधान होती है। साहित्य में कलात्मक पक्ष प्रधान होना है, अध्यात्म में नीति-पक्ष। साहित्य में नीति को भी स्थान है, पर विकारो, वृत्तियो और प्रत्येक परिस्थिति को भी स्थान है, अध्यात्म में इसकी छूट नही है। साहित्य में शरीरांगा का, वृत्तियों का सरस वर्णन रह सकता है, पर अध्यात्म के नैतिक मूल्य इसकी इजाजत नही देंगे। तब बनारसीदासजी ने रसों के लिये जो आध्यात्मिक दृष्टिकोण प्रशस्त किया है, उसका क्या मूल्य है?

यह प्रश्न उठना तो नहीं चाहिए, लेकिन प्रायः उठता रहता है, इसका मतलब यह है कि 'अध्यात्म' को जीवन-व्यवहार की चीज नही समझा जाता, बल्कि वह इस कोटि की चीज है जिसे गृहत्यागी, संन्यासी ही अपना सकते हैं। मानो 'साहित्य' वह है, जो केवल रंजन के लिए है। यों तो 'अध्यात्म' समर्थक भी कह सकते हैं कि वह साहित्य साहित्य ही नहीं है जो जीवन को सदाचार की ओर न मोड़े, ऊँचा न उठाये! 'साहित्य' शब्द स्वयं हित-सहित है। मनुष्य का, समाज का हित साधने की सामर्थ्य साहित्य में तभी आ सकती है, जब उसमें समाज को ऊँचा

उठाने की क्षमता हो। शक्ति केवल शब्दों में नहीं होती। लेकिन जब हम शब्दों को 'ब्रह्म' संज्ञा देते है, उनके अर्थों में सत्य-शिव-सुन्दर का दर्शन करते हैं, तभी उनमें वह शक्ति आती है। चरित्रवान् और हृढ़व्रती पुरुष के वचनों की शक्ति से सभी परिचित हैं।

'साहित्य' में साहित्यकार को कला-वर्णन या कला-चित्रण की छूट होनी चाहिये और इसके बिना साहित्य की सार्थकता नहीं रहेगी, यह कहने वाले इस पर भी तो विचार करें कि इस प्रकार की छूट वे किस उद्देश्य की पूर्ति के लिये चाहते है ? साहित्यकारों ने मौज में आकर ऐसी छूटें ली हैं, लेकिन परिणाम यह है कि वह साहित्य समष्टिगत नहीं रह जाता, और उसके प्रति गर्हा या अनादर भी व्यक्त होता है, एकांत में, अकेले में ऐसा साहित्य पढ़ा जाता है, पर उसका जो रस ग्रहण होता है, वह जीवन को पतन की ओर ही ले जाने में सहायक होता है। एक कवि ने बड़े पते की बात कही है :—

राग उदै जग अंध भयो, सहजै सब लोगन लाज गमाई।
सीख बिना नर सीख रहै, विषयादिक सेवन की सुघराई।
तापर और रचैं रस-काव्य, कहा कहिये तिन की निठुराई।
अंध-असूझन की अंखियान में, झौंकत हैं रज राम-दुहाई ॥

इसी तरह बनारसीदास जी ने भी वाणी-विलास करने वाले कवियों को कला-चातुरी पर व्यंग करते हुए कहा है :—

मांसकी गरंथि कुच कंचन-कलस कहै,
कहैं मुखचन्द, जो सलैषमा को घरू है।
हाड़ के दसन आहि हीरा-मोती कहै ताहि,
मांसके अधर-ओंठ कहै बिंब फरू है ॥
हाड़ दण्ड-भुजा कहैं, कौलनाल काम-धुजा,
हाड़ ही के थंभा-जंघा कहै रंभातरू है।
यों ही झूठी जुगति बनावें और कहावें कवि,
ऐते पर कहैं, हमें सारदा को बरू है ॥

यथार्थ में ऐसे कवि अभिमान में मत्त रहते हैं और विषय-विलास की मुक्त तालीम देने का काम करते है, इसी को वे शारदा का वर समझते हैं।

साहित्य अपने में एक पूरा शास्त्र है और उसके अपने नियम-विधान-पद्धतियाँ हैं। उसमें रस, सौंदर्य, चतुरता, व्यंजना, अलंकार, आदि सबका अपना स्थान और महत्व है। लेकिन समग्र रूप में 'साहित्य' कोई सीमित अंग या अवयव नहीं है, जिसे जीवन से अलग किया जा सके, अध्यात्म जीवन का अंग है और साहित्य भी, बल्कि यो कहा जाय कि अध्यात्म की प्रेरणा जगाने के लिए ही साहित्य का माध्यम अंगीकार किया जाना जरूरी है, तो अतिशयोक्ति न होगी। साहित्य में तो इतिहास, पुरातत्व, विज्ञान और भूगोल जैसे विषय भी अंतर्भूत हैं और होने चाहिये।

हिन्दी के सर्वश्रेष्ठ कवि गोस्वामी तुलसीदासजी ने तो साहित्य को देह का द्वार बताया है जहाँ कि राम-नाम का मणि-दीप रखा जाना चाहिए, इसलिये कि भीतर-बाहर प्रकाश पड़े यह शब्द-वन्दना नहीं तो क्या है ?

कोरा साहित्य तो 'दिमागी ऐयाशी' मात्र होगा। शरीर के अंगों की सुन्दरता बढ़ानेवाली उपमाओं को यथास्थान सजाकर हम जिस नायिका की भूमिका खड़ी करेंगे, वह विकृत ही होगी!

हाँ, अध्यात्म को नीरस—रस-विहीन नहीं रह जाना है। उसमें साहित्य की सुगन्धि, उसकी सौरभ होनी चाहिये, नहीं तो वह अध्यात्म ग्राह्य ही नही होगा। अध्यात्म को परलोक की, वन-जंगल की चीज समझने का ही यह परिणाम हुआ है कि वह समाज में से निकलकर जंगलवासी बन गया है और समाज उसे दूर से आदर भर देना जानता है। अगर 'अध्यात्म' हमारे नित्य जीवन का, सम्पूर्ण व्यवहार का अंग रहता तो हम देखते कि साहित्य उसका अनुगामी होता और वह समाज में मन्दिर के कलश का स्थान ग्रहण करता।

हम यहाँ आदर्श और यथार्थ के झमेले में नहो पड़ेंगे। कहना सिर्फ यही है कि वैषयिक अभीप्साएँ तो प्रकृत ही है, उनको साहित्य के माध्यम से उभारकर जीवन का महत्त्व गिरे, ऐसी कलाका विकास हम चाहते हैं क्या? ढाल की ओर पानी को बहाने का प्रयास नहीं करना होता। प्रयास और पुरुषार्थ ऊपर को ओर चढाने में ही होता है।

कविवर बनारसीदासजी की साहित्य-साधना मनुष्य के स्वभाव को उद्देश्य मे रखकर हुई है। मनुष्य का स्वभाव आज अनेक विकारों, भावों, दबावों की परतों से आवरित है, वह पर-द्रव्य और पर-भावों का दास बन गया है। इन्द्रियों और मन की गुलामी, उसका स्वभाव नही है, पराधीनता है। इससे मुक्त होकर ही वह अपने स्वरूप में स्थित हो सकता है। यही बात उन्होंने पद-पद पर कही है—

"चेतन रूप अनूप अमूरति, सिद्ध-समान सदा पद मेरो।
मोह-महातम आतम अंग, कियो परसंग महातम घेरो॥"



आचार्य वीरसेन की धवलाटीका

प्रो० उदयचन्द्र एम० ए०

[...आचार्य वीरसेन के सम्मुख सूत्रों तथा उनके व्याख्यानों में विरोध पाया जाता था। कहीं-कहीं सूत्रों पर आचार्यों का कोई मत उपलब्ध नहीं था। ऐसे स्थलों में वीरसेन ने अपने गुरु के उपदेश के अनुसार परम्परागत उपदेश द्वारा तथा सूत्रों से अविरुद्ध अन्य आचार्यों के वचनों द्वारा निर्णय किया। और कहीं-कहीं अपने मौलिक विचार भी प्रस्तुत किये हैं...।]

भगवान् महावीर ने प्राणिमात्र के कल्याण तथा उद्धार के लिए जिन सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया था और गौतम गणधर ने जिनका द्वादशांग वाणी के रूप में संकलन किया था उन सिद्धान्तो के पठन-पाठन और श्रवण की परम्परा गुरु-शिष्य परम्परानुसार कई-सौ वर्षों तक मुखाग्र ही चलती रही। किन्तु काल के प्रभाव से श्रुति-स्मृतिधारी आचार्यों का क्रमशः ह्रास होता गया और तदनुसार श्रुत का प्रायः बहुभाग विस्मृति के गर्भ में समा गया। ऐसे समय में, जब कि द्वादशांग श्रुत का प्रायः बहुभाग विस्मृति के गर्भ मे समा गया था, आचार्य धरसेन हुए, जिन्हे द्वादशांग का कुछ भाग ज्ञात था। उन्होने उस अमूल्य ज्ञान को सुरक्षित रखने की आवश्यकता का अनुभव किया। तब धरसेन ने पुष्पदन्त और भूतबलि नामक दो शिष्यों को द्वादशांग का अवशिष्ट भाग पढ़ाया। ये दोनों ही षट्खण्डागम के रचयिता हुए। पुष्पदन्त और भूतबलि ने जिन सिद्धान्तों को अपने गुरु से सीखा था उन्हीं को सूत्रों में निबद्ध किया, जो षट्खण्डागम के नाम से प्रसिद्ध हुए। षट्खण्डागम की रचना ईसा की प्रथम और द्वितीय शताब्दी के मध्य में हुई है। हम आचार्य धरसेन, पुष्पदन्त और भूतबलि के अत्यन्त ऋणी है, जिनके द्वारा हमें षट्खण्डागम के रूप में तीर्थंकरों की द्वादशांग वाणी का अवशिष्ट ज्ञान आज भी सुलभ हो रहा है।

षट्खण्डागम के टीकाकार वीरसेन :

इन्द्रनन्दि के श्रुतावतार के अनुसार षट्खण्डागम पर छह टीकायें लिखी गई है, जिनमें से 'धवला' अन्तिम है। यह टीका आचार्य वीरसेन द्वारा लिखी गई है और इसका परिमाण ७२ हजार श्लोक है। प्रस्तुत निबन्ध का यही मुख्य विषय है। वीरसेन ने षट्खण्डागम पर धवला-टीका ही नहीं लिखी, किन्तु कषायप्राभृत पर २० हजार श्लोक-प्रमाण जयधवला-टीका भी लिखी है। धरसेनाचार्य के समकालीन आचार्य गुणधर हुए हैं, जिन्होंने कषायप्राभृत की रचना की थी। इस पर यतिवृषभ आचार्य ने चूर्णिसूत्र रचे थे। इन्हीं पर वीरसेन ने जयधवला-टीका लिखी है। लेकिन उसे वे पूरा नहीं कर सके और उनके सुयोग्य शिष्य जिनसेन ने जयधवला का शेष भाग लिखा, जिसका परिमाण ४० हजार श्लोक है। इस प्रकार जयधवला का कुल परिमाण ६० हजार श्लोक है। वीरसेन ने ७२ हजार श्लोक प्रमाण धवला और २० हजार श्लोक प्रमाण जयधवला अर्थात् कुल ९२ हजार श्लोक

प्रमाण टीका का निर्माण २१ वर्ष में किया था। इससे उनकी सूक्ष्म बुद्धि, गहन पाण्डित्य और विशाल स्मृति का पता चलता है।

वीरसेन का व्यक्तित्व :

वीरसेन सिद्धान्त, छन्द, ज्योतिष व्याकरण और प्रमाणशास्त्र में निपुण थे। यह बात धवला की अन्तिम प्रशस्ति से ज्ञात होती है। यथा—

> सिद्धंत-छन्द-जोइस-वायरण-पमाणसत्थ-णिवुणेण।
> भडारएण टीका लिहिया एसा वीरसेणेण ॥ ५ ॥

ऊपर बतलाया गया है कि द्वितीय सिद्धान्त ग्रन्थ कषायप्रभृत की टीका जयधवला का एक-तिहाई भाग वीरसेन ने लिखा है और दो-तिहाई भाग जिनसेन ने लिखा है। जिनसेन ने जयधवला की प्रशस्ति में वीरसेन को साक्षात् केवली के समान समस्त विश्व का द्रष्टा बतलाया है। यह भी कहा गया है कि उनकी सर्वार्थगामिनी स्वाभाविक प्रज्ञा को देखकर सर्वज्ञ की सत्ता में किसी मनीषी को कोई शंका नहीं रही।[1]

जिनसेन ने आदिपुराण में वीरसेन की स्तुति की है। वहाँ उनकी लोकविज्ञता, कवित्व-शक्ति, और वाचस्पति के समान वाग्मिता की प्रशंसा की गई है। उन्हें सिद्धान्तोपनिबन्धों का कर्ता बतलाया गया है और उनकी धवला भारती को समस्त-भुवन-व्यापिनी कहा है।[2]

धवला टीका से प्रतीत होता है कि वीरसेन के सामने सूत्रग्रन्थों के अनेक संस्करण थे और उनमें कई पाठभेद भी थे। उन्होंने सूत्रग्रन्थों के विभिन्न पाठभेदों तथा पाठभेद-जन्य मतभेदों का यथासंभव उल्लेख किया है। तथा सूत्र का लक्षण निम्नप्रकार बताया है—

> सुत्तं गणहरकहियं तहेव पत्तेयबुद्धकहियं च।
> सुदकेवलिणा कहियं अभिण्णदसपुव्विकहियं च ॥

—वग्गणाखण्ड भाग १-३ पृ० ३८१।

सूत्र वह है जिसका कथन गणधर, प्रत्येकबुद्ध, श्रुतकेवली और अभिन्नदशपूर्वी ने किया हो।

कहीं-कहीं पर षट्खण्डागमसूत्रों में कषायप्राभृत आदि अन्य सूत्रों से विरोध पाये जाने पर वीरसेन ने निर्णय करने में अपनी असमर्थता प्रकट करके यह बतलाया है कि कौन सूत्र है और

---

१. श्रीवीरसेन इत्यात्तभट्टारकपृथुप्रथ;। पारदृश्वाधिविश्वानां साक्षादिव स केवली ॥१९॥
यस्य नैसर्गिकी प्रज्ञां दृष्ट्वा सर्वार्थगामिनीम्। जाता सर्वज्ञसद्भावे निरारेका मनीषिणः ॥२०॥

२. लोकवित्वं कवित्वं च भट्टारके द्वयम्। वाग्मिता वाग्मिनो यस्य वाचा वाचस्पतेरपि ॥
सिद्धान्तोपनिबन्धाना विधातुर्मद्गुरोश्चिरम्। मन्मनः सरसि स्थेयात् मृदुपादकुशेशयम्।
धवलां भारती यस्य कीर्तिं च शुचिनिर्मलाम्। धवलीकृतनिःशेषभुवनां तां नमाम्यहम् ॥

—आदिपुराण-उत्थानिका—५६, ५७, ५८।

कौन असूत्र, इसका निर्णय आगम में निष्णात आचार्य करें।[1] हम इस विषय में निर्णय करने में असमर्थ हैं, क्योंकि हमें इसका कुछ भी उपदेश नहीं मिला है।

कहीं-कहीं पर षट्खण्डागम से विरोधी सूत्रों का व्याख्यान यह कहकर कर दिया है कि सूत्र और असूत्र का निर्णय तो चतुर्दश पूर्वधारी अथवा केवलज्ञानी ही कर सकते हैं। किन्तु न तो वर्तमान काल में पूर्वधारी और केवलज्ञानी हैं और न उनके पास से सुनकर आये हुए भी कोई पुरुष हैं। ऐसी स्थिति में सूत्रों की प्रामाणिकता नष्ट होने के भय से आचार्यों को तो दोनों ही सूत्रों का व्याख्यान करना चाहिए।[2]

कही-कही पर सूत्रों पर उठाई गई शंका के विषय में वीरसेन ने यहाँ तक कह दिया है कि इस विषय की पूँछताँछ गौतम से करना चाहिए। हमने तो यहाँ उनका अभिप्राय कहा है।[3]

कहीं-कही पर वीरसेन ने षट्खण्डागम के सूत्रों में अन्य सूत्रों से विरोध का समाधान यह कह कर भी किया है कि यद्यपि यहाँ विरोध सत्य है फिर भी एकान्त ग्रहण नहीं करना चाहिए। क्योंकि वास्तव में यह विरोध सूत्रो का नही है किन्तु इन सूत्रो का जिन्होंने संकलन किया है उनके सकलश्रुत का ज्ञाता न होने से उनके द्वारा विरोध आजाना संभव है।[4]

कही-कहीं सूत्रों पर आचार्यों का कोई मत उपलब्ध नही था। ऐसे स्थलों में वीरसेन ने अपने गुरु के उपदेश के अनुसार, परम्परागत उपदेश द्वारा तथा सूत्रों से अविरुद्ध अन्य आचार्यों के वचनों द्वारा निर्णय किया है।[5]

धवला मे षट्खण्डागम के साथ अन्य सूत्रो और उनके व्याख्यानों में विरोध के अतिरिक्त एक और विरोध का उल्लेख पाया जाता है जिसे वीरसेन ने उत्तर-प्रतिपत्ति और दक्षिण-प्रतिपत्ति के

---

१. तदो तेहि सुत्तेहि एदेसि सुत्ताणं विरोहो होदि त्ति भणिदे जदि एवं उवदेसं लद्धूण इदं सुत्तं इदं चासुत्तमिदि आगम-णिउणा भणंतु, ण च अम्हे एत्थ वोत्तुं समत्था अलद्धोवदेसत्तादो। —धवला-टीका

२. होदु णाम तुम्हेहि वुत्तत्थस्स सच्चत्तं, बहुएसु सुत्तेसु वणप्फदीणं उवरि णिगोदपदस्स अणुवलंभादो। चोद्दसपुव्वधरो केवलणाणी वा, ण च वट्टमाणकाले ते अत्थि। ण च तेसिं पासे सोदूणागदा वि संपहि उवलब्भंति। तदो थप्पं काऊण वे वि सुत्ताणि सुत्तासायणभीरूहि आयरिएहि वक्खाणेयव्वाणि। —धवला-टीका

३. सुत्ते वणप्फदिसण्णा किण्ण णिद्दिट्ठा? गोदमो एत्थ पुच्छेयव्वो। अम्हेहि गोदमो बादरणिगोदपदिट्ठिदाण वणप्फदिसण्णं णेच्छदि त्ति तस्स अभिप्पाओ कहिओ। —धवला-टीका

४. कसायपाहुडसुत्तेणेदं सुत्तं विरुज्झदि त्ति वुत्ते सच्चं, विरुज्झइ, किन्तु एयंतगहो एत्थ ण कायव्वो। कधं सुत्ताणं विरोहो? ण, सुत्तोवसंघाराणमसयलसुदधारयाइरियपरतंताणं विरोधसंभवदंसणादो। —धवला-टीका।

५. कधमेदं णव्वदे? गुरूवदेसादो। सुत्ताभावे सत्त चेव खंडाणि कीरंति त्ति कधं णव्वदे? ण, आइरियपरम्परागदुवदेसादो। सुत्तेण विणा कुदो णव्वदे? सुत्ताविरुद्धाइरियवयणादो। —धवला-टीका।

नाम से बतलाया है। ये दो विभिन्न मान्यतायें थीं, जिनमें से वीरसेन ने दक्षिण-प्रतिपत्ति को स्वीकार किया है। क्योंकि उन्होंने उसे सरल, स्पष्ट और आचार्य-परम्परागत बतलाया है तथा उत्तर-प्रतिपत्ति क्लिष्ट, वाम और आचार्य-परम्परागत नहीं है, ऐसा कहा है। उदाहरणस्वरूप उपशमश्रेणी में प्रत्येक गुणस्थानवर्ती जीवों की संख्या ३०४ और क्षपकश्रेणी में प्रत्येक गुणस्थानवर्ती जीवों की संख्या ६०८ बतलाकर यह कहा है कि यह उत्तर-प्रतिपत्ति है। पूर्वोक्त संख्या में से उपशमश्रेणी में ५ कम तथा क्षपकश्रेणी में १० कम करने पर दक्षिण-प्रतिपत्ति होती है।[1]

वीरसेन ने कुछ विषयों पर अपने मौलिक विचार व्यक्त किए है जिनमें से कुछ निम्न प्रकार हैं—

आभिनिबोधिक ज्ञान (मतिज्ञान) के चार भेद है—अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा। अवग्रह के दो भेद हैं—अर्थावग्रह और व्यंजनावग्रह। चक्षु आदि इन्द्रियों के विषयभूत स्थिर और स्थूल वस्तु को अर्थ कहते है और अव्यक्त शब्दादि को व्यंजन कहते है। अर्थ का जो अवग्रह रूप ज्ञान होता है वह अर्थावग्रह हैं और व्यंजन का जो अवग्रहरूप ज्ञान होता है वह व्यंजनाग्रह है। अर्थात् व्यक्त ग्रहण को अर्थावग्रर और अव्यक्त ग्रहण को व्यंजनावग्रह कहते है। अर्थावग्रह पाँचों इन्द्रियों और मन से होता है किन्तु व्यंजनावग्रह चक्षु और मन को छोड़कर शेष चार इन्द्रियों से होता है। चक्षु स्वरूप पूज्यपाद, अकलंक आदि शेष चार इन्द्रियाँ प्राप्यकारी है। अर्थावग्रह और व्यंजनावग्रह का उक्त और मन अप्राप्यकारी है तथा आचार्यों के अनुसार है। किन्तु वीरसेन ने अर्थावग्रह और व्यंजनावग्रह को एक स्वतंत्र व्याख्या प्रस्तुत की है। उनके अनुसार अप्राप्त अर्थ का ग्रहण अर्थावग्रह[2] है और प्राप्त अर्थ का ग्रहण व्यंजनावग्रह है।[3] विषय और इन्द्रिय के संयोग के बिना जो ग्रहण होता है वह अप्राप्त-ग्रहण है तथा संयोगजन्य ग्रहण प्राप्त-ग्रहण है। अर्थावग्रह और व्यंजनावग्रह की उक्त व्याख्या के अनुसार वीरसेन चक्षु और मन को केवल अप्राप्यकारी मानते है तथा शेष चार इन्द्रियों को प्राप्यकारी और अप्राप्यकारी दोनों प्रकार का मानते है। इस कथन की पुष्टि में उन्होंने अनेक युक्तियाँ भी दी है। घ्राणेन्द्रिय, रसनेन्द्रिय और स्पर्शनेन्द्रिय का उत्कृष्ट विषय नौ योजन है तथा श्रोत्रेन्द्रिय का उत्कृष्ट विषय बारह योजन है। अतः इन इन्द्रियों के उत्कृष्ट क्षयोपशम को प्राप्त हुआ जीव नौ योजन की दूरी से ही गन्ध, रस और स्पर्श का ज्ञान करने मे समर्थ होता है। इसी प्रकार बारह योजन की दूरी से शब्द को ग्रहण करने में भी समर्थ होता है। यह देखने में भी आता है कि चीटियाँ अधिक दूरी पर स्थित पदार्थ के गन्ध का ज्ञान कर लेती है।

दर्शन और ज्ञान :

जीव का लक्षण उपयोग है। उपयोग के दो भेद हैं—दर्शन और ज्ञान। दर्शन का अर्थ क्या है इस विषय ने मतभेद है। प्रचलित व्याख्या के अनुसार ज्ञान के पहले पदार्थ के आकार आदि को

---

१. के वि पुव्वुत्तपमाणं पंचूणं करेंति। एदं पंचूणं वक्खाणं पवाइज्जमाणं दक्खिणमाइरियपरंपरा-गयमिदि जं वुत्तं होइ। पुव्वुत्तवक्खाणमपवाइज्जमाणं वाउं आइरियपरंपरा-अणागदमिदि णायव्वं।... एसा उत्तर-पडिवत्ती। एत्थ दस अवणिदे दक्खिण-पडिवत्ती हवदि।

धवला-टीका खण्ड १, भाग २. पृष्ठ ९२–९४।

२. अप्राप्तार्थग्रहणमर्थावग्रहः। ३. प्राप्तार्थग्रहणं व्यंजनावग्रहः।

धवला-टीका खण्ड ५, भाग १-३, पृ० २२०।

ग्रहण न करके जो सामान्य-ग्रहण होता है वह दर्शन है। और पदार्थ के आकार आदि के साथ जो ग्रहण होता है वह ज्ञान है। अन्य आचार्यों ने दर्शन और ज्ञान की ऐसी व्याख्या की है। किन्तु वीरसेन इस व्याख्या से सहमत नहीं जान पड़ते। उन्होंने सामान्य पद से आत्मा का ग्रहण करके दर्शन का यह अर्थ किया है कि उपयोग की आभ्यन्तर-प्रवृत्ति का नाम दर्शन[1] है और बाह्य-प्रवृत्ति का नाम ज्ञान है। किसी पदार्थ को जानने के पहले जो आत्मोन्मुख वृत्ति होती है उसे दर्शन कहते हैं और घट आदि बाह्य पदार्थो का जानना ज्ञान है। इस प्रकार वीरसेन ने आत्मप्रत्यय को दर्शन और परप्रत्यय को ज्ञान कहा है।

गृहीतग्राही ज्ञान में प्रामाण्य-समर्थन :

प्रमाण रूप ज्ञान को अगृहीतग्राही होना चाहिए या गृहीतग्राही ज्ञान में भी प्रमाणता हो सकती है, इस विषय में आचार्यों में मतभेद रहा है। अकलंक आदि आचार्यों ने प्रमाण को अगृहीतग्राही माना है। किन्तु वीरसेन ने गृहीतग्राही ज्ञान में प्रमाणता का समर्थन किया है। उन्होंने ईहादि ज्ञानो के निरूपण के समय यह बतलाया है कि गृहीतग्राही होने से ईहादि ज्ञानों में अप्रमाणता की आशंका करना ठीक नहीं है। क्योंकि पूर्णरूप से अगृहीत अर्थ को ग्रहण करने वाला कोई भी ज्ञान उपलब्ध नही होता है। गृहीत अर्थ को ग्रहण करना अप्रमाणता का कारण नही है, क्योंकि संशय, विपर्यय और अनध्यवसायरूप ज्ञानो में ही अप्रमाणता पाई जाती है[2]।

इस प्रकार वीरसेन ने अनेक विषयों पर अपने मौलिक विचार व्यक्त किए हैं।

वीरसेन का समय :

धवला की प्रशस्ति में धवला-टीका के समाप्त होने का समय वर्ष, मास, तिथि, नक्षत्र आदि के साथ दिया है तथा जगतुंगदेव और नरेन्द्रचूड़ामणि बोद्दणराय नाम के राजाओं का उल्लेख भी किया है। उन्ही के राज्य में धवला-टीका रची गई थी। अतः धवला की प्रशस्ति के अनुसार यह सुनिश्चित निष्कर्ष निकलता है कि धवला की समाप्ति शक सम्वत् ७३८, कार्तिक शुक्ला त्रयोदशी, तदनुसार ८ अक्टूबर सन् ८१६ को हुई थी। अतः वीरसेन का समय ईसा की आठवी शताब्दी का उत्तरार्ध सुनिश्चित है।

नामकरण :

वीरसेन ने अपनी टीका का नाम धवला क्यों रक्खा, इसका कोई कारण तो नहीं बतलाया है, लेकिन धवला नाम का उल्लेख प्रशस्ति में अवश्य किया है। धवला-टीका कार्तिक मास के धवल (शुक्ल) पक्ष की त्रयोदशी को समाप्त हुई थी। संभवतः इसी कारण इसका नाम धवला रख दिया हो। धवल का अर्थ श्वेत के अतिरिक्त शुद्ध, विशद और स्पष्ट भी होता है। इन गुणों से युक्त होने के कारण भी धवला नाम संभव है। यह टीका अमोघवर्ष प्रथम के राज्यकाल में पूर्ण हुई थी।

---

१. अंतरंगविसयस्स उवजोगस्स अणायारत्तब्भुवगमादो।

—धवलाटीका खण्ड ५, भाग १–३ पृ० २०७।

२. न गृहीतग्राहित्वादप्रामाण्यम्, सर्वात्मना अगृहीतग्राहिणो बोधस्यानुपलंभात्। न च गृहीतग्रहणमप्रामाण्यनिबन्धनम्, संशयविपर्ययानध्यवसायजातेरेव अप्रमाणत्वोपलंभात्।—धवला टीका खण्ड ५, भाग १-३, पृ० २१९।

इनकी अनेक उपाधियाँ थी, जिनमें से एक उपाधि अतिशय धवल भी थी। संभवतः यह उपाधि भी धवला-नामकरण में निमित्त कारण हुई हो। चाहे धवला नाम का कारण कुछ भी रहा हो, लेकिन यह टीका अपने नाम के अनुरूप ही समस्त भुवन को चिरकाल तक धवल करती रहेगी।

वीरसेन के सामने उपलब्ध साहित्य :

वीरसेन ने धवला टीका में अपने पूर्ववर्ती अनेक आचार्यों तथा उनके ग्रन्थों का उल्लेख करके उनमें से अनेक अवतरण दिए है। इसके अतिरिक्त नामोल्लेख के बिना भी गद्य और पद्य के अनेक उद्धरण दिए है जो इस बात को प्रमाणित करते है कि उनके सामने विशाल जैन साहित्य विद्यमान था और उसका उन्हें पूर्ण ज्ञान था।

टीका की भाषा :

जैनागम और दर्शन के व्याख्याताओं ने सदा ही लोक-भाषा का समुचित आदर किया है। यही कारण है कि भगवान् महावीर ने अर्धमागधी में अपना उपदेश दिया था। अर्धमागधी में आधे शब्द मगध की भाषा के तथा आधे इतर प्रान्तों की भाषा के रहते थे, जिससे सब लोगो को समझने में सुविधा हो। आजकल अर्धमागधी को प्राकृत का ही एक प्रकार माना जाता है। महावीर के बाद भी जैन परम्परा में प्राकृत का प्राबल्य रहा है। इसी परम्परा के अनुसार जैनागम के ऊपर सर्वप्रथम-ग्रन्थ षट्खण्डागम की रचना भी प्राकृत में ही हुई थी। वीरसेन के सामने जो जैनसाहित्य विद्यमान था उसका अधिकांश भाग प्राकृत में ही था। इसी कारण वीरसेन की टीका का बहुभाग प्राकृत में ही है। तथा कुछ भाग संस्कृत मे है। इसका कारण यह मालूम पडता है कि वीरसेन के समय में संस्कृत का प्रचार बढ चला था और प्राकृत का प्रचार कम होने लगा था। अतः वीरसेन ने संस्कृत को भी अपनी टीका मे स्थान दिया है। इस प्रकार जैनाचार्यों द्वारा प्राकृत और संस्कृत मे सहस्रों ग्रन्थ लिखे गए। पुनः जब से संस्कृत का प्रचार कम हुआ और हिन्दी की प्रतिष्ठा होने लगी तब से हिन्दी में भी आचार्य-परम्परा के अनुसार ग्रन्थो का निर्माण होने लगा। हिन्दी में मौलिक निर्माण के अतिरिक्त प्राकृत और संस्कृत के ग्रन्थों का अनुवाद भी अधिक मात्रा में हुआ है और हो रहा है।

उपसंहार :

आज से लगभग ५० वर्ष पहले पुष्पदन्त, भूतबलि और वीरसेन की कृतियाँ केवल दर्शन की ही वस्तु थी और उनका दर्शन भी सुलभ नही था। किन्तु हमारे सौभाग्य से समाज के कुछ मूर्धन्य श्रीमानों और धीमानों के सतत परिश्रम एवं त्याग के फलस्वरूप आज उक्त कृतियो का प्रायः समस्त भाग हिन्दी अनुवाद सहित प्रकाशित हो गया है। केवल जयधवला का कुछ भाग प्रकाशित होने को शेष रहा है। अतः भगवान् महावीर के द्वारा कथित, गौतम गणधर के द्वारा ग्रथित धरसेन द्वारा संरक्षित तथा पुष्पदन्त, भूतबलि और वीरसेन के द्वारा रचित जिनागम को आज एक साधारण जन भी हृदयङ्गम कर सकता है।

● ● ●

परीक्षामुख : एक अनुशीलन

श्री सुदर्शनलाल एम० ए०
शोध-छात्र, काशी हिन्दूविश्वविद्यालय

तत्त्वार्थ के प्रतिपादन में जो स्थान जैन-धर्म के तत्त्वार्थसूत्र का, ब्रह्मविद्या के प्रतिपादन में ब्रह्मसूत्र का, योगशास्त्र के विवेचन में पातञ्जल-योगसूत्र का और न्यायशास्त्र के न्याय-निर्णय में गौतम के न्यायसूत्र का है, वही स्थान एवं प्रसिद्धि जैन न्याय के आद्य सूत्र ग्रन्थ परीक्षामुख की भी है। कहीं-कहीं पर परीक्षामुख के सूत्र गौतम के न्यायसूत्र से अधिक लघु, तर्कसंगत एवं सुस्पष्ट अर्थ से समन्वित दृष्टिगोचर होते हैं।

विषय-परिचय :

परीक्षामुख में मुख्यरूप से प्रमाण और प्रमाणाभास का २१२ सूत्रों द्वारा, जो ६ परिच्छेदों में विभक्त है, विशद एवं तर्कसंगत चिन्तन प्रस्तुत किया गया है। ग्रन्थारम्भ में एक कारिका[1] द्वारा प्रतिपाद्य विषय और ग्रन्थ-निर्माण का प्रयोजन बताया गया है तथा ग्रन्थ-परिसमाप्ति के अवसर पर भी एक कारिका[2] दी गई है, जिसमें 'बाल' शब्द से अपनी अल्पज्ञता एवं विनयशीलता का परिचय देते हुए परीक्षामुख को हेयोपादेयतत्त्व का निर्णय करने के लिए एक दर्पण बताया गया है। ग्रन्थ में विषय-प्रतिपादन इस प्रकार हुआ है :

१. प्रथम परिच्छेद में १३ सूत्रों द्वारा प्रमाण के स्वरूप तथा उसके प्रामाण्य का निश्चय किया गया है।

२. द्वितीय परिच्छेद में सर्वप्रथम प्रमाण के दो भेद करके प्रत्यक्ष के मुख्य और सांव्यवहारिक दोनों भेदों का विचार १२ सूत्रों में किया गया है।

३. तृतीय परिच्छेद में परोक्ष प्रमाण के पांचों भेदों (स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान और आगम) का विवेचन १०१ सूत्रों में किया गया है। इसमें न्याय के प्रमुख अङ्ग अनुमान का विशाल वंश-वृक्ष भी समुपस्थित किया है। अतः यह परिच्छेद सबसे बड़ा हो गया है।

४. चतुर्थ परिच्छेद में ९ सूत्रों द्वारा प्रमाण का विषय सामान्य-विशेषात्मक वस्तु बतलाकर उसका सभेद वर्णन प्रस्तुत किया गया है।

---

१. प्रमाणादर्थसंसिद्धिस्तदाभासाद्विपर्ययः।
इति वक्ष्ये तयोर्लक्ष्म सिद्धमल्पं लघीयसः ॥ १ ॥

२. परीक्षामुखमादर्शं हेयोपादेयतत्त्वयोः।
संविदे माहशो बालः परीक्षादक्षवद्व्यधाम् ॥ २ ॥

५. पंचम परिच्छेद में केवल ३ सूत्र हैं, जिनमें प्रमाण के उभयविध फल ((१) साक्षात्फल-अज्ञाननिवृत्ति तथा (२) परम्पराफल-हानोपादानोपेक्षाबुद्धि) को कहकर उसे प्रमाण से कथंचित् भिन्न और कथंचित् अभिन्न बतलाया गया है।

६. षष्ठ परिच्छेद में प्रमाणाभासों (स्वरूपाभास, संख्याभास, विषयाभास और फलाभास) का सविस्तृत विवेचन उपलब्ध है। अन्त में जय-पराजय आदि की भी जैन दृष्टि से व्यवस्था की गई है। इस परिच्छेद में कुल ७४ सूत्र है।

इस तरह इस परीक्षामुख में जैन न्याय के प्रायः सभी उपादानों—मौलिक विषयों पर प्राञ्जल एवं विशद भाषा में बड़ी कुशलतापूर्वक प्रकाश डाला गया है। इसीसे संभवतः आचार्य प्रभाचन्द्र ने परीक्षामुख को गम्भीर, निखिलार्थप्रकाशक, निर्मल, शिष्य-प्रबोध-प्रद एवं अद्वितीय रचना कहा है।[१]

उद्गम :

इस परीक्षामुख को आचार्य अकलङ्क के वचनरूपी समुद्र से मथकर निकाला गया न्याय-विद्यामृत कहा गया है।[२] वस्तुतः परीक्षामुख का मूल उद्गम-स्रोत आचार्य अकलङ्क के न्याय-ग्रन्थ (अष्टशती, लघीयस्त्रय, न्यायविनिश्चय, प्रमाणसंग्रह एवं सिद्धिविनिश्चय) है। कुछ अंशो में आचार्य विद्यानन्द के ग्रन्थ (प्रमाणपरीक्षा, पत्रपरीक्षा, तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक आदि) भी है।[३]

परीक्षामुख जितना सरल है उतना ही गम्भीर है। यही कारण है कि जैन न्यायशास्त्र में प्रवेश के लिए प्रथमतः इसका अध्ययन किया जाता है। तदुपरान्त इस पर लिखी गई टीकाओं के आधार पर इसके गहन अर्थ का स्पष्टीकरण अवगत किया जाता है।

टीकाएँ :

इस परीक्षामुख की कई महत्त्वपूर्ण टीकाएँ उपलब्ध है। उनमे सर्वप्रथम आचार्य प्रभाचन्द्र द्वारा लिखित १२ हजार श्लोक प्रमाण 'प्रमेयकमलमार्त्तण्ड' नामकी विशाल टीका है, जिसके अध्ययन से समस्त न्यायशास्त्र का सम्यग्ज्ञान हो जाता है।[४] इसके ऊपर मैं हिन्दी टीका लिख रहा हूं जिसका प्रथम परिच्छेद पूर्ण हो चुका है। उसमे मै इस ग्रन्थ पर विशद विचार करूंगा। इसके उपरान्त १२वी

१. 'गम्भीरं निखिलार्थगोचरमलं शिष्यप्रबोधप्रदम्।
यद्व्यक्तं पदमद्वितीयमखिलं माणिक्यनन्दिप्रभोः॥'

२. 'अकलङ्कवचोम्भोधेरुद्दध्रे येन धीमता।
न्यायविद्यामृतं तस्मै नमो माणिक्यनन्दिने।'—प्रमेयरत्नमाला श्लो० २।

आचार्य प्रभाचन्द्र ने भी प्रमेयकमलमार्त्तण्ड के प्रारम्भ में कहा है—

'श्रीमदकलङ्कार्थोऽव्युत्पन्नप्रज्ञैरवगन्तुं न शक्यत इति तद्व्युत्पादनाय करतलामलकवत् तदर्थमुद्धृत्य प्रतिपादयितुकामस्तत्परिज्ञानाऽनुग्रहेच्छाप्रेरितस्तदर्थप्रतिपादनप्रवणं प्रकरणमिदमाचार्यः प्राह।'

३. इस सम्बन्ध में प्रो० दरबारीलालजी कोठिया का वह शोधपूर्ण निबन्ध दृष्टव्य है जो अनेकान्त (वर्ष ५, किरण ३, ४) तथा आप्तपरीक्षा की प्रस्तावना में प्रकाशित है। उन्होंने इसमें ग्रन्थों की तुलना द्वारा परीक्षामुख के मूल-स्रोतों की खोज प्रस्तुत की है।

४. विशेष—प्रमेयकमलमार्त्तण्ड-भूमिका—पं० महेन्द्रकुमार न्यायाचार्य।

शताब्दी के आचार्य लघु अनन्तवीर्य ने 'प्रमेयरत्नमाला' (जो 'परीक्षामुखपञ्जिका' एवं 'परीक्षामुख-लघुवृत्ति' के भी नाम से प्रसिद्ध है) नाम की प्रसन्न और ललित शैली वाली टीका लिखी है, जिस पर कालान्तर में 'अर्थप्रकाशिका' और 'न्यायमणिदीपिका' नामकी दो टीकाएँ लिखी गईं। इसके उपरान्त नव्यन्याय के प्रचार को देखकर आचार्य चारुकीर्ति ने जैन न्याय को उसी शैली मे ढालने के प्रयत्न स्वरूप 'प्रमेयरत्नालंकार' नाम की टीका लिखी, जो 'प्रमेयकमलमार्त्तण्ड' और 'प्रमेयरत्नमाला' को एक कड़ी में जोड़ने का उपक्रम करती है। चतुर्थटीका 'प्रमेयकण्ठिका' है जो 'परीक्षामुख' के प्रथम सूत्र (स्वापूर्वार्थव्यवसायात्मकं ज्ञानं प्रमाणम्) पर पाँच स्तवकों में श्रीच्छान्तिवर्णि द्वारा लिखी गई है।[1]

महत्त्व और ग्रन्थ-वैशिष्ट्य :

उत्तरकाल में परीक्षामुख का इतना व्यापक प्रभाव पड़ा है कि परवर्ती अनेक आचार्यों के ग्रन्थ परीक्षा मुख के उपजीव्य बने हैं। हेमचन्द्राचार्य की 'प्रमाणमीमांसा' और वादिदेवसूरि का 'प्रमाणनयतत्वालोकालंकार' ये दो ग्रन्थ तो परीक्षामुख के विशेष आभारी है।

प्रभाचन्द्र, लघु अनन्तवीर्य, पण्डिताचार्य चारुकीर्ति, शान्तिवर्णी आदि कई विद्वान उनके प्रमुख टीकाकार हो हैं। न्यायदीपिकाकार आचार्य अभिनवधर्मभूषण ने न्यायदीपिका में परीक्षा-मुख के सूत्रो को सादर उद्धृत किया है।[2] एक स्थल पर तो परीक्षामुखसूत्रकर्ता के लिए 'भगवान्' और 'भट्टारक' जैसे विशेषणों से सम्बोधित किया है।[3]

इसके सभी सूत्र नपे-तुले, सार-युक्त, अर्थ-गर्भ, असंदिग्ध और अल्प शब्दो को लिए हुए हैं। उदाहरणार्थ प्रथम सूत्र को ही लीजिए। इसके सभी पद सहेतुक, तथा अपनी विशेषता के द्योतक है। परीक्षामुख में प्रायः सर्वत्र परमत के निराकरण के साथ स्वमत-स्थापना की शैली का प्रयोग किया गया है। उदाहरण के लिए निम्न सूत्रों को देखिए:—

(क) तत्प्रामाण्यं स्वतः परतश्च।—परीक्षामुख १-१३।

(ख) एतद्द्वयमेवानुमानाङ्गं नोदाहरणम्। ३-३३।

(ग) न च ते तदङ्गे।—३-३६।

कुछ ग्रन्थों के साथ परीक्षामुख की तुलना :

(क) परीक्षामुख और प्रमाणनयतत्त्वालोकालङ्कार—प्रमाणनयतत्वालोकालङ्कार और परीक्षामुख के सूत्रों की जब हम तुलना करते है तो लगता है कि परीक्षामुख के सूत्र ही वादिदेव-सूरि ने कहीं कुछ शब्द-परिवर्तन करके ज्यों-के-त्यों रख दिए है, कहीं शब्दाडम्बर इतना बढ़ा दिया है कि अर्थ भी क्लिष्ट हो गया है, कहीं-कहीं उदाहरणों में अप्रसिद्ध शब्दो का प्रयोग भी किया गया है

---

१. विशेष जानकारी के लिए तत्तत् ग्रन्थों का तथा प्रो० दरबारीलाल जी के प्रबन्ध का (हीरकजयन्ति-कानजीस्वामी-अभिनन्दनग्रन्थ, पृष्ठ—३००) अवलोकन करें।

२. न्यायदीपिका (सम्पादन तथा हिन्दी अनुवाद—प्रो. दरबारीलाल कोठिया) पृष्ठ-२६, २७, ३३, ३४, ५२, ७३, ७४, ८० तथा ९९ आदि।

३. 'तथा चाह भगवान् माणिक्यनन्दिभट्टारकः'—न्यायदीपिका, पृष्ठ–१२०

जिससे अर्थावबोध में कष्ट होता है, कहीं-कहीं सूत्रों का भाव ही तिरोभूत हो गया है। कहीं सूत्र इतने लम्बे दिखाई पड़ते हैं, जैसे कोई भाष्य लिखा जा रहा हो।[१] इसके विपरीत परीक्षामुख के सूत्र लघु, सरल और अर्थगरिमा से समन्वित है। प्रमाणनयतत्त्वालोकालंकार के प्रथम छह परिच्छेद तो परीक्षामुख के आधार पर बनाये गये है, परन्तु अन्तिम दो परिच्छेदों में नयादि का अतिरिक्त वर्णन किया गया है, जिसकी 'परीक्षामुख' में केवल सूचना दी गई है। प्रमाणनयतत्त्वालोकालङ्कार में सूत्रात्मकता की अपेक्षा वृत्तिरूपता अधिक है। संभवतः लेखक का अभिप्राय विषय-स्पष्टीकरण एवं पाण्डित्य-प्रदर्शन रहा हो।

(ख) परीक्षामुख और प्रमाणमीमांसा—इन दोनों ग्रन्थों की भी तुलना करने पर[२] ज्ञात होता है कि प्रमाणमीमांसा में भी परीक्षामुख का पर्याप्त अनुकरण किया गया है। अनुकरण करने पर भी प्रमाणमीमांसा के सूत्रों में वह लघुरूपता नहीं आ पाई, जो परीक्षामुख के सूत्रों में है। इतना अवश्य है कि उसके सूत्रों में प्रमाणनयतत्त्वालोकालंकार के सूत्रों की तरह दीर्घरूपता नहीं है।

(ग) न्यायसूत्र, न्यायबिन्दु और परीक्षामुख—यद्यपि परीक्षामुख मे धर्मकीर्ति के न्यायबिन्दु, दिङ्नाग के न्यायप्रवेश और गौतम के न्यायसूत्र का प्रभाव परिलक्षित होता है तो भी परीक्षामुख के सूत्र न्यायबिन्दु आदि की अपेक्षा अल्पाक्षर और अर्थगर्भ हैं। न्यायसूत्र और न्याय-बिन्दु में प्रमाणसामान्य का कोई लक्षण उपलब्ध नहीं है, केवल उसके भेदों को गिना दिया गया है। पर परीक्षामुख मे प्रमाणसामान्य का लक्षण तथा उसके भेद दोनों उपलब्ध हैं। इसी तरह न्यायसूत्र में सव्यभिचार हेत्वाभास का लक्षण करते समय उसका पर्यायवाची ही शब्द रखा गया है[३] जिससे उसका लक्षण स्पष्ट नहीं हो सका है। जब कि परीक्षामुख में उसका लक्षण स्पष्ट मिलता है[४]।

इससे प्रकट है कि परीक्षामुख न केवल जैन न्याय-विद्या का एक अपूर्व ग्रन्थ है, अपितु भारतीय न्याय शास्त्र-गगन का वह एक प्रकाशमान् नक्षत्र है।

ग्रन्थकार :

परीक्षामुख के कर्त्ता कौन है और उनका समय एवं परिचय क्या है ? आदि प्रश्नों का यहाँ उठना स्वाभाविक है। अतः उनपर यहाँ कुछ विचार किया जाता है।

इस महत्त्वपूर्ण जैन न्यायसूत्र ग्रन्थ के कर्त्ता आचार्य माणिक्यनन्दि हैं, जिनका उल्लेख एवं स्मरण शिला लेखों[५] और समवर्ती[६] एवं उत्तरवर्ती साहित्यिक रचनाओं में[७] किया गया है। उनके समकालीन आचार्य नयनन्दि (वि० की ११ वीं शती) ने उन्हें 'महा पण्डित' और 'तर्ककुशल'

---

१. क्रमशः द्रष्टव्य सूत्रों की संख्या—(क) प्रमा. न. १-३ तथा २-२ परी १-२ तथा २-३।

२. विशेष के लिए देखें, पं० वंशीधरजी व्याकरणाचार्य का इस विषय का लेख, जैन सिद्धान्त-भास्कर भाग २ कि. १,२। ३. 'अनैकान्तिकः सव्यभिचारः।'—न्यायसू० १-२ ५।

४. 'विपक्षेऽप्यविरुद्धवृत्तिरनैकान्तिकः।'—परीक्षामुख ६-३०। ५. देखें, शिलालेख नं० १०५ (२२४) शिलालेख संग्रह पृ० २००। ६. देखें, नयनन्दिका सुदंसणचरिउ। ७. देखें, प्रमेयकमल-मार्त्तण्ड तथा प्रमेयरत्नमाला।

लिखा है।[1] प्रभाचन्द्र और अनन्तवीर्य जैसे उनके समर्थ टीकाकार तो उनकी प्रशंसा करते हुए नहीं अघाते हैं। प्रभाचन्द्र कहते हैं[2] कि उनके चरणप्रसाद से ही उन्हें जैन न्यायशास्त्र तथा अजैनन्याय-शास्त्रका ज्ञान हुआ है, जिसके वे समुद्र है। अनन्तवीर्य 'नमो माणिक्यनन्दिने' जैसे सम्मान-सूचक शब्दो द्वारा उनके प्रति अत्यधिक आदर एवं श्रद्धा व्यक्त करते हैं।[3] इससे मालूम पड़ता है कि माणिक्यनन्दि तर्कशास्त्र के पण्डित तो थे ही, अन्य शास्त्रों के भी वे मर्मज्ञ थे।

इनका समय प्रो० दरबारीलाल जी कोठियाने ऊहापोह के साथ विक्रम की ११ वीं शताब्दी (ई० सन् १०२८) निर्णीत किया है और अनेक आधारों से माणिक्यनन्दि और उनके आद्य टीका-कार प्रभाचन्द्र में गुरु-शिष्य का सम्बन्ध सिद्ध किया है।[4]



भगवान् महावीर का दिव्य दर्शन

श्री श्रीरञ्जन सूरिदेव

साहित्य-दर्शनाचार्य, राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना

[...इस संसार का कर्त्ता कोई नहीं है और न किसी के द्वारा इसका मूलतः उच्छेद ही हो सकता है। परिवर्त्तनशीलता के कारण ही इसका 'संसार' यह नाम पड़ा है......]

मिट्टी से घड़ा बनता है और फिर वही घड़ा कालान्तर में मिट्टी के रूप में परिणत हो जाता है। इसी प्रकार, यह संसार परिणमन या परिवर्त्तनशील है। किन्तु, साथ ही यह भी ज्ञातव्य है कि संसार में परिवर्त्तनशीलतारूप गुण के बावजूद अनादित्व और अनन्तत्व भी है। इस संसार का कर्त्ता कोई नहीं है और न किसी के द्वारा इसका मूलतः उच्छेद हो हो सकता है। परिवर्त्तनशीलता के कारण ही इसका 'संसार' (संसरतीति) नाम पड़ा है।

उपरिविध संसार की रचना जीव और अजीव इन दो तत्त्वों के संमिश्रण से हुई है। चैतन्य जीवात्मक होता है। इसका अशुद्ध और शुद्ध रूप से दो प्रकार का परिणमन होता है। जीव का अजीव के साथ संबंध अनादिकालीन है, अतएव वह विकारी होता है। यों तो, सोना शुद्ध और दीप्तिमान् है, किन्तु खान से निकलते समय खनिज मल (किट्ट, कालिमा आदि) से युक्त

१. देखो, नयनन्दिका सुदं सणचरिउ। २. देखो, प्रमेयकमलमार्त्तण्डके आदि व अन्तिम प्रशस्ति-पद्य। ३. देखो, प्रमेयरत्नमाला कारिका २। ४. देखो, प्रो० दरबारीलाल कोठिया, आप्तपरीक्षा की प्रस्तावना पृष्ठ २६।

रहता है। उसमें शुद्धता और दीप्तिमत्ता बाद में आती है। तद्वत् प्रारंभ में अजीवाबद्ध जीव आगे जाकर सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र द्वारा शुद्ध बनता है।

यहाँ यह स्मरणीय है कि परिणति के बावजूद जीव और अजीव का पृथक् अस्तित्व सदा एक समान रहता है। जीव कभी अजीव नहीं हो सकता और न अजीव जीव ही। फिर भी, जल में कमल के समान दोनों एक-दूसरे से लिपटे रहते है, निरन्तर। अजीव से जीव को मुक्त कराने में ज्ञान ही एकमात्र समर्थ होता है। जब तक ज्ञान जीव को अजीव की अनर्थकारिता की ओर से सावधान नहीं करता, तब तक वह अजीव से लिपटा रहता है और लिपटता ही चला जाता है। इस विषय को सोदाहरण इस प्रकार समझा जा सकता है कि जैसे मनुष्य मदिराजन्य आवेश में इतना विकृतज्ञान हो जाता है कि वह अपने आत्मीयों को अच्छी तरह पहचान नहीं पाता, वैसे ही अनादिकाल से अजीव के सम्पर्क ने जीव पर ऐसा गहरा रंग जमा रखा है कि उसके द्वारा अपना असली चैतन्य रूप समझ पाना मुश्किल है और न यही अनुभव कर पाना सम्भव है कि अजीव से मेरा अस्तित्व सर्वथा पार्थक्ययुक्त है।

अजीव पाँच प्रकार का होता है—पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल। इन पांचों में पुद्गल के अतिरिक्त शेष चार अमूर्त्त, अतएव अनुभवगम्य है। पुद्गल, मूर्त्त अतएव रूपरसगन्ध-स्पर्शात्मक होता है। जीव और पाँच प्रकार के अजीव ये छह द्रव्य अनादितः परिणमनशील है। थोड़ा फर्क यह है कि धर्म, अधर्म, आकाश और काल इन चार द्रव्यों का परिणमन अपने स्वभाव के अनुकूल ही होता है, इनका वैकारिक परिणमन नहीं होता है।

कहा जा चुका है कि जीव और अजीव का वैकारिक परिणमन ही संसार शब्द से संज्ञित है। इसे यों समझिए कि चूने का रंग उजला है और हल्दी का रंग पीला। किन्तु, दोनों पदार्थों को मिला देने पर उनका रंग लाल हो जाता है। अल्पज्ञान व्यक्ति यह नहीं समझता कि यह लाल रंग दो पदार्थों के सम्मिश्रण से बना है, किन्तु दोनों तत्त्वों का ज्ञान रखनेवाला रासायनिक व्यक्ति उक्त लाल रंग को देखते ही झटिति कह देगा कि यह लाल रंग हल्दी और चूने का सम्मिश्रित परिणमन है, किसी एक पदार्थ का यह रंग नहीं है। ठीक इसी प्रकार, संसार को केवल जीवात्मक नहीं कहा जा सकता और न केवल अजीवात्मक ही। जीव और अजीव का सम्मिश्रित परिणमन ही 'संसार' कहा जा सकता है। पुद्गल के परिणमन का ही यह फल है कि जीव केवल ज्ञाता और द्रष्टा ही नहीं होता, वरन् वह अनुभूतिशील भी होता है। पुद्गल के संयोग से ही जीव में राग, द्वेष, मोह आदि विकार उत्पन्न होते है और वह अजीव को भी अपना मानकर उसके वियोग मे सुख, दुःख आदि का अनुभव करता है।

अजीव की तुलना मधु से लिपटी तलवार से की जाती है। जीव जब तक अज्ञानावस्था में रहता है, तब तक उसे अजीव मधुमय मालूम होता है, उसकी अन्तःस्थिति भयंकर घातकता की ओर उस जीव की दृष्टि जाती ही नहीं। किन्तु, जब जीव को साधना द्वारा क्रमशः रत्नत्रय — सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की प्राप्ति हो जाती है, अतः अपने 'स्व' रूप से 'पर' में भिन्नता दृष्टिगोचर होने लगती है, अतः अपने 'स्व' रूप के ज्ञान को ही स्वसंवेदन ज्ञान या सम्यग्दर्शन कहते है। बिना सम्यग्दर्शन के सत्य का आलोक मिलना सम्भव नहीं।

जीव को जब सम्यग्दर्शन प्राप्त हो जाता है, तब अजीव के प्रति उसका दृष्टिकोण ही बदल जाता है। मिथ्या आलोक में पड़ा हुआ जीव जिन वैषयिक सुखों को सही मानता रहता है, सत्य

के आलोक से उग्निद्र होने पर उसी जीव की वैषयिक सुखों के प्रति किसी प्रकार की आसक्ति नहीं रह जाती एवं न उन्हें वह अपना ही मानता है। इसी विवेक का नाम सम्यग्ज्ञान है।

उक्त सम्यग्ज्ञान के प्राप्त कर लेने के बाद क्रमशः जीव के मन में सांसारिक पदार्थों के प्रति लालसा तक भी नहीं रहती। ऐसी स्थिति में जीव यथासम्भव सांसारिक विषय का सेवन कतई नहीं करता, यदि सेवन करता भी है, तो उसका यह विवेक सदा जागरूक रहता है कि ये भोग मेरे कर्म-रोग की प्रतिक्रियामात्र है। और, वह इनसे सर्वदा मुक्त होने को उन्मन बना रहता है। इस विषय की स्पष्टता के लिए यह उदाहरण अनुकूल होगा कि जैसे जेलखाने में बन्द कैदी अनेक प्रकार के कपड़े तैयार करता है, परन्तु वह समझता है कि ये कपड़े मेरे उपयोग में आने को नहीं, ये तो किसी दूसरे के लिए है। मुझे तो इन कपड़ों को जेलर की आज्ञा से बनाना पड़ रहा है। यदि मैं इस कैदखाने से मुक्ति पाऊँ, तभी अपने लिए वस्त्रोद्योग में लग सकता हूँ। अभी तो मैं केवल जेल के नियमों का पालन-मात्र कर रहा हूँ। ठीक इसी प्रकार, विवेकी जीव सासारिक कार्यों का सम्पादन करता हुआ सदा यही समझता है कि यह सब उपाधि-मात्र है, इससे छुटकारा मिलने पर ही अपने 'स्व' रूप को प्राप्त किया जा सकता है। फलतः जीव से जहाँ तक हो सकता है, भरसक वह अपने इन्द्रिय और मन पर नियन्त्रण रखता है। सच्चे अर्थ में इन्द्रिय और मन के रोकने को ही सम्यक् चारित्र कहा जाता है।

उक्त रत्नत्रय का आंशिक प्रकाश जबतक जीव को मिलता रहता है, तबतक वह स्वरूपज्ञान-में तत्पर रहता है, और जब रत्नत्रय का पूर्ण विकास हो जाता है, तब वह जीव अजीव से अपने को बिलकुल अलग कर शुद्ध परमात्मपद को प्राप्त कर लेता है। यहाँ एक बात अविस्मरणीय है कि प्रत्येक जीव में परमात्मा बनने की शक्ति निहित है। आत्मा (जीव) ही अपनी साधनाओं द्वारा परमात्मा बनती है। यदि किसी का नाम 'ईश्वर' है, तो वह शुद्धात्मा ही है। अशुद्धात्मा का नाम 'संसारी' या 'जीव' है। यही कारण है कि अनन्त तपस्साधनों द्वारा अपनी आत्मा को भावित कर लेने के कारण ही भूतपूर्व सांसारिक जीव भविष्य में, एक ही जीवन में, तीर्थंकर या ईश्वर बन गये। इसीलिए तीर्थंकरो को नमस्कार करने वाले उनसे किसी कृपा की प्राप्ति नहीं चाहते, वरन् उन्होने जो गुण प्राप्त किये हो, उन्ही की उपलब्धि उनका अभीष्ट है। गृद्ध्रपिच्छा-चार्य विरचित तत्वार्थसूत्र की वृत्ति में मंगलाचरण करते हुए आचार्य पूज्यपाद ने इसी पर कहा है :—

मोक्षमार्गस्य नेतारं भेत्तारं कर्मभूभृताम्।
ज्ञातारं विश्वतत्वानां वन्दे तद्गुणलब्धये ॥

अथवा श्रीमदकलङ्कदेवाचार्य-विरचित लघीयस्त्रय का यह मंगलश्लोक द्रष्टव्य है :—

धर्मतीर्थंकरेभ्योऽ स्तु स्याद्वादिभ्यो नमो नमः।
ऋषभादिमहावीरान्तेभ्यः स्वात्मोपलब्धये ॥

अब फिर, संसार-सर्जना का जहाँ तक प्रश्न है, पुद्गल (जड़द्रव्य) के अनेक रूपों में परिणमन ही इसका मूल कारण है। स्पष्ट यह कि पुदगल ही, अनेक आकृतियों में परिवर्त्तित होकर संसार की रचना करते हैं। वस्तुतः, प्रत्येक द्रव्य बहिरंग और अन्तरंग दोनों रूपों से पर्यायात्मक होता है। गेहूँ यदि द्रव्य है, तो रोटी उसका पर्याय माना गया है। अर्थात् गेहूँ में रोटी बनने की शक्ति निहित

है। अनेकान्त (स्याद्वाद) की दृष्टि से गेहूँ न केवल गेहूँ है, वरन् रोटी भी है। इसलिए रोटी न केवल रोटी, बरन् गेहूँ भी है। अतएव, गेहूँ गेहूँ भी है, रोटी भी है। रोटी रोटी भी है, गेहूँ भी है। यही कारण है कि शक्ति की दृष्टि से गेहूँ में रोटीपन अनादि है। गेहूँ में रोटी बनाने की शक्ति किसी के द्वारा पैदा नहीं की गई और न किसी से गेहूँ की रोटी बनने की शक्ति छीनी जा सकती है। हाँ, कोई इतना अवश्य कर सकता है कि गेहूँ में शक्ति-रूप से रहनेवाले रोटीपन को विकसित कर पूआ बना ले या और कोई पक्वान्न तैयार कर ले। अतः निस्सदेह पुद्गल का यह परिवर्त्तनवाद ही सांसारिक सृष्टि का रहस्य है। संसारी जीव पुदगल के उक्तविध परिणमन-कार्य के निमित्तमात्र है, नैमित्तिक या कर्त्ता नहीं। जीव का यह अज्ञान ही है कि वह अपने को पुद्गल-परिणमन का विधाता मान बैठता है।

दही और गुड़ को मिला देने पर केवल दही या केवल गुड़ का ही अलग स्वाद लेना कठिन है। स्वाद लेनेवाला इस उलझन में पड़ जाता है कि यह दही है या गुड़ है। जीवाजीवात्मक द्रव्य भी इसी प्रकार अत्यन्त ही उलझनदार है। इसी से संसारी जीव अपने 'स्व' रूप को भूलकर 'पर' द्रव्यों से उलझा रहता है। और यह उसी उलझन या अज्ञता का फल है कि जीव संसार के सभी पदार्थों में इष्ट और अनिष्ट की कल्पना करते है एवं इस कल्पना के जाल में मकड़ी की तरह उलझ जाते हैं। प्रसिद्ध दार्शनिक उदाहरण है कि मकड़ी जाल को तो स्वयं बनाती है, परन्तु जब वह स्वयं निर्मित जाल में फँस जाती है, तब वह उससे निकलने मे सर्वथा असमर्थ हो जाती है। ऐसी अवस्था से वह यह असलियत एकदम भूल जाती है कि इस जाल को जब मैंने स्वयं बनाया है, तब इसे तोड़कर भी निकल भाग सकती हूँ। ठीक इसी प्रकार, जीव अपनी कल्पनाओं से जिस संसार को सिरजता, उससे स्वयं निकल भी सकता है, फिर भी, अपनी अनन्त शक्ति को भूलकर अपने कल्पना-लोक में लिपटा हुआ लटका रहता है। दिनानुदिन वृद्धिङ्गत स्व-निर्मित संसारासक्ति जीव को इस प्रकार विवेकभ्रष्ट कर देती है कि वह अपने ऐन्द्रिय विषयों को सर्वाधिक महत्त्व देने लगता है। यहाँ तक कि महल, मकान, हाथी, घोड़े, स्त्री, पुत्र, धन-दौलत इत्यादि अप्रत्याशित विपत्तियाँ अनजाने मोल ले लेता है और तब फिर इनके व्यामोह में उसको उन्मुक्ति असम्भव-सी हो जाती है।

जीव को उक्त कल्पना-लोक की असारता तब मालूम होती है, जब वह एक शरीर को छोड़कर शरीरान्तर में जाने लगता है। महायात्रा के समय उसे इस असलियत का पता चलता है कि जिन्हें मैंने अपना और प्रिय समझा और जिनके प्रति, तत्त्व-चिन्तन की उपेक्षाकर, आसक्त रहा, वे मुझे अब अपने से अलग कर रहे हैं। कितने अशुद्ध जीव तो महायात्रा के समय भी मोहाविष्ट रहते है। वे यह सोचते है कि मेरे बाद मेरे बन्धुजन मेरी सम्पत्ति का उपयोग करेंगे। अस्तु,

रत्नत्रय-सम्पन्न तीर्थंकरों की दृष्टि में वही जीव शुद्ध है, जो अपने-आपको स्वतंत्र मानता है और प्रत्येक जीव को भी स्वतन्त्र समझता है। तत्त्वतः कोई जीव किसी का नहीं होता, और न कोई दूसरा ही जीव अपना बन सकता है। 'स्व' और 'पर' की भावना तो पुद्गल के पर्यायक्रम से उत्पन्न होनेवाली मिथ्या-भ्रान्ति है। जीव अपने उक्त पर्याय (स्त्री, पुत्र आदि) से तभी मुक्त हो सकता है, जब वह अपने विवेक से सुबुद्धि पाकर मुक्ति के हेतु प्रयत्नशील हो जाता है। जीव का विवेक जबतक उद्बुद्ध नहीं होता, तबतक उसे सत्य का आलोक नहीं मिल सकता। जीव की आत्मोन्नति आत्मचिन्तन और स्वरूपान्वेषण से ही सम्भव है। सही मानी में जीवत्व-प्राप्ति ही जीव का

साध्य है। दूसरे साधन तो केवल उपचार-मार्ग हैं। जीव को उपासना और कर्मकांड की उतनी ही खुराक चाहिए, जितनी से अपने 'स्व' रूप को समझने का अवकाश मिल सके।

जब तक 'स्व' रूप का ज्ञान नहीं होता, तब तक मोक्ष-प्राप्ति नहीं होती। जैन दार्शनिकों ने 'मोक्ष' की बड़ी विशद व्याख्या प्रस्तुत की है। संक्षेप में, आत्मा का हित ही 'मोक्ष' कहा गया है। आत्मा जब कर्म-मल, कलंक और शरीर को अपने से बिल्कुल अलग कर देती है, तब उसके अचिन्त्य स्वाभाविक ज्ञान आदि गुण-रूप एवं अव्याबाध सुख-रूप जो सर्वथा विलक्षण आत्यन्तिक अवस्था उत्पन्न होती है, उसे ही मोक्ष कहते है :—

'निरवशेषनिराकृतकर्ममलकलंकस्याशरीररस्यात्मनोऽचिन्त्यस्वाभाविकज्ञानादिगुणमव्ययाबाधसुखमात्यन्तिकमवस्थान्तरं मोक्ष इति।' —आचार्य पूज्यपादकृत सर्वार्थसिद्धि, अध्याय १

प्रसंगत: ज्ञातव्य है कि सांख्याचार्यों के मत से आध्यात्मिक, आधिभौतिक तथा आधिदैविक इन तीन प्रकार के दु:खों से सदा के लिए मुक्त हो जाना ही मोक्ष है, तथापि वे आत्मा के स्वरूप को चैतन्ययुक्त मानते हुए भी उसे ज्ञान रहित मानते हैं। उनकी मान्यता है कि ज्ञान-धर्म प्रकृति का है। उसीके संसर्ग से पुरुष (आत्मा) अपने को ज्ञानवान् अनुभव करता है एवं पुरुष के संसर्ग से प्रकृति अपने को चेतन अनुभव करती है। मोक्ष के संबंध में बौद्धों का विचार है कि दीपक के बुझा देने पर जिस प्रकार वह वहीं शान्त हो जाता है, कहीं आगे नहीं जाता तद्वत् आत्मा की सन्तति का अन्त हो जाना ही उसका मोक्ष है। आत्मा की सन्तति पीढ़ी-दर-पीढ़ी नहीं चलती, यानी आत्मा का पुनर्जन्म नहीं होता।

फिर भी, क्या सांख्य और क्या बौद्ध सब दार्शनिकों ने तत्त्वज्ञान को ही मूलत: मोक्ष का साधन माना है। एक ऐसा भी प्रबल दल है, जो केवल नाम-स्मरण को ही भवसागर पार उतरने का प्रधान साधन मानता है। नाम स्मरण का प्रकारान्तर हरिकीर्त्तन या रामधुन भी है। किन्तु जिस प्रकार रोग का निवारण दवा के स्मरण, दर्शन आदि एक-एक कारण से नहीं हो सकता, उसी प्रकार मोक्ष की प्राप्ति भी किसी एक के द्वारा कभी सम्भव नहीं, वरन् सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र इन तीनों की प्राप्ति से ही मोक्ष सम्भव है। इसीलिए आचार्य गृद्धपृच्छ ने तत्त्वार्थसूत्र-ग्रन्थ में कहा है :—

'सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः।'—१-१।

भगवान् महावीर ने अपने दिव्यदर्शन में इसी मोक्ष की प्राप्ति के लिए प्रयत्न करने का महान् संदेश दिया है।



The conception of self in Jaina metaphysics.

Rampravesh Pandey

H. D. Jain College, Arrah. (Magadh University)

[......The Conception of the self in the whole of the Indian Philosophy in general and Jainism in particular may be regarded as the alpha and Omega of our spiritual enquiry. ......]

The conception of self is one of the most crusial problems of philosophy which has been a matter of perenial importance. This is not only Indian philosopher's investigation rather it has been a problem for science, psychology and philosophy as a whole. Just as the letter "A" and "Z" stand for the beginning and end of our linguistic expression, similarly the notion of self is the beginning and end of Indian philosophy. Due to this paramount importance of the subject I was inclined to write an article which may be fragmentary approach in understanding the subject.

The conception of the self in the whole of the Indian philosophy in general and jainism in particular may be regarded as the alpha and omega of our spiritual enquiry But in jainism although the general conception of self remains the same with a little modification yet the name 'Jiva" has been given for a special interest which will be made clear later on.

If we survey the whole history of Indian philosophy we can find that it plays a vital role in every school of thought i.e. why it has been said that self is a pivot round which the whole of the structure of Indian philosophy moves and has its exhistence If we abolish the concept of self from the realm of Indian Philosophy the huge ornamental and organised building will shatter into pieces and perish away That's why Dr S. Radhakrishanan giving a genuine remark to the self writes that "what is our true seif ? while all our body organization undergo changes, while all our thoughts gather like clouds in the sky and disperse again, the self is never lost. It is present in all, yet distinct from all Its nature is not affected by ordinary happenings. It is the source of the sense of identity through numerous transformation. It is one thing that remains constant and unchanged, in the incessant and multiform activity of the universe, in the slow changes of organism, in the flux of sensations, in the dissipation of deeds, the faiding of memories." ¶

¶ See Eastern religion and western Thoughts.

Although the self has been used in various senses and has varied connotations, yet according to Shri Manmathnath Ghosh the word "self" has been used in only three different senses in the whole of the Philosophical literature in the western as well as in the eastern. Firstly, self occurs in the philosophical systems in the sense of permanent spiritual principle of unity, underlying, feeling and willing. Secondly, the word 'self' comes in the sense of an aggregate of mental states without any underlying principle of unity among them. Thirdly, the word 'self' appears to denote a concrete spiritual unity which is not above and beyond the mental phenomenon viz thinking, feeling and willing, but realises itself in them without loosing its unity and identity in them.

Thus according to the first view the self is an abstract unity, according to second the self is an abstract plurality and according to the third self is a concrete unity in plurality or identity in difference. In other words self can be viewed from three prospectives viz (a) noumenal view of the self (b) imperical view of the self (c) idealistic view of the self.

In order to determine the precise meaning in which of the three above senses, the self has been used in Jaina philosophy, we can say that the self has been used in Jainism in the first of the above three senses. That is to say according to Jainism self is a spritual principle having four fold perfection which is knower and enjoyer as well as the changing entity. Distinguisting more accurately the characteristics of 'Jiva' Acharya Nemichandra Sidhanta Chakravarti observes in the following verse :—

"जीवो उवओगमओ अमुत्तिकत्ता सदेहपरिमाणो ।
भोत्ता संसारत्थो सिद्धो सो विसस्सोड्ढगई ॥" †

means Jiva is characterise by Upayoga, is formless and an agent, has the same extent of as its own body, is the enjoyer (of the fruit of Karma) exhists in Samsar, is Siddha and has a characteristic upward motion. Acharya Gridhapiksha also defines self in Tattvarthasutra, as utility is the mark of self, ‡ or according to Pujyapad's conciousness is the essence of soul (चेतना लक्षणो-जीव:). Jiva occupies in all, the seven catagories of the Jain's metaphysics. If we deny this spritual principle the whole Jaina metaphysics falls down like the house of cards. That is why the self is the beginning round which all others catagories are encircled.

Jiva is not only the essence of the whole physical world, rather it is the essence of whole Jaina philosophy. In order to characterise the true nature of the self we can divide the whole of the Jain's opinion in two broad classifications.

---

† Dravya Samgrah, gatha no. 2.

‡ उपयोगो लक्षणम् ।

Although the Jaina writings are confused on this topic, yet we can comprise the whole of the various views under the title of trancedental and emperical self.

Regarding the eternal purity of soul or 'Jiva' the achievements of Jaina philosophy is very peculiar in relation to other systems. According to Jainism soul or Jiva is inherently perfect. It is possessed of fourfold perfection and infinite potentialities with it, which has been peculiarly called in Jaina literature by the name of अनन्त चतुष्टय that is to say infinite knowledge, infinite faith, infinite power and infinite bliss is the primary nature of every soul. But due to emperical super imposition upon it the soul looses its infinite potentialities and behaves like an ordinary worldly Jiva and in this connection this concept of jainism is very near to 'Advaitic' concept of ignorance. Both Advaitic and Jaina adopt identically the same attitude as to the nature of the individual self. Both the views maintain that the individual self in concrete world is ultimately identical with this absolute reality. The doctrine of identifying Jivatma and Paramatma is common to both Advaitic and Jaina philosophy.

In the whole of the Indian philosophical systems Jainas alone regard conciousness as the essential characteristic and genuine feature of every "Jiva" or every soul which has been fully illustrated in the very definition of the soul, that is to say conciousness is the essence of soul. This concept of Jainism regarding conciousness as the mark of soul seems to be complete antethesis of the materialistic concept of self, where it is said that conciousness is not the essential nature of the soul rather it is the by-product of material atoms. Refuting this materialistic's theory Prabha Chandracharya declares in his श्रीप्रमेयकमलमार्तण्ड as :—"पृथिव्यापस्तेजोवायुरिति तत्त्वानि, तत्समुदये शरीरेन्द्रियविषयसंज्ञाः तेभ्यश्चैतन्यम्"......................चैतन्याभि व्यक्तिवादस्य विरोधाच्च । किं च, सतोऽभिव्यक्तिः चैतन्यस्यासतो वा स्यात्सदसद्रूपस्य वा ? प्रथमकल्पनायां तस्यानाद्यनन्तत्वसिद्धिः, सर्वदा सतोऽभिव्यक्तेस्तामन्तरेणानुपपत्तेः । पृथिव्यादिसामान्यवत् । तथा च "परलोकिनोऽभावात् परलोकाभाव" इत्यपरीक्षिताभिधानम्..................चैतन्यस्य धारणादिस्वभावरहितस्यान्तःसंवेदनेनानुभवात् ।"

But not only this Jainas go step forward by declaring that conciousness is not the limiting property which remains in the particular place of the body rather it is extended in the whole of the body. That is why Jainas believe in a concept of extended conciousness and this extension varies with the development of the organs. The conciousness is extended in as much as in the body of elephent. But extension differs with the proportion of the body. Although there is difference in the extension of the conciousness but potentialty all the soul have equall fourfold perfections. As Uma Swami says in Tattvarthasutra······प्रदेशसंहारविसर्पाभ्याम् प्रदीपवत् ।

In order to study the true nature of the self as concieved by the Jaina thinkers. It is better to present a comperative concept of self as prevalent in other systems of thought. And in this connection we can devide the whole conception broadly under four headings.

(a) Materialistic concept of self.

(b, Other Indian systems than Jainism.

(c) Connection of self as found in western philosophers.

(d) Psychological concept of self.

(a) Generally all the materialists are agreed on this point that there is no seperate eternal conception of self other than this physical body. Soul is just the by product of different materialistic atoms. The well known ancient greek philosopher Democrites considered the soul to be composed of final smoother, under atoms. Huxley considers soul as an epiphenomenon of the brain and for him all the mental states or processes are merely occasioned by products of the physical process of the brain. Even Hobbs in the west and Carvakas in the east are the supporters of the above views. The "Carvakas" even go to the extent in the saying that soul is nothing but the living body qualified by conciousness. (चैतन्यविशिष्टदेह एव आत्मा) Just as firmented rice molashes are originally nonintoxicated becomes intoxicant when allowed to firment. As we find in the following verse of the Carvakasasthi.

"चतुर्भ्यः खलु भूतेभ्यः चैतन्यमुपजायते ।
किण्वादिभ्यो हि सर्वेभ्यः द्रव्येभ्यः मदशक्तिवत् ॥"

(b) The conception of self as found in Indian philosophies other than Jainism seems to be of diverse nature.·· But for convenience we can devide the whole opinion under three broad headings.

(1) Nihilistic or emprical conception of self. and in this heading we may refer to Buddhistic concept of self. He has referred to such questions as indeterminate or अव्यक्तानि ।

But later on the followers of Buddha in order to stablish the doctrine of momentariness or क्षणिकवाद, identified the self with the changing reality. And what was denied by Buddha was restored again by his deciples like Shantrakshit and Dharmakirti. As Shantarakshit calls self even विशुद्धात्मा and Dharmakirti also says that true knowledge consists in the realisation of pureself (विशुद्धात्मा-दर्शनम्) ।

(2) We also find the realistic concept of self in Indian philosophical systems by the supporters of Nyayavais'esika and Mimanskas. Nyaya and Vaisesika school present a peculiar thought regarding the nature of self. Even they say that soul is a unique substance to which all cognitions, feelings

conations belong as its attributes. Self is not concious rather conciousness is its accidental quality. Self was niether concious in the beginning nor will be in future. It appears as concious in the present only due to the contract of sense organs. Generally Mimarsa also agrees with this reslistic and pluralistic conception of self. Both Prabhkar and Kumaril follow the general realistic pattern. Prabhakar agreeing with the Nyayvaisesikas says that the self is essentially unconciousness where as Kumarila differing from Prabhakar regards conciousness as a model change in the self.

(3) Apart from these two sects of opinions we also find an idealistic trend regarding the conception of self which was started by the Vedantic or Upanisadic thinkers and still continuing inours contemperory age. Although idealistic trend of thinking has a large history behind it. But whatever the school may be our thinkers have been the most general feature of this idealistic trend regarding the nature of self is this, that the self is concious external and abiding principle behind the diverse nature of think. And there is no controversy about this general opinion. Even the Upanisadic thinkers, Gita, Sankhya, Yoga, and whole of Vedantics agree in saying that self is an eternal imperishable something inside our this materialistic body. Although it experiences all the worldly things by the medium of the sense organs and the mind still is an experienced something away from our sense organs. Although it is the controller of the every human activity, still it is uncontrolled by all the activities of the human beings And one who understands and realises the mysterious nature of this eternal principles This very self becomes the object of eternal joys or Anand, as is advocated by Sri Aurbindo and other contempery Indian thinkers

(c) Although it is hold that apart from a few ancient Western thinkers excluding Plato and Plotinus the whole western thinkers don't think it proper to deal the conception of self. Even it has been said this much that they are not interested in unveiling the mysterious nature of the self. But this is not the fact. Although it is undeniable fact that the views of the western thinkers are not similar in the conception of the self but the difference of the views is not the genuine mark for the rejection of the self. All the Indian thinkers excluding a few have a paramount belief. There is an eternal, all the pervading reality which is by its very nature concious. This typical view is not acceptable to the western thinkers but we do find a belief in the concept of self or soul substance which has been a matter of perenial interest right from Plato and Aristotle. For Plato soul is a mental or immaterial substance which expresses itself in three fundamental types of expression viz thinking, feeling and willing.

(d) Psychology also seems to be interested in discovering the mysterious nature of the self. In psychology self has been replaced by the brain action or

mind. All the prominent schools of psychology like Behaviourism "Gestatistsx and Animistic theory of Mc. Dugall and in the Freudian theory we do not find any seperate conception of the self apart from the brain activity. But in the higher psychology popularly known as parapsychology or psychical research we find modern psychologyst like Stern Dilthy, Alport, Spranger etc, are attempting to build up a science of personality. Alexis carrel the novel prizewinner scientist demands that "attention should be focussed on the soul of man."

Thus according to Jainism soul is a concious substance. It is the soul that knows things, performs activities, enjoys pleasure, suffers pain and illumines itself and other objects. The soul is eternal but it also undergoes change of states.

Owing to the inclination generated by its past actions a soul comes to inhabit in different bodies successively. The soul is present throughout the entire body and makes it concious.

The soul is inherently perfect. It has infinite potentialities within. In its original state the soul possesses fourfold perfections called अनन्त चतुष्टय material particles when penetrate in the soul over power, these fourfold perfections in other words the individual soul is limited because it is associated with the material body. The body is made of material particles called पुद्गल . Soul's association with material particles is called bondage. Soul's own passion attract material particles forwards it. These passions क्रोध, मान, माया and लोभ are generrated in the soul because of the 'karma'. The power of soul when fully developed is infinitely strong. In the beginning it has very limited power and that's why power is gradually developed to unlimited degree in strength under these circumstances karmic powers of the soul. In this way the soul finds itself in bondage.

According to Jaina's bondage means association of the soul with matter and therefore the liberation will mean the complete dissociation of the soul from matter. That can be attained in two ways by stopping the influx of main matters into the soul and secondly, by complete illumination of the matter with which the soul has become already mingled. This is possible by attaining right convictions i. e. right faith, right knowledge and right conduct. (सम्यग्दर्शनज्ञान-चारित्राणि मोक्षमार्गः ।)



CAN JAINISM STOP WAR ?

Prof. Diwarkar Pathak

[Prof. Pathak's article on "Can Jainism stop war ?" was too large. Due to some difficulties we have given a net summary of his article.—Editors]

We are passing through an age of crisis and the atmosphere is as hostie to peace today as it becomes when war actually comes.

It is true that war is not an evil in itself. Its aim is not bad. It is necessary to root out the brevailing disorder, chaos and anarchism. The scriptures are the best testimony of the fact that war is good in itself. when its aim is human welfare, when it respects human personality, then the war is permissible.

But today the whole aim and situation has changed. The aim of present war is to acquire more land, more wealth. This is because with the scientific development one's own mind has changed. Even the technique of war has taken a drastic change with the manufacturing of Atom bomb and hydrozen bomb. Today the war is not limited to soldiers. It is not localised another. Whole world is involved in it. Hence the whole humanity is on the rage of total annihilation.

In this state of potential mass destruction is there any way out to check this ruin ? Jainism is still alive and breading its sublime messags of non-violence (Ahimsa), love, and non-collceting attitude. The adoption of these messages can certainly stop the war.

We are all human and so we must love each and all. Jainism has always been broadcasting this message of love When we love each and all, there is no question of conflict and hatred. Hence no war by loving all. We can live in peace.

There is also a negative approach of Jainism that is non violence or Ahimsa which are as much capable of sto ping war as anything else. This is the central theme of Jainism, which it has been preaching from time immemorial.

Jainism can stop war if we follow its message of non-collecting things. A man should have things in such a quantity which is required for him and no more. None is able to take away one's property with him when he dies. He must go empty hand. Hence, he must be satisfied with what he has and only then can he attain happiness and a war can be stopped.

In short, we must change our heart according to Jainism. We must adopt the priniciple. Live and let live' and this can be we follow. The messase of Jainism which will ultimately lead us to a state of peace and can save the suffering humanity from the coming war like situation."



The Conception Of Godhead in Jainism

Prof. Rai Ashwini Kumar,

Magadh University

Jainism holds that the Divinity is nothing but the culmination of the spiritual development of the soul. Each soul is a potential God. But God in Jainism is not a Creative agency. Nor is He Capable to grant rewards and punisments to the individual beings............

Of all the subjects cf philosophical discourse that have coloured the cultural life of India from the earliest stages of her history, that of God occupies a prominent place. People professing allegiance to different faiths agree in regarding God in some form or other as the source of their inspiration and guiding principle of their life. They hold that in the experience of or contact with God lies the only assuagement of human unrest. But the different systems of Indian thought are not unanimous as regards the conception of Godhead. Jainism holds that the Divinity is nothing but the culmination of the spiritual development of the soul. Each soul is a potential God. But God in Jainism is not a creative agency. Nor is He capable to grant rewards and punishments to the individual beings. Nor is every God[1] capable to reveal and effectively preach the Truth. Only a select few can do this. Let us now see how Jainism works out the details.

Jainism pre eminently stands for Atman-theory and like the other systems of Indian thought puts stress on self-realization. According to the Jainas, the soul is pure and perfect in its intrinsic nature...It possesses a number of characteristic attributes while it is in all perfection. Mundane souls are not perfect because their innate qualities are found to be obscured and distorted. This obscuration and distortion find expression in the imperfect existence of the soul. These souls are not free to enjoy perfect knowledge and unrestricted bliss and unlimited power. Why is it so ? What cripples and distorts their innate faculty of knowledge, etc. ? the Jaina philosopher answers that the various characteristic attributes of the soul are infected by something foreign which covers their innate natural faculties, their perfection and purity. This foreign element is nothing but karman. According to the Jaina conception, karman is an aggregate of material particles which are very fine and are imperceptible to the senses. It enters into the soul and produces changes in

1. Jainism is polytheistic.

it. The karmic matter obscures as well as distorts the natural characteristics of the soul and keeps it away from its Supreme state of existence. In the state of bondage the soul is inseparably mixed up with the matter. They are more intimate than milk and water. Our worldly status is wholly dependent upon the karman. The world contains an infinite number of souls.

Atman, according to the Jainas, is a migrating entity of sentient stuff associated with Karmic energy since eternity and the transmigratory destiny of each being determined by its karmans. Karman makes the soul wonder in different grades of existence The Jainas distinguish three states of the self, the principle of life—the exterior self, the interior self and the Supreme self The self with the deluded belief that it is none other than the body is the exterior self The self that clarly discriminates itself from the body and the sense—organs is the interior self. the pure and perfcet self free from all limitations is the Supreme self. the exterior self becomes the Supreme self by means of the interior self. Or, in other words, it is the internal by leaving everything external that becomes the Supreme-One gets rid of the interior as much as the exterior self in order to realize the Supreme self. He is an ignoramus who takes the body for the soul. The materialist view of the self as identical with the body is the first thing that one is to eradicate in order to tread the path of spiritual realization. To achieve this purpose one is required to turn inward and concentrate upon the self as distinct and separate from the body. When one is fully convinced of the distinction between the self and not-self, one is required to rise still higher and concentrate upon and realize the Super-Atman which is free from all limitations of the empirical self When karmic matter is severed from the soul through penances, medidation, etc., its transmigratory journey comes to a stop. When the various limitations created by the karmans are removed and the real nature of the soul realized, there is rescue, there is liberation. All the innate powers of the soul are manifested in liberation. Now the soul becomes a Super-Atman (Paramatman). The soul himself is Paramatman; divinity is already there in oneself; but he remains as Atman only because of karmic limitations; as soon as Atman is realized by himself, he is Paramatman. In view of their essential nature the soul and the Paramatman are one and the same. Really speaking, there is no difference between the two. According to Jainism, Paramatman is a Super-spirit representing the ultimate point of spiritual evolution of Atman by gradual destruction of karman. Paramatman enjoys ideal isolation and he has nothing to do with the world beyond that he knows and sees it, because it is his nature to see and to know. thus Paramatman stands for God, though never a creator, etc. Jainism denies the creative function of God.

Jainism is polytheistic. Each soul is a potential God. God is latent in every soul. It is his ultimate essence and reality. Other things, such as his

emotional and volitional complexes, intellectual and moral equipments, are only the excrescences generated by the impact of external forces. Atman to Paramatman is a course of spiritual evolution, and it is the duty of every aspiring soul to see that it reaches the stage of Paramatman. The individual soul can transcend his limitations and become Paramatman. Jainism believes in the soul's Capacity to recover its essential nature after a course of moral discipline and philosophical enlightenment. The soul passes through a number of stages while reaching from the lowest to the highest stage of spiritual development. The man only on complete purification from matter attains Siddhi. Siddhi is open to all. The soul has inherent capacity for emancipation. But this capacity remains only a dormant virtue and inactive force unless and until it gets an opportunity for expression. There are certain spiritual impulses that good the soul to fulfil its mission and realize the soul. The soul which lies in spiritual slumber is roused to active spiritual exertion when it is reminded of the great mission that it has to fulfil and realize According to the Jainas, the reminder sometimes comes from the exhortations of those who have realized the truth and revealed it to the common masses. Or, sometimes the soul gets hold of the truth automatically without any extraneous help. The inspiration should come from within. The Jainas do not believe in any eternal revelation of truth, nor in the revelation of truth by God. The Jainas believe only in the inherent capacity of the soul to realize the truth even in the absence of any foreign interference or instruction. But the Capacity to reveal and effectively preach the truth, however, does not belong to all the enlightened and omniscient souls. In this connection there occurs a pertinent question. 'Why of all the souls which are gifted alike, a particular soul, and not every one, attains to this phase of perfection-Sidddi is open to all the awakened souls but the capacty to reveal and effectively preach the truth is reserved for a select few only. What the special qualifications of these few are and how they were originally aequred.' Here the Jaina philosopher comes to offer a solution. 'There are some awakened souls who are naturally inclined towards universal well-being. As soon as they expericence the first dawn of enlightenment on the annihilation of the Gordian Knot (granthi), they make determination to redeem the world from its suffering by means of the enlightenment and work strenuously in accordance with the determination.+ Those rare souls by their morald and virtuous activities† of the past life acquire the potency of revealing the truth and estab lishing a religious Community (Tirthakrttva). Such souls, on the attainment of omniscience, become capable of revealing the truth and preaching it to the world at large.' These souls become Tirthankaras, founders of religious community. They are the embodiment of the best and the highest

+. Yogabindu : Haribhadra, 284-8.

†. Tattvarthasutra, VI. 23.

Virtues that the human mind can conceive of, the fullest expression of the potentialities of embodied existence. The Tirthankaras, to whom all the godly powers like omniscience, etc. belong, are adored as ideals of life. The aspirants recall to mind for their own encouragement and edification that there are and always have been those who dedicating themselves to the full realization of the Truth, the Path to Deliverance, and earnestly striving have reached the goal of their search, the eradication of greed, hatred and delusion. Thereby they are exemplars of the Good Life, well conducted, upright, of blameless behaviour, worthy of honour and respect, worthy of being looked up to and followed. The Tirthankara is the symbol of all that is good and great, moral and virtuous. He cleanses this world with the goodness and the sanctity of his life, avoiding evil, promoting good, filling the universe with elevating thoughts of friendliness, compassion and peace, He serves as a beacon light and has nothing to do with Creation, protection and destruction of the world The Jainas do not believe in these features of God God, according to them, is not in any sense responsible for the destiny of the universe or the individual. Nor is capable of granting grace to any individual. True to the spirit of their philosopher, the Jainas affirm their faith in the eternal spritual and moral laws, particularly in the inexorable moral law of Karman. They assert that these laws are inviolable in their operation and God cannot arbitrarily dispense rewards and punishments irrespective of the spiritual desert of the persons and His exercise of the juristic function is limited by the moral law. God cannot alter its course as that will make of God a despot. The moral laws are the laws of His own being which He Cannot subvert. So even those, the Jainas say, who believe in God's operation of the moral law must believe that this law is an impersonal, uncreated, eternal governing principle. therefore it is rational, they say, to accord One's allegiance to this autonomous impersonal law. The injunction of the Jaina Scriptures is that the individual should set himself to the task of overcoming the miseries of the world by dint of personal efforts and without seeking aid from any external agent, such as God, for the purpose. The Jainas admit the efficacy of individual deserts in determining individual fate. They make the individuals the architect of their fortune and the maker of their destiny. The individual beings are alone responsible for their degraded status and it is up to them to work out their salvation by their unaided efforts. They will of Course exploit all the advantages from the Scriptures and the instruction of teachers. But ultimately they must depend upon themselves for their success or failure. The Credit or blame must be taken by them alone. The Jainas, therefore, do not find any urge to postulate any supernatural agency like God as the dispenser of reward and retribution. It is Karman alone which fnuctuates and determines the Course of an individual through different births.

The Nyaya-Vaisesika postulates God to account for the effective functioning of the law of moral justice. The spiritual and moral forces. meritorious and demeritorious, are brute facts and they can be made productive of reward or punishment only by an intelligent agent by bringing them into operation. But according to the Jainas, there is no necessity of admitting God as the necessary condition for the fruition of the Karman which remains as an unseen potency (adrsta) consisting in merit and demerit in the soul. The Jaina philosophers hold that events come into being by dint of the causal law, which is a natural brute force, independently of the agcney of an intelligent being. They assert that moral and Spiritual laws are effective just like the brute laws of nature by reason of an inherent natural necessity. They do not, therefore, consider the theory of intelligent supervision and personal operation of moral laws by a divine being as logically necessary. The Jaina, like the Sankhya-Yoga, the Buddhist and the Mimamsaka, regards the unseen potency itself as competent to produce its fruit in time. The nature of predispositions or the impurity by of the soul determines the character of the Karman or adrsta. The Karman or adrsta as determined by the conditions and predispositions of the soul can automatically produce the fruits. The karman or adrsta has inherent capacity to fructify itself. Thus is avoided by the Jainas the necessity of the agency of God for the fruition of Karman.

All admit that the ills and evils of life are the outcome of karman and not due to any Caprice of the creator. If it is so, asks the Jaina philosopher, then what is it that God does Why should we prefer to indulge in such complexities ? Let Karman alone account for the creation of the world It has no agent behind, directing it or administering it. The Yoga system admits God only as an object of worship or meditation and not as an agent in the fruition of the karman-though in the Brahmasutra of Badarayana, the agency of God in the dispensation of the fruits of acts, moral and immoral, is advocated with vehemence, it, however, loses metaphysical validity in the philosophy of Sankara who accords a provisional place to Personal God in his Vedanta Personal God as the creator, sustainer and destroyer of the world-order is necessary only so long as maya holds sway But maya is unreal as a metaphysical entity and as such God's place is only provisional and not more than penultimate. God, according to the yoga system also, who is a Supreme person, is not considered to be the creator of the universe. He is omniscient and eternal witness to all right actions. Tirthankara of the Jainas, too, is omniscient but not the creator of the universe. Herein the Jaina philosophy marks a stricking parallelism to yoga theism. But according to the Nyaya Vais'eska, God is a dynamic principle and His dynamism is manifested in His cosmic activities. Cosmic activities are an essential part of His being, and Godhood minus Cosmic functions is an unintelligeble fiction. Desire for creation is innate to divine

nature.[1] If the Jainas ask, it is held that God by his very nature takes to creation, then what is the good of admitting his existence. We would rather dispense with him and posit that the universe has come into existence by its nature.[2] thus we see that the hypothesis of a personal God is inconsistent with the law of Karman. The exalted position of providence turns pale and stale in the presence of the doctrine of Karman. All religions, whether of theistic or atheistic persuasions in India, therefore, assert supremacy of the law of karman Good and evil actions of human being have been given more recognition than the redeemer himself even in the theistic schools. The consequences of the post misdeeds can only be counteracted by generating within the soul strong opposite forces of good thought, good speech and good action. It is the prerogative of human life that it has the opportunity to get rid of the burden of the heritage of Karman which it has acquired from beginningless past One must undergo a course of self-discipline in order to manifest ethical perfection, to make God real in him. The Jaina believes in God as immanent in the individual though he is indifferent to his role as creator and Saviour in his metaphysical conclusions. Nobody can dispense with the necessity of moral and spiritual discipline as the necessary precondition of Her mercy. But the descent of the Divine Grace cannot be arbitrary. It necessarily presupposes a spiritual preparation of the individual self as a condition The Jaina would have it that this very condition automatically leads to the succeeding stages of spiritual development The Divine Grace is nothing but the attainment of right conduct as a result of spiritual preparation or Self-discipline. the Jainas do not bank on the grace of a personal God. Belief in the conservation of moral values is the necessary Con-comitant of religious faith and God is the conservater of these values. God cannot repudiate the law of moral justice. The Jainas think that the moral values are realized in excelsis in the Tirthankaras, and So their worship is not misplaced. To the Jaina, the image of Tirthankara in itself is not an object of worship; it is to him merely a token, a symbol, a presentation, which helps him to recall the sublime qualities of the Tirthankara For the purposes of his worship, it is even immaterial whethere there is an image or not, but an image or a picture or some sort of symbol, he finds helpful for the Concentration of his thoughts. Here is no request for favours, no solicitation for protection, Prayer does not mean supplication to the Tirthankara, petitioning him, humbly asking him to bestow upon the supplicator health, happiness and prosperity, and asking him for forgiveness for sins committed. Prayers are offered to the Tirthankaras

1. Vide Nyayavarttika of Uddyotakara, pp. 949-50.

2. Atha svabhavath, tarhy achetanasya' pi jagata eva svabhavatah pravrttir astu, kim tat Kartrtvakalpanaya--Tarkarahasyadipika of Gunaratna. 3. See yasovijayavrtti on yogasutra, I. 26.

only for guidance and inspitarion. By meditating on the pure qualities of the liberated ones, the Jainas remind themselves of the possibility of attaining the high destiny and strengthen their heart for the uphill journey to liberation. This shows that the aspiring soul has transcended his attachment to the world and this is the condition of emancipation. The devotee must immolate his individuality before the alter of God. This is the highest dispassion which is affirmed to be the necessary precondition of emancipation. thus the individual soul attains the Supreme Status only by dint of his personal effort and does not depend upon the grace of God.

Thus each and every individual must work out his own salvation. No one is considered to be eternally free and perfect. Even God is not eternally free and perfect Eternal perfection attributed generally to God by other systems, the Jainas say, is a meaningless epithet. Perfection, therefore, means only a removal of imperfection and it is meaningless to Call a being perfect who was never imperfect. Even the Tirthankara himself is not eternally free and perfect and has worked out his own emancipation exactly in the same way as the other individual beings do. The difference between an ordinary omniscient and a Tirthankara is this that the latter can reveal and preach the truth and found a religious community while the former cannot. The worldly career of a soul destined to be a Tirthasikara is purer and much more spiritually elevated than that of an ordinary soul destined to be emancipated. Moreover, a soul can attain Siddhahood without being a Tirthankara. Every Tirthankara becomes a Siddha, but not that every Siddha was a Tirthankara. Tirthankara in his life, just preceding liberation where he becomes a Siddha, devotes some of his time to teach the path of liberation to the aspiring souls. The Tirthankara is a spiritual leader and an inspirer and a reviver or founder of a religion. It is the Tirthankara alone who can reveal the truth and inspire the common masses. that is why the world of aspirants feels more devotion to Tirthankaras. This is the conception of Godhead in Jainism.

Jainism, thus, is a religion without belief in Personal God. To the followers of Semitic creeds it may appear almost paradoxical that there may de religion without belief in God. Quite strange though it may seem at first, it is not irrational in any sense. A religion, worth the name, must believe in the Conservation of moral values. Even God's omnipotence is subject to the supremacy of the moral law. Hence, disbelief in God does not mean that Jainism has no regard for moral values. Whatsoever religion it may be, it must recognize moral values, if it does believe in the spiritual development of the soul. Here the question of belief in God is not relevant. Here is Jainism, one of the great religions of India, which is found characterised by the same fervour of faith of its followers as is the characteristic of theistic religions. Would it, thus, be pertinent to remark that a religion is preposterous nonsense without belief in God ?

●●

Jain Philosophy of Non-absolutism & Omniscience

Prof. Ram Jee Singh

Bhagalpur University.

In Jainism, non-absolutism is not only a metaphysical but also are epistemological Concept. There is no absolute reality, so there is no obsolute truth where there is isolation, there is unreality or error ·····

1. IS NON-ABSOLUTISM ABSOLUTE ? If non-absolutism is absolute, it is not universal, since there is one real which is absolute, and if non-absolutism is itself non-absolute, it is not an absolute. But there are the following points for consideration : –

(a) According to the Jainas, complete judgment is the object of valid knowledge (PRAMANA) and Incomplete Judgement is the object of aspectal knowledge (NAYA) Hence, the "non-absolute is constituted of the absolute as its elements and as such would not be possible if there were no absolutes."

(b) The unconditionality in the statement "All statements are conditional" is quite different from the normal, meaning of unconditionality. This is like the idea in the sentence." "I am undecided", where there is at least one decision that I am undecided. Similarly the categoricality behind a disjunctive judgment (A man is either good or bad) 2 is not like the categoricality of an ordinary categorical judgment (The horse is red).

(c) Samantabhadra says "Even the doctrine of non-absolutism can be interpreted either as absolute or non-absolute according to the PRAMANA or NAYA respectively. This means that even the doctrine of non-absolutism is not absolute unconditionality. 3

---

1. Mookerjee, S, : THE JAINA PHILOSOPHY OF NON-ABSOLUTISM Bharti Mahavidyalaya, Calcutta, 1944, P. 171.

2 Bradley, F. H. THE PRINCIPLES OF LOGIC, Oxford, 2nd Ed. VOL. I, P. 130.

3. SAMANTABHADRA : SVAYAMBHU STOTRA, K. 103, Vira Seva Mandir, Sarsawa, 1951, P. 67, and
Abhidharma Bhusana : NYAYA-DIPIKA, Vira Seva Mandir, Sarsawa 1945, pp. 128-129 (Ed. Darbarilal Kothia).

(d) However, to avoid the fallacy of infinite regress, the Jainas distinguish between valid (SAMYAK ANEKANTA) and invalid non-absolute (Mithya Anekanta).[4]

Like an invalid absolute judgment, an invalid non-absolute judgment too is invalid. To be Valid, ANEKANTA must not be absolute but always relative. In short, the doctrine cf non-absolutism is an "opposite (theory) of EKANTA-VADA, a one-sided exposition irrespective of other view points.[5]

Now, we cannot say that theory of relativity cannot be logically sustained without the hypothesis of an absolute.[6] Thought is not mere distinction but also relation. Everything is possible only in relation to and as distinct from others, and the Law of Contradiction is the negative aspect of the law of identity. Under these circumstances, it is not legitimate to hold that the hypothesis of an absolute cannot be sustained without the hypothesis of a relative. Absolute to be absolute presupposes a relative some where and in some forms, even the relative of its non-existence.

Jaina logic of ANEKANTA is based not on abstract intellectualism but on experience and realism leading to a non-absolutistic attitude of mind. Apparanetly contradictory characteristics of reality are interpreted to be co-existent in the same object from different points of view without any offence of logic. All cognitions, be it of identity or diversity are after all valid. They seem to be contradictory of each other simply because one of them is mistaken to be the whole truth.[7] In fact, the integrity of truth consist in this very variety of its aspects, within the rational unit of an all comprehensive and ramifying principle.[8] The charge of contradiction againts the co-presence of being and non-being in the real is a figment of a priori logic.[9]

2 IS KNOWLEDGE ABSOLUTE ? Absolutism is unknown to Jaina metaphysics and its metaphysics of knowledge. The division of knowledge

4. Samantabhadra : APTAMIMAMSA, K. 108, Sanatana Jaina Granthamala, Kasi, 1914; ASTA SAHASRI of Vidyananda, Nirnaya sagar Press, Bombay, P. 290, and NAYAYA-DIPIKA, P. 130-31.
5. Kapadia, T. R. (Ed.) ANEKANTA, JAVAPATAKA of Haribhadra, G. O. I Baroda 1940, Vol. I. P. Ix (Introd).
6. RadhaKrishnan, S: INDIAN PHILOSOPHY, London, 1929, Vol I. pp. 305-6.
7. Sanghvi, S : ADVANCED STUDIES IN INDIAN LOGIC & META-PHYSICS Calcutta, 1961, P. 19.
8. Desai, M. : THE NAVA KARNIKA, Arrab, 1915, P. 25 (Intr.)
9. Mookerjee, S. : Ibid. P. 190. C. F. BRAHMA ŚUTRA (S. B.) II 2.33. and SYADAVADA MANJARI of Mallisena-Verse 25.

into immediate and mediate,[10] though not free from the fallacy of overlapping division, but nevertheless is based on common experience[11]. However, this trend towards non-absolutism becomes more explicit in the further classification of knowledge into PRAMANA (Knowledge of a thing as it is in itself) and NAYA (knowledge of a thing in its relation), the former being complete (SAKALADESA) and the later being Incomplete knowledge (VIKALADESA) [12]

True, the terms 'immediate' and 'mediate' are used in different senses. Jainas deny the immediate, the character of the ordinary perceptual knowledge like the western Representationalists but unlike the Realists. The knowledge in direct or immediate if it is born without the help of an external instrument different from the self. However, to avoid sophistication and also to bring their theory in line with others, a distinction is made between really immediate and relatively immediate-the latter being empirically direct and immediate knowledge produced by the sense organs and the mind.

PRAMANA and NAYA represent roughly the absolute and the relative characteristic of knowledge respectively. PRAMANA reveals a relational structure of knowledge i. e., knowledge of an object in all its aspects. The universe is an interrelated whole hence right knowledge of even one object will had to the knowledge of the entire universe.[13]. This shows the relative character of our knowledge but this relavitism is realistic. It not only asserts a plurality of determinat truths but also takes each truth to be an indetermination of alternative truths.[14] So it is a mistake of finding one absolute truth or even one cognition of the plurality of truths.

If knowledge is a unity, known is a plurality, the objective category being distinction or togetherness. If finally, knowledge as the object, refers to the known, the known must present an equivalent of this relation or reference.[15] What is therefore needed is to dehumanise the ideal and realise the real. The reality is not a rounded ready-made whole or an abstract unity of many definite or determinate aspects but that "the so called unity is after all a manifold being only a name for fundamentally different aspect of truth

---

10. Tattvartha Sutra I. 11-12 : PARIKSHAMUKHAM of Manikyanandi II. I.
11. Prasad, R. : His article on "A critical Study of Jaina Epistemology," in JAINA ANTIUARY, Vol. XV No. 2. Jan. 1949 pp. 66-7
12. SARVARTHA SIDDHI of Pujjapada, Jnana Pitha, Kasi, pp. 20-21.
13. ACHARANGA SUTRA, I 3. 4. 122; PRAVACHANA SARA of Kundakunda I. 48-49
14. Bhattacharya, K. C. : His article on "The Jaina Theory of Anekantavada" in JAINA ANTIQUARY, Vol. IX. No. 1.
15. Bhattacharya, K. C. Ibid, pp. 10. 11.

which do not make a unity in any sense of the term.[16] So far we know or can know, the making of truth and reality is one. Reality like truth is therefore definite indefinite (ANEKANTA). Its indefinitness follows from the inexhaustible reserve of objective reality and its definiteness comes from the fact that it grows up into the reality of our own knowing which we make.

So, in Jainism, non-absolutism is not only a metaphysical but also are epistemological concept. There is no absolute reality, so there is no absolute truth where there is isolation, there is unreality or error.[17]

3. DISTINCTION BETWEEN SYADVADA AND SARVAJNATA :—

SYADVADA, however pivotal, is not the final truth in Jainism. It simply helps us in arriving at the ultimate truth. It works only in our practical affairs and hence it is regarded as practical truth.[18] But there is another realm of truth which is not in anyway partial or relative but absolute and which is the subject-matter of omniscient or perfect knowledge.

Let us illustrate some points of difference between these two types of knoweldge . SYADVADA and SARVAJNATA :—

(a) The immediate effect of valid knowledge (PRAMANA) is the removal of ignorance; the mediate effect of the absolute knowledge is bliss and equanimity, while the mediate effect of practical knowledge or SVDVADA is the facility to select or reject[19] what is conducive or not for self-realization. PRAMANA or JNANA is the right knowledge. The development of omniscience is necessarily accompanied by that of perfect or absolute happiness,[21] being free from destructive Karmas.[22] This happiness is independent of everything and hence eternal. It is not physical but spiritual[23] It is not the pleasure of these senses which are in fact miseries in disguise, the cause of bondage and hence dangerous.[24]

---

16. Bhattacharya, H. M. : His article on "The Jaina Concept of Truth & Reality" in the PHILOSOPHICAL QUARTERLY, Calcutta Vol. III No. 3 October.
17. (C. P) Bradley F. H. ESSAYS ON TRUTH Reality. p. 487.
18. Sidhsena Divkara : SANMATI TARKA, 3168.
19. NYAYAVATAR of Sidhasena, V. 28 : Apta Mimansa of Samntabhadra pp. 104.
20. NYAYA-DIPIKA, P. 9; PRAMANA-MIMANGSA of Hemachandra I 1. 2.
21. PRAVACANA SARA, I 19; I. 59, I 69.
22. Ibid, I 60.
23. Ibid, I 65.
24. Ibid, I 63-64, I 76. CP. PARAMATMA-PRAKASA of Yogindu V. 201.

(b) Both SYADVADA and KEVALAJNANA illumine the whole reality, but the difference between them is that while the former illumines the object indirectly, the latter does it directly.[25] Vidyananda finds no contradiction between the two kinds of knowledge, since by "illumining the whole reality," it means revelation of all the seven categories of self, not-self etc.[26] This shows that the spirit of SYADVADA is so foundational to Jainism being associated with the Great Victor that it is regarded as flawless[27] and on almost equal footing with KEVALAJNANA.

(c) while in SYDVADA, one knows of all the objects in SUCCESSION, in the case of KEVALA JNANA, it is simultaneous. [28] Omniscience means an "actual direct non-sensous knowledge, the subject-matter of which is all the substanees in all their modifications at all the places and in all the times. It is regarded as simultaneous, because if it is successive, it cannot be omniscience, since the objects of the world in shape of past, present and future can never be exhausted. Consequently knowledge will always remain incomplete.[29]

But there might be difficulties even if we regard omniscient knowledge as simultaneous :—

(i) The omniscient person comprehends contradictory things like heat and cold by a simple cognition which seems absured. [30] To this objection, it may be replied that contradictory things like heat and cold do exist at the same time, for example, where there is flash of lightning in the midst of darkness, there occurs a simultaneous perception of the two contradictory things. [31]

(ii) If the whole world is known to the omniscient person all at once, he has nothing to know any further and so he will turn to be quite unconscious having nothing to know,[32] to this, it may be said that the objection would have been valid if the perception of the omniscient person and the whole world were annihilated in the following instant. But both are everlasting, hence there is no absurdity in the Jaina[33] position regarding the simultaneity of omniscient perception.

---

25. APTAMIMAMSA, K. 105.
26. ASTA-SAHASTI, P. 288.
27. SYAMBHU STOTRA, V. 138.
28. APTA MIMANSA—V. 101.
29. PRAMEYA-KAMALA-MARTANDA, of Praphachandra N. S Bombay, p. 254.
30. PRAMEYA—KAMALA-MARTANDS, p. 254
31. Ibid, p. 260
32. Ibid, p. 254.
33. Ibid. p. 260.

(D) The most fundamental difference between Syadvada and Sarvajnata is that the former "leads us to relative and partial truth where as omniscience to absolute truth,[34] because Syadvada is an aplication of scriptural knowledge[35] (a kind of mediate knowledge) which determines the meaning of an object through NAYAS.

True, SYADVADA has in its sweep all the different NAYAS, but even then it never asserts the absolute truth. It remains an attitude of philosophizing which tells us that on account of infinite complexities of nature and limited capacity of our knowledge, what is presented is only a relative truth. Now, if we combine the result of the seven-fold NAYAS into one, can we not get at the absolute truth ? Is not the absolute truth a sum of relative truths ? The answer is in the negative. Firstly, the knowledge arrived at through the alternative NAYAS does not and cannot take place simultaneously but in succession leading to the fallacy of infinite regress.[36] To regard SYADVADA as absolute is to violate its very fundamental character of non-absolutism. Samanbabhadra has very explicitly said that "even ANEKANTA (non-absolutism) is ANEKANTA (non absolute) in respect of PRAMANA and Naya.[37] Real Anekanta is never absolute but always relative[38] to something else. However, omniscient knowledge is the knowledge of the absolute truth.

(E) SYADVADA rests on sense perception but KEVALA JNANA has no dependence on any sense and arises after destruction of obstruction,[39] directly by the soul without any intervention of the senses.[40] Like the westeın Realist, the Jainas regard ordinary sense-perception as really mediate in Thus the status of omniscient perceiption is naturally raised as supreme knowledge.

(4) CONCLUSION—We have the following points :—

(a) MPORTANCE OF ANEKANTA LOGIC—The loss caused by Anekanta (Syadvada) by its being mediate is fully made up by its capacity to demonstrate the truth of the absolute wisdom to mankind. This is the perfect technique of expressing the manifold nature of reality and is indespensable for

---

34. ANEKANTA--Jaya-pataka, Vol. II, p. Cxx.
35. LAGHISTRAYA of Akalanka, k. 62.
36. NYAYA-KUMUDA-CHANDRA of Prabhachandra, p. 89.
37. SYAMBHU-STOTRA, K. 102; SANMATI TAZKA-III 27-23.
38. ASTA-SAHASRI-p. 290.
39. PARIKSHAMUKHAM, II, II; TATTVARTHASUTRA, X. I; PRAMANA-MIMAMSA, I. 1. 15.
40. PRAMANA-NAYA-TATTVALOKALANKARA, II. 18.

practical life [41] This is also the method of Mahavira's sermens,[42] hence religious is character.

(b) THE DUAL NATURE OF ANEKANTA-EKANTA & ANEKANTA-It is Ekanta in as much as it is an indepandent view point, it is Anekanta because it is the sum total of view points Anekanta goes Ekanta when it goes against the right view of thingn[43] i e., it also assumes the form of one-sidedness. However, the Jainas do not have objection if his doctrine recoils on itself on the contrary, it strenghens his position and shows the unlimited exte t of the range.[44]

c) BEYOND ANEKANTA—The importance of anekanta lies more in its analytical enquiry than in concrete results It is a way of philosophizing rather than a system of metaphysics. The demand of higher spiritual life of a Yogin transcending the sphere of the phenomenon points to the realisation of complete unity of existence in his consciousness. He is in possession of absolute truth which transcends the realm of provisional truth [45] This is the state of supreme knowledge free from all limitations like intuitional or mystic experience, where we get a direct, immediate and first hand intuitive apprehension of the reality. Kunda kunda [46] and Yogindu [47] are outspoken Jain mystics.

(d) FROM ANEKANTA TO ADVAITA VIA OMNISCIENCE—So far Jainism puts the highest value on the mystical experience of a Kevalin who transcends the realm of the phenomenal and reaches at the absolute truth, "it approaches very near to Advaita Vedanta "[48] Yogindu's identification of the spirit with the super-spirit is a triumph of monism. Like vedantic distinction between the empirical and the transcedental knowledge, we have in Jainism a distinction between Syadvada & Sarvajnata. However, the objectivity is not outside the knower in Advaita Vedanta In Jainism, there is a complex external objectivity infinitely over both time & place and the individual self retains its individuality even in the search of omniscience and bliss.[49] Hence any synthesis of ANEKANTA with ADVAITA will be with due reservations.[50]

---

41. SANMATI TARKA II. 68.
42. BHAGVATI SUTRA,VII. 2.273; XIII.7.495; SYAMBHU STOTRA, 4 & 45
43. SANMATI TARKA, III 28
44 ANEKANTA JAYA-PATAKA, Vol. II (Intro) p. CVII.
4 . Shastri, p. His article on "The Jaina Doctrine of Syadvada with a Pragmatic Background" in SIDDHA-BHARTI, Vol. II. P 93.
46 PRAVACHANA-SARA, I 35; I. 60; I. 61 I. 29; II. 106.
47. PARMATMA-PRAKASHA, II. 174, II, 201; II 195; Yogasara-V 8, 9
48. Shastri, p : Ibid, p. 13, cp. Author's article on "Advait Trends in Jainism" in 'DARSHNIK' 1959.
49. PRAVACHANA SARA-INTROD. LXXVII.
50. Sanmati-TARKA,I 49, I 50; APTA-MIMAMSA, 24, 25 TATTVARTH-SLOKA-VARTIKA I 23—58.

●●

प्रतिवेदन

भारतीय जैन साहित्य संसद्की स्थापना विशाल और समृद्ध जैन साहित्यको प्रकाश में लानेके हेतु हुई है। इस बीसवीं सदीमें विभिन्न ग्रन्थागारोंके कई शतक महत्वपूर्ण ग्रन्थ मुद्रित हुए हैं। यह सत्य है कि जितने ग्रन्थोंका मुद्रण अद्यावधि हुआ है, उनसे कई गुने ग्रन्थ अभी तक अप्रकाशित ही हैं। अधिकांश ग्रन्थागारोंकी प्रामाणिक विवरण-सूचियाँ भी अनुपलब्ध है। राजस्थानके जैन-शास्त्र-भण्डारोंकी ग्रन्थ-सूचियां ४ जिल्दोंमें महावीर जैन शोध-संस्थान जयपुरके तत्वावधानमें प्रकाशित हो चुकी है। इन ग्रन्थ-सूचियोंके सामने आनेसे संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश एवं हिन्दी आदि विभिन्न भाषाओंमें लिखित सहस्राधिक ग्रन्थ केवल आमेर और जयपुरके ग्रन्थागारोंमे ही सुरक्षित हैं। इन महत्त्वपूर्ण ग्रन्थोके मुद्रणकी तो आवश्यकता है ही, पर साथ ही ब्यावर, अजमेर, झालरापाटन, नागौर, आरा, सूरत, दिल्ली, चन्देरी, रोहतक, पानीपत एवं हिसार प्रभृति स्थानों के ग्रन्थागारोकी पाण्डुलिपियोंके विवरण भी प्रकाशित होनेकी नितान्त आवश्यकता है।

भारतीय ज्ञानपीठके तत्त्वावधानमें मूडबिद्रीके ताडपत्रीय ग्रन्थोंकी एक विषय-सूची प्रकाशित हो चुकी है, पर अभी भी दक्षिण-भारतमें ऐसे अनेक मठ और मन्दिर है जिनमें कई सहस्र जैन ग्रन्थ वर्त्तमान है। ग्रन्थ-तालिकाओंके अभावमें महत्वपूर्ण ग्रन्थोंका उपयोग नहीं हो पाता है, अतः यह संसद् अपने उद्देश्यानुसार विभिन्न ग्रन्थालयो, मन्दिरों, मठों एवं भट्टारकीय गद्दियों के ग्रन्थोकी सविवरण सूचियां प्रकाशित कराने का आयास कर रही है।

संसदने अल्प समयमें ही शोध और खोज करनेवाले कई जिज्ञासुओंको परामर्श, ग्रन्थ-प्रेषण एवं विषयके विशेषज्ञ विद्वानोसे सम्पर्क-स्थापन द्वारा साहाय्य प्रदान किया है। इलाहाबाद विश्वविद्यालयमे श्रीस्वप्ना बनर्जी धर्मशर्माभ्युदय महाकाव्य पर तुलनात्मक और आलोचनात्मक अध्ययन कर रही हैं। श्री बनर्जी को आरा जैन सिद्धान्त भवनसे सभी प्रकारकी ग्रन्थ-सम्बन्धी सहायताएँ दिलानेका प्रयास यह संसद् कर रही है। संसद्के परामर्श-मण्डलने कुछ परामर्श एवं सन्दर्भ-ग्रन्थोकी तालिका भी उक्त अध्येत्रीके पास भेजनेकी व्यवस्था की है।

बैंगलोरमें श्री बी० अन्नपूर्णप्पा 'बाहुबलि' पर शोध-कार्य कर रही हैं। संसद्-कार्यालयमें उचित साहाय्य प्राप्त करनेके लिये आपका पत्र प्राप्त हुआ है। संसद्ने बाहुबलि सम्बन्धी सन्दर्भ एवं बाहुबलि को नायक मानकर लिखे गए महाकाव्य और खण्डकाव्योकी जानकारी प्रेषित की है। कार्यालयने जो सन्दर्भ-तालिका प्रस्तुत की है वह शोध-प्रबन्धकी विस्तृत रूपरेखा ही है।

नवीन कार्य करनेवाले ५–६ शोध-कर्त्ताओंको विषयोंके चुनावमें सहायता प्रदान की गई है। श्री नरेन्द्र विद्यार्थी, मलहरा, श्री महेन्द्रकुमार शास्त्री, छतरपुर, प्रो० सूरजमुखीदेवी मुजफ्फरनगर, प्रो० जे० पिल्लई मद्रास विश्वविद्यालय, प्रो० ए० एन० मुखर्जी कलकत्ता विश्वविद्यालयको विषय एवं उन विषयोंकी रूपरेखाएँ भी भेजी गई हैं।

नवलेखनके क्षेत्रमें भगवान् महावीर पर शौरसेनी-प्राकृतमें कवि श्री रामनाथ पाठक प्रणयी M. A. साहित्य-व्याकरणाचार्य एक महाकाव्यका प्रणयन कर रहे हैं, जिसका प्रथम अध्याय लिखा

जा चुका है। इसी प्रकार लगभग ७०-८० जैन कथानकोका आधार ग्रहण कर एक उपन्यास एवं छोटी-छोटी कथाएँ लिखे जानेकी प्रेरणा संसद् द्वारा दी जा रही है। समय कम रहनेसे संसद्के पास अभी इस प्रकारके आंकड़े नहीं हैं कि नवलेखनके क्षेत्रमें कहाँ और कितना कार्य वर्त्तमानमें हो रहा है? यद्यपि पत्राचार द्वारा संसद् इस प्रकारके आंकड़ोंको एकत्र कर रही है और कुछ विवरण भी कार्यालयको प्राप्त हो चुके है।

विभिन्न विश्वविद्यालयोंमें जैन साहित्यपर की जानेवाली शोध और खोजकी जानकारीके लिये अनेक विश्वविद्यालयोंके हिन्दी, संस्कृत, इतिहास एवं दर्शनके विभागाध्यक्षोंसे सम्पर्क स्थापित किया जा चुका हैं। कई विश्वविद्यालयके संस्कृत-विभागाध्यक्षोंने अपने यहाँके कार्य-विवरणको शीघ्र ही भेजनेको लिखा है। इसी प्रकार विक्रम विश्वविद्यालय उज्जैनमें जैन साहित्य पर किये जाते जाने वाले कार्योंका विवरण भी संसद्ने प्राप्त करनेका प्रयास किया। अभी तकको जानकारीके आधार पर हम यह घोषणा करनेमें गौरवका अनुभव करते हैं कि भारतके विभिन्न विश्वविद्यालयोंमें ३५ व्यक्ति जैन साहित्य पर शोध-कार्य कर रहे है। संसद् द्वारा आयोजित दोनो संगोष्ठियोंके लिये विषय-तालिका पत्रोमें प्रकाशित की जा चुकी है? इन शीर्षकोंमें ऐसे भी कई शीर्षक हैं जिनपर पी० एच० डी० एवं डी० लिट्के लिये शोध-कार्य किये जा सकते है।

संसद्के पास अर्थाभाव है। अतः अपने सीमित साधनोंके बीच उसे कार्य करना है। हम आराकी स्वागत-समितिके प्रति आभार व्यक्त करते है, जिसने इस संसद्का अधिवेशन अपने यहाँ आयोजित किया है।

दरबारीलाल कोठिया

संयोजक:

भारतीय जैन साहित्य संसद्

आरा,

६ जनवरी १९६५,

सम्पादकीय

वर्त्तमान शोध-खोजका युग है। प्राचीन वाङ्मय पर शोध-खोज करनेवाले विद्वानोंकी संख्या दिन-प्रतिदिन वृद्धिगत हो रही है और अन्धकाराच्छादित अनेक मूल्यवान् ग्रन्थ प्रकाशमें आ रहे हैं, जिससे मानव-जीवनकी शाश्वतिक समस्याओंके सुलझानेमें पर्याप्त सहयोग प्राप्त हो रहा है। विद्वानोंके समानान्तर ही कई नवीन प्रकाशन-संस्थाएँ भी जन्म ले रही है और प्राचीन वाङ्मयके साथ नवीन साहित्य भी बड़ी तेजीके साथ प्रकाशमें आ रहा है। पर समृद्ध जैन वाङ्मय अभी भी विपुल परिमाणमें अप्रकाशित ही पड़ा है और जो प्रकाशित है, वह भी शोध-खोज करनेवालोंको उपलब्ध नहीं हो पाता है।

जैन वाङ्मय भारतीय वाङ्मयका एक अभिन्न अंग है। प्रत्येक शोधकर्त्ता इस वाङ्मयकी अमूल्य मणियोंके प्रकाशसे परिचित है। जैनाचार्योंने समयकी गतिविधिको परखा था और युगानुसारी स्थायी रचनाओंका प्रणयन कर मानवकी मानसिक क्षुधाको तृप्त करनेका प्रयास किया। युगानुसार बदलते हुए जीवन-मूल्योंको क्रान्ति-द्रष्टाके रूपमें समझा और नवीन प्रतिमानोंके अनुसार साहित्यका सृजन किया।

राज्याश्रय और जैन वाङ्मय :

जैनधर्मका उत्थान मगधमें हुआ, पर साहित्य-प्रणयनके केन्द्र दक्षिण भारत, उज्जयिनी, मथुरा, काठियावाड़ और बलभी रहे हैं। ई. पू. १६० में कलिंग चक्रवर्त्ती सम्राट् खारवेलने उड़ीसाके कुमारी-पर्वत पर एक मुनि-सम्मेलन बुलाया था,[1] जिसमें साहित्य-निर्माण-आन्दोलनका सूत्रपात किया। मथुरा-संघने इस आन्दोलनको गति प्रदान की और पुस्तकधारिणी सरस्वती देवीकी विशाल मूर्त्तियाँ प्रतिष्ठित कर वाङ्मयकी रचना और उसके प्रसारको मूर्त्तरूप प्रदान किया। इस आन्दोलनका परिणाम यह हुआ कि दक्षिण एवं उत्तर भारतमें भूतबलि, पुष्पदन्त, कुन्दकुन्द, शिवार्य, गृद्धपिच्छ, समन्तभद्र प्रभृति अनेक आचार्य ईस्वी सन् प्रारम्भके आसपास ही ग्रन्थ-प्रणयनमें संलग्न हो गये। पाटलिपुत्रमें भी जैनागमोंके संकलनका कार्य प्रारम्भ हुआ।

दक्षिणके राजवंशोंमें कदम्ब, गंग, होय्सल, राष्ट्रकूट और चालुक्य वंशके नाम जैन मनीषियों को आश्रय देनेमें प्रसिद्ध हैं। कदम्ब वंशके शान्तिवर्माके पुत्र मृगेशवर्मा द्वारा अपने राज्यके आठवें वर्षमें यापनीय, निर्ग्रन्थ और कूर्चक मुनियोंको भूमिदान दिये जानेका उल्लेख है[2]। अभिलेखोंसे

---

१. [या] तितो वसी करोति। तेरसमे च वसे सुखतविजयचको कुमारीपर्वते अर्हतोपरि निवासेताहिकाये निसिदियाय या पूजावकोहि राजभितानि च नवतानि वसु सतानि [।] पूजानि [सबन] [स थ] २ व [तिरिको ?] जीवदेवकाले रखिता। सुक्त समण सुविहितानु च सत दिशानुं खतियं तपस···सह यानु अरहत निसोदिया समीपे पथरे—खारवेल शिलालेख पं० १४-१५।

२. श्रीविजयपलाशिकायां यापनि(नी)यनिर्ग्रन्थकूर्च्चकानां स्ववैजयिके अष्टमे वैशाखे संवत्सरे कार्त्तिकपौर्णमास्याम्।···श्रीविजयवैजयन्तीनिवासी दत्तवान् भगवद्भ्योऽर्हद्भ्यः तत्राज्ञाप्तिः। —जैनशिलालेखसंग्रह द्वितीयभाग, मा०दि० जैन ग्रन्थ० बम्बई, वि० सं० २००६, लेखसं०९९पृ०७३।

अवगत होता है कि मृगेशवर्माके पुत्र रविवर्माने यापनीय संघके प्रमुख आचार्य कुमारदत्तको पुरुखेटक ग्राम दानमें दिया था[1]। इसी प्रकार कदम्ब वंशकी दूसरी शाखाके युवराज देववर्माने यापनीय संघको कुछ क्षेत्रोंका दान देकर साहित्य-निर्माणके लिए प्रोत्साहित किया था[2]।

जैनाचार्य सिंहनन्दीने गंग-राजवंशकी स्थापनामें बड़ी सहायता प्रदान की थी। गोम्मटसार-वृत्तिके कर्त्ता अभयचन्द्र त्रैविद्य-चक्रवर्तीने भी अपने ग्रन्थकी उत्थानिकामें इस बातका उल्लेख किया है। कहा जाता है कि इस वंशके संरक्षणमें उच्चारणाचार्यने कसायपाहुडके यतिवृषभकृत चूर्णी-सूत्रों पर वृत्ति लिखी। शामकुण्ड और बप्पदेवने भी आगमों पर टीकाएँ लिखीं। कुचि भट्टारक और नन्दिमुनिने पुराण-ग्रन्थ लिखे। ये नन्दिभट्टारक पेरूर-विषय के गंगराज आर्यवर्मन् के गुरु थे। ई० सन् ४०० के लगभग कवि परमेष्ठीने संस्कृत-कन्नड़ मिश्रित वागर्थसंग्रह नामक पुराणग्रन्थ इस वंशके शासनकालमें लिखा था[1]। सर्वार्थसिद्धि नामक ग्रन्थके रचयिता आचार्य पूज्यपाद-देवनन्दि इस वंशके सातवें नरेश दुर्विनीतके राजगुरु थे। इन्होंने युवराज दुर्विनीतको शिक्षा प्रदान की थी। देवनन्दिने जैनेन्द्रव्याकरण, समाधितन्त्र आदि ग्रन्थोंकी रचना भी इस वंशके राज्याश्रयमें की थी।[2] इनके शिष्य गुणनन्दि (५५० ई०) ने जैनेन्द्रप्रक्रिया, वक्रग्रीवने नवशब्दवाच्य, पात्रकेसरीने त्रिलक्षणकदर्थन, श्रीवर्धदेव (६००-६२५ ई०) ने चूड़ामणिशास्त्र, ऋषिपुत्र (६५० ई०) ने निमित्त-शास्त्र और संहिताग्रन्थ एवं चन्द्रसेनने केवलज्ञानहोरा ग्रन्थोंका प्रणयन इस वंशकी छत्रच्छायामें किया है।[3] गंगनरेश मारसिंहके विषयमें कहा जाता है कि उन्होंने अनेक बड़े-बड़े युद्धों में विजय प्राप्तकर नाना दुर्गोंको जीत जैनमन्दिर और स्तम्भोंका निर्माण कराया था। मारसिंहके उत्तराधिकारी रायमल्ल (चतुर्थ) के मन्त्री तथा सेनापति वीर[4] चामुण्डरायने श्रवणबेलगोलके विन्ध्यगिरि पर्वत पर चामुण्डरायवसतिका निर्माण कराया और गोम्मटेश की विशाल मूर्तिकी स्थापना भी की। चामुण्डरायने कन्नड़ भाषामें चामुण्डरायपुराणकी भी रचना की है। इसकी प्रेरणा और प्रार्थनासे आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्त-चक्रवर्तीने गोम्मटसार, लब्धिसार, त्रिलोकसार आदि ग्रन्थोंकी रचना की।

जैन वाङ्मयके प्रणयनमे सहयोग देनेवाले राजवंशोंमें राष्ट्रकूट वंशका भी महत्त्वपूर्ण स्थान है। गोविन्द तृतीयके पश्चात् इस वंशमें अमोघवर्ष राजा हुए, जिन्होंने सन् ८१५ से सन् ८७७ तक राज्य किया। इनके समयमें जैन साहित्यकी पर्याप्त समृद्धि हुई। वीरसेन स्वामीके पट्टशिष्य सेनसंघी

---

१. ते र वे: पुण्यार्थं स्वपितुर्मात्रे दत्तवान् पुरुखेटकं। जिनेन्द्रमहिमा'''।—वही, लेख-सं० १००, पृ० ७५।

२. देववर्मयुवराजः स्वपुण्यफलाभिकांक्षया त्रिलोकभूतहितदेशितः धर्मप्रवर्त्तनस्य अर्हतः भगवतः चैत्यालस्य भग्नसंस्कारार्च्चयनमहिमार्थं यापनीयसंघेभ्यः'''। —वही, लेखसं० १०५, पृ० ८३।

३. जैनशिलालेखसंग्रह प्रथम भाग, मा०दि० जैन ग्र० बम्बई, वि०सं० १९८४, भूमिका, पृ० ७२।

४. वही पृ० ७२।

५. भारतीय इतिहास : एक दृष्टि,—भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, सन् १९६१, पृ० २५९।

६. वही पृ० २६३ तथा जैन सिद्धान्त भास्कर आरा, भाग १३ किरण १, गोम्मटेश प्रतिष्ठापक, पृ० १-६।

आचार्य जिनसेन स्वामी उसके गुरु थे।[1] इन्होंने वाटनगरके अधिष्ठानमें सन् ८३७ ई० में जयधवला टीकाको पूर्ण किया। पश्चात् सम्राट्के आग्रह पर मान्यखेटमें आकर पार्श्वाभ्युदय और आदिपुराणकी रचना की। आचार्य जिनसेनके शिष्य गुणभद्र भी अमोघवर्ष द्वारा मान्य थे। इस सम्राट्ने इनको अपने पुत्रका शिक्षक नियत किया था। अतः गुणभद्रने राज्याश्रयमें उत्तरपुराण, आत्मानुशासन और जिनदत्तचरित आदि ग्रन्थोंका प्रणयन किया। कल्याणकारकके रचयिता उग्रादित्य भी इस सम्राट् द्वारा सम्मानित थे। महावीराचार्यने 'गणितसारसंग्रह' की रचना अमोघवर्षके आश्रयमें ही की थी। यापनीय संघके आचार्य शाकटायन पाल्यकीर्तिने 'शाकटायन' नामक शब्दानुशासन की रचना इन्हींके आश्रयमें की थी और इस ग्रन्थकी अमोघवृत्ति' नामकी टीका भी आश्रयदाताको अमर करनेके लिए लिखी। अमोघवर्षने संस्कृतमें 'प्रश्नोत्तररत्नमालिका' नामका नीतिग्रन्थ और कन्नड़में 'कविराजमार्ग' नाम का छन्द और अलंकार शास्त्र का ग्रन्थ रचा। इस वंशके राजा कृष्ण द्वितीयके आश्रयमें महाकवि गुणवर्मने कन्नड़ भाषामें महापुराणकी रचना की है। कृष्णने कन्नड़ भाषाके जैन महाकवि पोन्नको उभय-भाषा-चक्रवर्त्तीकी उपाधिसे विभूषित किया था। सोमदेवने यशस्तिलक एवं नीतिवाक्यामृतकी रचना कृष्णके चालुक्य सामन्तके आश्रयमें सन् ९५९ ई०में गंगाधर नगरमें की थी। राष्ट्रकूट वंशके राजाओंमें कृष्ण द्वितीय बहुत विद्यानुरागी था। इसने अपभ्रंश भाषाके महाकवि पुष्पदन्तको राज्याश्रय प्रदान किया था और महापुराण जैसे विशालकाय काव्यगुणमण्डित ग्रन्थ का प्रणयन कराया।

चालुक्य नरेशोंने कई जैन आचार्यों और लेखकोंको प्रश्रय देकर साहित्य-रचनाके मार्गको पल्लवित किया। पुलकेशी (द्वितीय) के समयमें जैन कवि रविकीर्तिको संस्कृत-काव्य-कलामें कालिदास और भारविके समान पटु बतलाया गया है। लक्ष्मेश्वरसे प्राप्त अनेक दानपत्रोंमें चालुक्य नरेश विनयादित्य, विजयादित्य और विक्रमादित्य द्वारा जैनाचार्योंको दान दिये जाने का उल्लेख है। ग्यारहवी शताब्दीमें दक्षिण भारतमें जब पुनः चालुक्य नरेशों का वैभव बढ़ा तो अनेक जैन कवि और जैन दार्शनिकोंको इस वंशके राजाओंने आश्रय प्रदान किया। पश्चिमी चालुक्य वंशके संस्थापक तैलपने कन्नड़ भाषाके जैन कवि रन्नको आश्रय दिया। तैलपके उत्तराधिकारी सत्याश्रयने जैन मुनि विमलचन्द्र पण्डितदेवको अपना गुरु बनाया। इस वंशके जयसिंह द्वितीय, सोमेश्वर प्रथम और द्वितीय तथा विक्रमादित्य षष्ठने कितने ही जैन कवियोंको प्रोत्साहित कर साहित्य-सृजन कराया। तैलपने कवि रन्नको ९९३ ई० में अजितपुराण या पुराणतिलक महाकाव्यके पूर्ण होनेके उपलक्ष्यमें 'कविचक्रवर्त्ती' की उपाधिसे विभूषित कर स्वर्ण-दण्ड, चँवर-छत्र, गज आदि वस्तुएँ देकर पुरस्कृत किया। मल्लपकी पुत्री और नागदेवकी पत्नी विदुषीरत्न अतिमब्बेने महाकवि पोन्नके शान्तिनाथपुराणकी एक सहस्र प्रतियाँ अपने व्ययसे तैयार कराकर वितरित कीं। इस वंशके राजा जयसिंह द्वितीयने जैन वाङ्मयके निर्माणमें बहुत सहयोग प्रदान किया। इसने अपनी सभामें वादिराज सूरिको सम्मानित किया और 'जगदेकमल्लवादी' की उपाधि प्रदान की। वादिराजने सन् १०२५ ई० में अपना प्रसिद्ध काव्य 'पार्श्वचरित रचा। एकीभावस्तोत्र एवं अकलंकदेव कृत न्यायविनिश्चयकी टीका भी इनके द्वारा इसीके राज्याश्रयमें रची गयी। इस वंशके राजा सोमेश्वर प्रथमने जैनाचार्य अजितसेन का सम्मान किया

१. संस्मर्ता स्वममोघवर्षनृपतिः पूतोऽहमद्येत्यलम्।
स श्रीमान् जिनसेनपूज्यभगवत्पादो जगन्मङ्गलम्॥—उ०पु०, भा०ज्ञानपीठ, काशी, प्र० श्लो०९

और उन्हें शब्दचतुर्मुख उपाधि प्रदान की। इस राजाकी पट्टरानी केतलदेवीने भी अपने सचिव चाकिराज द्वारा सेनगण मोगरिगच्छके गुरु ब्रह्मसेनके प्रशिष्य और आर्यसेनके शिष्य महासेनको सन् १०५४ ई०में दान दिया और साहित्य-सृजनके मार्गको प्रशस्त बनाया। विक्रमादित्य षष्ठने जैनाचार्य वासवचन्द्र का सम्मान करके उन्हें "बालसरस्वती" की उपाधि प्रदान की। जैनाचार्य अर्हनन्दि इसके धर्मगुरु थे। इस प्रकार चालुक्य राजाओंने जैनवाङ्मयके प्रणयनमें अपूर्व योगदान दिया। राष्ट्रकूट और चालुक्य नरेशोंमें कई नरेश विद्यारसिक और साहित्य-प्रेमी थे, फलतः उन्होंने बिना किसी भेद भावके जैन साहित्य और संस्कृतिको विकसित किया।

होयसल राजवंश की स्थापना एक जैन मुनि के निमित्त से हुई थी। विनयादित्य नरेश के राज्यकाल मे जैनमुनि वर्धमानदेव का शासन-प्रबन्ध में बहुत बड़ा हाथ रहा है। होय्सलों का मूलनिवास स्थान पश्चिमी घाट पर मुदगेरे तालुके में स्थित अंगदि शशकपुर नगर था। यह स्थान जैन वाङ्मय का केन्द्र था। यहाँ जैनाचार्य सुगत वर्द्धमान का विद्यापीठ वर्तमान था, जिसमें अनेक गृहस्थ, त्यागी और मुनि शिक्षा प्राप्त करते थे। सल नामक व्यक्ति, जो कि चालुक्यों के साधारण श्रेणी के सामन्तका पुत्र था, इन्ही आचार्य के पास अध्ययन करता था। सल ने ही इस वंश के राज्य का विस्तार किया। सुगत वर्धमान धर्मगुरु एवं राजगुरु थे। इस वंश ने अभयचन्द्र, अजितसेन भट्टारक, दार्शनिक गोपनन्दी, चारुकीर्त्ति पण्डितदेव प्रभृति साहित्यकारों को सम्मानित किया तथा राज्याश्रय देकर साहित्य-प्रणयन के लिए प्रोत्साहित किया।

उपर्युक्त प्रसिद्ध राजवंशों के अतिरिक्त छोटे-छोटे राजवंशों में जैन साहित्य की वृद्धिगत करनेवालों में कलचुरि, रट्ट, शिलाहार एवं कोंगाल्ववंश का विशेष महत्त्व है। भुजबल सान्तर ने अपनी राजधानी पोम्बुच वर्ग मे एक जैनमन्दिर बनवाया और अपने गुरु कनकनन्दि को उस मन्दिर के संरक्षणार्थ एक ग्राम दान में दिया। विजयनगर साम्राज्य के कई नरेशों ने जैन साहित्य के निर्माण मे महत्त्वपूर्ण कार्य किये है। हरिहर द्वितीय की प्रेरणा से अभिनव श्रुतमुनि ने मल्लिषेण कृत सज्जनचित्तवल्लभ की कन्नड़-टीका लिखी। मधुर ने धर्मनाथपुराण और गोम्मटाष्टक ग्रन्थों का प्रणयन किया। ये दोनों ही कवि उक्त राजा के आश्रय में थे। इस साम्राज्य में उत्पन्न देवराय द्वितीय (सन् १४१९–१४४६) ई० की राजसभा मे जैनाचार्य नेमिचन्द्र ने अन्य विद्वानो से शास्त्रार्थ कर विजयपत्र प्राप्त किया था। प्रसिद्ध टीकाकार मल्लिनाथ सूरि इसी देवराय के आश्रित थे। महाराज विरूपाक्षराय की राजसभा में उद्‌भट विद्वान् एवं महान् वादी जैनाचार्य विशालकीर्ति ने परवादी विद्वानों को शास्त्रार्थ में पराजित कर राजा से जय-पत्र प्राप्त किया था। चंगाल्व-नरेश का सेनापति मँगरस था, यह पराक्रमी और वीर होने के साथ कवि भी था। इसने जयनृपकाव्य, प्रभञ्जनचरित, नेमिजिनेशसंगति, सम्यक्त्वकौमुदी एवं सूपशास्त्र आदि ग्रन्थों की कन्नड़ में रचना की। महाराज कृष्णदेव की राजसभा में कई जैन कवि थे। भारत, शारदाविलास, नेमीश्वरचरित और वैद्यसांगल के कर्त्ता साल्व, चन्द्रप्रभचरित के कर्त्ता दोड्डय्य एवं अश्ववैद्य के कर्त्ता बाचरस उक्त राजा के आश्रय में रहकर ग्रन्थों का निर्माण करते रहे। वस्तुतः कृष्णदेव का राज्यकाल जैन साहित्य के प्रणयन के लिए बहुत ही उपयुक्त था। विजयनगर नरेश वेंकटराय प्रथम (१५८६–१६१७ ई०) की राजसभा में भट्टारक अकलंक ने सारत्रय और अलंकारत्रय का व्याख्यान करके कीर्त्ति अर्जित की थी। कर्णाटक-शब्दानुशासन नामक प्रसिद्ध कन्नड़ व्याकरण इन्हीं की रचना है।

काठियावाड़ ईस्वी सन् की प्रथम शताब्दी के लगभग ही जैन साहित्य के निर्माण का केन्द्र था। धरसेनाचार्य गिरनार की चन्द्रगुफा में निवास करते थे। इन्होंने पुष्पदन्त और भूतबलि नामक आचार्यों को बुलाकर आगम का अध्ययन कराया, जिसके फलस्वरूप षट्खण्डागम का प्रणयन हुआ। गुजरात में सन् ४५४ ई० में क्षमाश्रमण देवर्द्धिगणि की अध्यक्षता में जैन मुनियों का एक विशाल सम्मेलन बुलाया गया, जिसमें जैनागमके ४५ ग्रन्थ संकलित किये गये। वलभीके जैनाचार्योंमें मल्लवादी नामके एक महान् आचार्य हुए, जिन्होंने द्वादशारनयचक्र नामक जैन न्यायका श्रेष्ठ ग्रन्थ लिखा है।

प्राचीन समयमें गुजरातमें अणहिलवाडके अतिरिक्त भिन्नमाल या श्रीमाल जैन विद्याके लिए प्रसिद्ध था। सिद्धर्षिका 'उपमितिभवप्रपञ्चकथा' नामक ग्रन्थ सन् ९०६ में इसी नगरमें समाप्त हुआ। सन् ७७८ ई० में उद्योतनसूरिने जाबालीपुर (जालोर) में कुवलयमाला नामक प्राकृत ग्रन्थकी रचना की है, जो भिन्नमालके निकट है। उद्योतनसूरिने हरिभद्रके अतिरिक्त गुप्तवंशी देवगुप्त नामके आचार्य को भी अपना गुरु लिखा है। देवगुप्त महाकवि थे। इनके शिष्य शिवचन्द्रने श्रीमालको अपना निवास स्थान बनाया था। अणहिलवाड़में राज्य करनेवाले चौलुक्यवंशीय प्रथम राजा मूलराज जैन साहित्य का प्रेमी था। ११वी शतीमें शान्तिसूरि और नेमिचन्द्रने उत्तराध्ययनकी विशाल टीकाएँ लिखीं। सिद्धराजके आश्रयमें हेमचन्द्र और उनकी शिष्यमण्डलीने व्याकरण, काव्य, नाटक एवं नाट्यशास्त्रों पर ग्रन्थोंका प्रणयन किया। आचार्य हेमचन्द्रके समकालिक कवि और विद्वानोंमें सिद्धराजके राजकवि प्राग्वाटवंशीय श्रीपालका नाम प्रसिद्ध है। उसने सिद्धराजके द्वारा निर्मित सुप्रसिद्ध सहस्रलिंगसागरकी प्रशस्ति लिखी है, जिसका कुछ अंश पाटनके एक मन्दिरमें मिले पाषाणखण्ड पर खुदा प्राप्त हुआ है। वडनगरके गढ़की प्रशस्तिके अन्तमें श्रीपाल कविका परिचय निम्नप्रकार मिलता है :—

एकाहनिष्पन्नमहाप्रबन्धः, श्रीसिद्धराजप्रतिपन्नबन्धुः।
श्रीपालनामा कविचक्रवर्ती प्रशस्तिमेतामकरोत्प्रशस्ताम्॥

श्रीपालका पुत्र सिद्धपाल भी एक अच्छा कवि था और सिद्धपालका पुत्र विजयपाल अच्छा संस्कृत-नाटककार था। उसकी एक रचना 'द्रौपदी-स्वयंवर' उपलब्ध है, जो मूलराजके द्वारा निर्मित त्रिपुरुषप्रासादमें भीमदेव द्वितीयकी आज्ञासे अणहिलवाड़में खेला गया था। यशपाल कविने सन् ११७४–११७७ ई० के मध्यमें 'मोहराजपराजय' नाटककी रचना की। यशपाल कुमारपालके उत्तराधिकारी अजयपालका जैन मन्त्री था।

तेरहवीं सदीके पूर्वार्धमें गुजरातके धोलका नगरके राजाका महामन्त्री वस्तुपाल अपनी साहित्य-सेवाके लिए प्रसिद्ध है। इनका नरनारायणमहाकाव्य, सोमेश्वरकी कीर्तिकौमुदी और सुरतोत्सव, अरिसिंहका सुकृतसंकीर्तन, बालचन्द्रका वसन्तविलास और उदयप्रभसूरिका धर्माभ्युदय जैन साहित्यकी अमूल्य मणियाँ हैं, जिनके प्रणयनका श्रेय वस्तुपालको है। देशी राज्यके नरेशोंमें नागौर नरेश भारमल का नाम उल्लेख्ययोग्य है। इनके आश्रयमें राजमल्लने पञ्चाध्यायी, जम्बूस्वामीचरित, लाटीसंहिता, अध्यात्मकमलमार्तण्ड और पिङ्गलशास्त्रकी रचना की है। मुसलमान नरेशोंमें अकबरने अनेक जैन कवियोंको राज्याश्रय प्रदान किया था। इसने सन् १५८१ ई० में हीरविजयसूरिको गुजरातसे बुलाकर जगद्गुरुकी उपाधिसे विभूषित किया था। जहाँगीरने भी ब्रह्मचारी रायमल्ल,

कविनन्द और विष्णुको सत्कृत किया था। इस प्रकार राज्याश्रय प्राप्तकर जैन साहित्य वृद्धिगत हुआ था। समन्तभद्र, हरिभद्र, अकलंकदेव प्रभृति जैन नैयायिकोंको भी राजसभाओंमें सम्मान प्राप्त हुआ था। इसमें सन्देह नहीं कि साहित्यके प्रणयनमें वातावरणका प्रमुख स्थान रहता है। राज्याश्रयके अभावमें सत् साहित्यके निर्माणमें अनेक प्रकारकी बाधाएँ आती है। सुसंगठित संस्था और धनी-मानियोंका सहयोग साहित्य-रचनाके लिए सदासे अपेक्षित रहा है।

प्रेम और सौन्दर्यकी दृष्टिसे जैन साहित्यका मूल्यांकन :

साहित्य-निर्माणके लिए आवश्यक राज्याश्रय एवं वातावरणके विश्लेषणके अनन्तर यह विचार करना भी अत्यावश्यक है कि प्रेम एवं सौन्दर्य निरूपण की दृष्टिसे जैन साहित्य का मूल्य कितना है ? अधिकांश विद्वान् जैन साहित्यको आचार या धर्म-मूलक ही मानते हैं, पर बात ऐसी नहीं है। जैन साहित्यमें सौन्दर्य और प्रेम का चित्रण यथेष्टरूपमें हुआ है। यहाँ पर केवल संस्कृत-साहित्यके उदाहरणों का ही विश्लेषण किया जायगा। प्राकृत, अपभ्रंश, कन्नड, तामिल, तेलगु, मराठी, गुजराती, हिन्दी, राजस्थानी प्रभृति भाषाओंमें निबद्ध जैन साहित्यमें सौन्दर्य, प्रेम एवं जीवन-भोगों का यथेष्ट चित्रण वर्तमान है।

सौन्दर्यके दो क्षेत्र है—मानव जगत् और प्रकृति। मानव का शरीर नेत्रोंको आकृष्ट करता है और उसका आनन्द-भावनासे सीधा सम्बन्ध है। पुरुष-शरीर की अपेक्षा नारी-शरीरके चित्रणमें कवियोंने अधिक रस लिया है। कवि वीरनन्दी महासेन की महिषी लक्ष्मणाके रूपलावण्य का चित्रण करता हुआ कहता है :

तस्य श्रीरिव कमलालयादुपेता पातालादिवपरिनिर्गताहिकन्या।
पुष्पेषो रतिरिव लक्ष्मणेति जाया सर्वान्तःपुरपरमेश्वरी बभूव ॥

चन्द्रप्रभचरित, निर्णयसा० १९ २ ई०, १६।१६

सच्छाया विपुलमहातरोर्लतेव मेघानामिव पदवी सतारतारा।
चापश्रीरिव वरवंशलब्धजन्मा या रेजे सुकविकथेव चारुवर्णा ॥ — वही, १६।१७

कामदेव की पत्नी रतिके समान अथवा कमल-निवास का त्यागकर आयी हुई विष्णु-पत्नी लक्ष्मीके तुल्य या पातालसे प्रकट हुई नागकन्याके समान यह लक्ष्मणा है। महावृक्षकी लताके समान सच्छाया—छायायुक्त, रानीके पक्षमे कान्तिसे युक्त; मेघा की पदवी—आकाशके समान बड़े तारागुच्छों—तारागणोंसे परिपूर्ण, रानीके पक्षमे मोतियोंसे परिपूर्ण; धनुष की शोभाके समान श्रेष्ठ वंश—बास रानीके पक्षमें कुलसे उत्पन्न और सुकवि की कथा—वाणीके समान सुन्दर—वर्ण-अक्षर, रानीके पक्षमें वर्ण—रंग वाली, उस राजा की रानी थी।

लोलत्वं नयनयुगे न चित्तवृत्तौ मन्दत्वं गतिषु न सज्जनोपकारे।
कार्कश्यं कुचयुगले न वाचि यस्या भंगोऽभूदलकचये न चापि शीले ॥
सौभाग्यं क्वचिदितरत्र रूपमात्रं क्वापि स्याद्विनयगुणोऽपरत्र शीलम्।
यस्यां तत्समुदितमेव सर्वमासीत्प्रायेण प्रभवति तादृशी न सृष्टिः ॥

च० प्र० निब्ब० १६।१७।१८

उस लक्ष्मणाके दोनों नेत्र चंचल थे, पर चित्त चंचल नहीं था; उसकी चाल धीमी थी, पर परोपकार की वृत्ति शिथिल नही थी; उसके स्तन कठोर थे, पर वाणी कठोर न थी; केशोंमें भंग—वक्रता—टेढ़ापन था, पर सदाचारके सम्बन्धमें वक्रता न थी। कही केवल सौभाग्य होता हैं, कहीं केवल रूप-रंग होता है, कही केवल विनयगुण ही होता है और कही केवल शील होता है, पर लक्ष्मणामें ये सब बातें एक साथ थी।

महाकवि वादिराजने नारी-सौन्दर्य का चित्रण बहुत सुन्दर किया है। समस्त उदाहरणोंको प्रस्तुत करना अशक्य है। अतः नमूनेके रूपमें दो-एक उदाहरण ही प्रस्तुत कर कवि की सौन्दर्य-वर्णन-की क्षमताको स्पष्ट किया जायगा। कवि विजया रानीके अंग-प्रत्यंगके सौन्दर्यका चित्रण करनेके पश्चात् कहता है।

तदीयसौन्दर्यविशेषविस्मितस्मरेण रागो रतये विचोदितः।
प्रकल्प्य मूल्यं नवपल्लवश्रियं वली मृगाक्ष्याः करमग्रहीद्ध्रुवम्॥

पार्श्व० च. मा. दि. जैन ग्र. ब., वि. सं. १९७३, ४।६६

रतिके निमित्त उस अनिन्द्य सुन्दरी रानीके सौन्दर्यको लेनेके हेतु कामदेवके द्वारा भेजा गया राग (लालिमा) नूतन पल्लवरूपी लक्ष्मीको मूल्यके रूपमें लेकर आया; पर इस मृगनयनीके पास आते ही सब कुछ भूल गया और इस रूपवतीका हाथ पकड़कर यही रह गया।

धर्मशर्माभ्युदयमे महाकवि हरिचन्दने नारीरूपका बहुत ही सुन्दर चित्रण किया है। सुव्रताके लावण्यका चित्रण करता हुआ कवि कहता है :—

सुधासुधारश्मिमृणालमालतीसरोजसारैरिव वेधसा कृतम्।
शनैः शनैर्मौगध्यमतीत्य सा दधौ सुमध्यमा मध्यममध्यमं वयः॥

धर्मशर्माभ्युदय, निर्णयसागर, सन् १९३३ ई०, २।३६

सुन्दर कमरवाली उस सुव्रताने शनैःशनैः मौगध्य अवस्थाको व्यतीत कर ब्रह्मा द्वारा अमृत, चन्द्रमा, मृणाल, मालती और कमलके स्वत्वसे निर्मितकी तरह सुकुमार तारुण्य अवस्थाको धारण किया।

स्मरेण तस्याः किल चारुता-रसं जनाः पिबन्तः शर-जर्जरीकृताः।
स पीतमात्रोऽपि कुतोऽन्यथागलत्तदङ्गतः स्वेदजलच्छलाद्बहिः॥ वही, २।६७

जो भी व्यक्ति उसके सौन्दर्य-रसका पान करते थे, कामदेव उन सबोको अपने बाणों द्वारा जर्जर कर देता था, यदि ऐसा न होता तो सौन्दर्य-रसके पीनेके साथ ही स्वेद जलके बहाने उसके शरीरसे क्यों निकलने लगता।

इतः प्रभृत्यम्ब न ते मुखाम्बुजश्रियं हरिष्येऽहमितीव चन्द्रमाः।
प्रतीतयेऽस्याः सकुटुम्बको नखच्छलेन साध्व्याश्चरणावमस्पृशत्॥ वही, २।३८

हे मा! मैं आजसे लेकर कभी भी तुम्हारे मुखकमलकी शोभाका अपहरण न करूँगा—मानो यह विश्वास दिखानेके लिए ही चन्द्रमाने अपने समस्त परिवारके साथ नखोंके बहाने उस पतिव्रताके चरणोंका स्पर्श किया था।

कविने अंग-प्रत्यंगोंका चित्रण करते हुए लिखा है—

कपोलहेतोः खलु लोल-चक्षुषो विधिर्व्यधात्पूर्णसुधाकरं द्विधा।
विलोक्यतामस्य तथा हि लाञ्छनच्छलेन पश्चात्कृतसीवनव्रणम्।। वही, २।५०

ऐसा मालूम होता है कि विधाताने उस चपललोचनाके कपोल बनानेके लिए मानो पूर्णचन्द्रमाके दो टुकड़े कर दिये हों। इसीलिए उस चन्द्रमामें कलंकके बहाने पीछेसे की हुई सिलाईके चिह्न वर्तमान है।

प्रवालबिम्बीफलविद्रुमादयः समा बभूवुः प्रभयैव केवलम्।
रसेन तस्यास्त्वधरस्य निश्चितं जगाम पीयूषरसोऽपि शिष्यताम्।। वही, २।५१

किसलय, बिम्बीफल और मूंगा आदि केवल वर्णकी अपेक्षा ही उसके ओष्ठके समान थे। रसकी अपेक्षा तो निश्चय ही अमृत भी उसका शिष्य हो चुका था। नासिकाका वर्णन करते हुए कवि कहता है—

ललाटलेखाशकलेन्दुनिर्गलत्सुधोरुधारेव घनत्वमागता।
तदीयनासा द्विजरत्नसंहतेस्तुलेव कान्त्या जगदप्यतोलयत्।। वही, २।५३

उसकी नाक क्या थी ? मानों ललाटरूपी अर्धचन्द्रसे भरनेवाली अमृतकी धारा ही जमकर दृढ़ हो गयी हो अथवा उसकी नाक दन्तरूपी रत्नोंके समूहको तोलनेकी तराजू थी, पर उसने अपनी कान्तिसे सारे संसारको तोल डाला था—सबको हलका कर दिया था।

इमामनालोचनगोचरां विधिर्विधाय सृष्टेः कलशार्पणोत्सुकः।
लिलेख वक्त्रे तिलकाङ्कमध्ययोर्भ्रुवोर्मिषादोमिति मङ्गलाक्षरम्।। वही, ३।५५

उस अनिन्द्य सुन्दरी को बनाकर विधाता सृष्टि के ऊपर मानो कलश रखना चाहते थे, इसलिए तो उन्होंने तिलक से चिह्नित भौहों के बहाने उसके मुख पर 'ॐ' यह मंगलाक्षर लिखा था।

कपोललावण्यमयाम्बुपल्वले पतत्सतृष्णाखिलनेत्रपत्रिणाम्।
ग्रहाय पाशाविव वेधसा कृतौ तदीयकर्णौ पृथुलांसचुम्बितौ।। वही, २।५५

स्थूल कन्धों तक लटकते हुए उसके कान क्या थे ? मानों कपोलों के सौन्दर्य रूपी स्वल्प जलाशय में प्यास के कारण पड़ते हुए समस्त मनुष्यों के नेत्ररूपी पक्षियों को पकड़ने के लिए विधाता ने जाल ही बनाये हों।

प्रकृति-सौन्दर्य के प्रसंग में वन, उपवन, पर्वत, नदी, उषा, सन्ध्या, प्रभात, रजनी, ऋतु, समुद्र प्रभृति का प्रभावक चित्रण किया गया है। कवि अमरचन्द सूरि ने प्रभात का वर्णन करते हुए दधि-मन्थन करनेवाली गोपिकाओं की वेणी का सरस चित्रण किया है और उनकी वेणी को कामदेव का खड्ग कहा है।—

दधिमथनविलोलल्लोलदृग्वेणिदम्भा—
दयमदयमनङ्गो विश्वविश्वैकजेता।
भवपरिभवकोपत्यक्तबाणः कृपाण—
श्रममिव दिवसादौ व्यक्तशक्तिर्व्यनक्ति।। बालभारत १।११।६

कवि वाग्भट ने भी प्रभात का सरस चित्रण किया है। कमलों में बन्द हुए भ्रमर बाहर निकल रहे थे। चन्द्रकिरणों से स्फटिक मणि निर्मित-सा प्रासाद, जो कि रात्रि में सुधा धवल प्रतीत होता था, अब सूर्य-किरणों के सम्पर्क से कुंकुम स्नान-सा मालूम पड़ रहा है। नदी और सरोवरों का जल अरुण प्रतीत हो रहा है। दधि-मन्थन करनेवाली गोपबालाओं की चंचल वेणी हिल रही है और उनका उभरा हुआ यौवन दमक रहा है।

> संध्यागमे तततमोमृगनाभिपङ्कैर्नक्तं च चन्द्ररुचिचन्दनसंचयेन।
> यच्चर्चितं तदधुना भुवनं नवीनभास्वत्करौघघुसृणैरुपलिप्यतेस्म ॥ नेमिनि० ३।१५
> अङ्गेन तुङ्गकुचकुम्भभृता विलोलवेणीकरेण निनदद्वलयान्दुकेन।
> गोप्यो वहन्त्य इव कामगजावतारं मन्थन्ति गोरसमसीमगभीरघोषम् ॥ वही ३।१८

प्रातः कालीन शीतल, मन्द, सुगन्ध समीर का चित्रण करता हुआ कवि कहता है—

> स्वैरं विहृत्य सरसीषु सरोरुहाणामाकम्पनेन परितश्छुरितो रजोभिः।
> भृङ्गावलीमुखरशृङ्खलसूच्यमानो मन्दं मरुच्चरति चित्तभुवः करीव ॥ वही ३।२३

स्वच्छन्दता छोड़ तालाबों में कमलों के कांपने से चारों ओर से गिरे हुए पराग द्वारा आच्छादित भ्रमरावली की वाचालता से अवगत होनेवाला पवन मनोत्पन्न हाथी के समान धीरे धीरे प्रवाहित हो रहा था।

सूर्यास्त का मार्मिक वर्णन करते हुए कवि हरिचन्द्र ने आकाश में विधवा स्त्री का आरोप कर कहा है—

> अस्तंगते भास्वति जीवितेशे विकीर्णकेशेव तमःसमूहैः।
> ताराश्रुबिन्दुप्रकरैर्वियोगदुःखादिव द्यौ रुदती रराज ॥ धर्मश० १४।२०

सूर्यके अस्त होने पर ऐसा मालूम पड़ता था कि आकाशरूपी स्त्री सूर्यरूप पतिके नष्ट-मृत हो जाने पर विधवा हो गयी है, अतः वह अन्धकार-समूहके बहाने केश विखेर कर ताराकूप अश्रुबिन्दुओंके समूहसे मानो रो ही रही है। अन्धकारका चित्रण करता हुआ कवि पुनः कहता है—

> अस्ताचलात्कालवलीमुखेन क्षिप्ते मधुच्छत्र इवार्कबिम्बे।
> उड्डीयमानैरिव चञ्चरीकैर्निरन्तरं व्यापि नमस्तमोभिः ॥ वही १४।२२

जब कालरूपी वानरने मधुके छत्तेके समान सूर्य बिम्बको अस्ताचलसे उखाड़ कर फेंक दिया, तब उड़नेवाली मधु-मक्खियोंकी तरह अन्धकारसे यह आकाश निरन्तर व्याप्त हो गया।

प्रकृतिका मानवीकरण करते हुए कविने सूर्य पर धीवरका आरोप किया है—

> अस्ताद्रिमारुह्य रविः पयोधौ कैवर्तवत्क्षिप्तकराग्रजातः।
> आकृष्य चिक्षेप नभस्तटेऽसौ क्रमात्कुलीरं मकरं च मीनम् ॥ वही १४।८

सूर्य धीवरकी तरह अस्ताचल पर आरूढ हो समुद्रमें अपने किरणरूपी जालको डाले हुए था; ज्यों ही कर्क—केकड़ा, मकर—मगर और मीन—मत्स्यजन्तु (पक्ष में राशियाँ) उसके जालमें फँसे त्यों ही उसने खींच कर उन्हें क्रम-क्रमसे आकाशमें उछाल दिया।

प्रकृति पर मानवीय भावनाओका आरोप करते हुए कविने कहा—

नूनं प्रियविरहार्तचक्रवाक्याः कारुण्यान्निशि रुदितं घनं नलिन्या।
यत्प्रातर्जललवलाञ्छितारुणानि प्रद्युन्ते कमलविलोचनानि तस्याः॥ वही १६।२०

पतिके विरहसे दुखी चकवी पर दया आनेसे कमलिनी माना रातभर खूब रोती रही है। इसलिए तो उसके कमलरूपी नेत्र प्रात कालके समय जलकणोसे चिह्नित एव लाल लाल दिखाई दे रहे हैं।

मुखं निमीलन्नयनारविन्दं कलानिधौ चुम्बति रात्रि रागात्।
गलत्तमोनीलदुकूलबन्धा श्यामाद्रवच्चन्द्रमणिच्छलेन॥ वही, १४।३९

ज्यो ही चन्द्रमारूपी चतुर (पक्षमे कलाग्रास युक्त) पतिने जिसमे नेत्ररूपी कमल निमीलित है, ऐसे रात्रिरूपी युवतीके मुखका रागपूर्वक चुम्बन किया, त्यो ही उसकी अन्धकाररूपी नीली साड़ीकी गाँठ खुल गयी और वह स्वय चन्द्रकान्त मणिके छलसे द्रवीभूत हो गयी।

जैन साहित्यमे श्रृगार और यौवनके चित्र भी कम नही है। जैन कवियोने जीवनकी समस्त दिशाओका पूर्णतया अवलोकन किया है। कवि नयचन्द्रने रतिको रस कहा है और इसे परमात्मासे भी उत्कृष्ट बतलाया है —

रतिरसं परमात्मरसाधिकं कथममी कथयन्तु न कामिनः।
यदि सुखी परमात्मविदेकको रतिविदौ सुखिनौ पुनरप्युभौ॥ हम्मीर का० ७।१०४

कवि अमरचन्द्रने पुष्पावचयके समय नायक-नायिकाओ की पारस्परिक ईर्ष्या का सुन्दर चित्रण करते हुए लिखा है —

अपि प्रसूनेषु नखक्षतं प्रिये मृजत्यसूया विदधे मनस्विनी।
भृंगोऽपि पुष्पावचयोत्थितं पिबत्प्रियामुखाब्जं रसिकाप्यसूयत॥

बालभारत १।८।२१

फूल चुनते समय प्रिय जब पुष्पोको नखक्षत करता है तो उसकी मनस्विनी नायिकाको ईर्ष्या होती है। उधर नायिका द्वारा पुष्पचयनके कारण उडा हुआ भ्रमर प्रियाके मुखकमल रस का पान करता है, जिससे रसिक प्रियको भी असूया होती है। इस पद्यमे मनस्विनी नायिका और रसिक नायक दोनो की भावनाओ का अच्छा चित्रण किया गया है। इसी सन्दर्भमे कवि आगे कहता है —

भृंगेण दष्टो नवपल्लवभ्रमादुपेत्य दूरादधरो मृगीदृशः।
विषव्यथां हर्तुमिव स्वयं रयादुपालिपीतो दयितेन धीमता॥ वही १।८।८२

नवीन पल्लवके भ्रमसे दूरसे आकर भ्रमर द्वारा डसा मृगनयनी का अधर विष वेदनासे व्याप्त है, अत विष-व्यथाको दूर करनेके लिए शीघ्रतापूर्वक स्वय बुद्धिमान प्रियने अधर का पान कर लिया। कवि नायक-नायिकाके प्रेम-मिश्रित क्रोध का चित्रण करता हुआ कहता है —

रजोऽवकीर्णं दयितेन कौसुमं परा यदालिङ्गितुमङ्गनादृशि।
तदाशु निःश्वासभरेण निघ्नती हृदात्मनि द्रोहमपि व्यधत्त सा॥

निशम्य क्लृप्तामममुनाभिधामिदा मदर्पणेऽसौ त्यजवाशु मास्म माम।
प्रियेण बध्वा हृदि रोपिता व्यथादितीव माला तुमुलं चलालिभिः ॥ वही, १।८।२८-२९

प्रेमी द्वारा अन्य प्रेयसी का आलिंगन करनेके लिए अपनी अंगना की आंखमें पुष्पराग डाल दिया गया है, जिससे वह अंगना व्याकुल हो हाहाकार करती है और इस कपटको अवगत कर लेनेके कारण वह लम्बी सांस लेती हुई द्रोह करती है।

प्रेमी द्वारा गोत्र-स्खलन सुनकर कोई नायिका, जिसे प्रेमी माल्यार्पण कर रहा है, बिगड़ उठती है और कह उठती है कि मुझे छोड़ दो। इस अवस्थामें प्रिय द्वारा प्रेयसीके गलेमें पहिनाई गई माला ऐसी प्रतीत होती है, मानो चंचल भ्रमरों की माला ही व्यथा पहुँचा रही है।

उद्दाम यौवन का चित्रण करते हुए कवि धनञ्जयने लिखा है :—

महानिवेशं कुचभारमेका धृत्वा कराभ्यां त्वरितं जिहाना।
उपर्युपर्युच्छ्वसिता नताङ्गी शून्यं तरन्तीव घटद्वयेन ॥ द्विसन्धान ८।३९

यौवनभारसे झुकी उत्तरोत्तर अधिक वेगसे सांस लेती हुई कोई एक स्त्री अपने बड़े-बड़े स्तनोंके भारको दोनों हाथोंसे संभाले तेजीसे आगे बढ़ती हुई ऐसी मालूम होती है मानो दो कलशोंके सहारे आकाशमें तैर रही है।

इस प्रकार जैन साहित्यमें वनविहार, जलकेलि, उपवनयात्रा संभोगक्रीड़ा, गोष्ठीसमवाय-पुष्पावचय, दोलाविलास, सुरापान प्रभृति का सजीव चित्रण पाया जाता है। संगीत, नृत्य-गान, चित्रकला आदिके वर्णन भी आये हैं। स्थानाभावसे यहाँ उक्त सभीके उदाहरण प्रस्तुत करना शक्य नहीं है।

योजनाएँ और कार्यक्रम :

संसद् द्वारा निर्धारित कार्यक्रम में पारिभाषिक जैन शब्दकोष, अपभ्रंश-शब्दकोष, महावीर-चरित (पालि, शौरसेनी-प्राकृत, अंग्रेजी, हिन्दी, भोजपुरी, मैथिली प्रभृति भाषाओं में) निर्माण की योजनाएँ है। पालि और भोजपुरी में महावीर-चरित लिखा जा रहा है, संभवतः आगामी अधिवेशन तक इन दोनों भाषाओं में तैयार हो जायगा। प्रकाशन के लिए आर्थिक सहयोग के हेतु हम श्रीमन्तो से सहयोग की अपेक्षा करते हैं। इसी प्रकार कोष-ग्रन्थों में बौद्धिक सहयोग देने के लिए विद्वानों से भी सहयोग की प्रार्थना है। जैन वाङ्मय पर शोध-खोज करनेवाले विद्वानो को भी संसद् कार्यालय से सभी प्रकार की संभव सहायता दी जा सकती है। जो शोधकर्त्ता सहयोग के इच्छुक हों, वे संसद्-कर्यालय से सम्पर्क स्थापित करें।

संसद् का प्रथम अधिवेशन जनवरी १९६५ ई० को आरा नगर में श्री बा० सुबोधकुमारजी, श्री बा० नेमकुमारजी, श्री बा० चतुरचन्द्रकुमारजी, श्री बा० दयालचन्दजी, श्री बा० महेन्द्रकुमारजी, श्री बा० जुगलकिशोरजी, श्री प्रो० डॉ० राजारामजी, श्री बा० अजितकुमारजी, श्री बा० रत्नचन्दजी, श्री बा० नरेन्द्रकुमारजी, श्री बा० गिरराजकुमारजी प्रभृति महानुभावों के सहयोग से सम्पन्न हुआ। आरा के समस्त जैन समाज ने इस अधिवेशन को सफल बनाने में पूरा योगदान दिया। अधिवेशन के अवसर पर साहित्य-कला एवं दर्शन-आचार संगोष्ठियों का भी आयोजन किया गया।

कृतज्ञता-ज्ञापन :

इस अवसर पर विभिन्न गोष्ठियों मे पढे गए निबन्धो का प्रकाशन करते हुए हमे प्रसन्नता का अनुभव हो रहा है। ये सभी निबन्ध अपनी-अपनी दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं। अधिवेशन के अवसर पर किये गये निश्चय के फलस्वरूप ही यह स्मारिका प्रकाशित हो रही है। **इसके प्रकाशन का कुल व्यय-भार मुधौली स्टेट (दक्षिण भारत) की युवरानी श्रीमती लक्ष्मीदेवी बी० ए० वाराणसी ने वहन किया है।** आपके इस साहित्य अनुराग के लिए हम 'संसद्' की ओर से साधुवाद देते हैं। भारतीय जैन साहित्य ससद् के कार्यक्रमो मे आप को विशेष अभिरुचि है और जैन वाङ्मय के जीवन-मूल्यो के प्रकाशन को मानवता की प्रतिष्ठा के लिए आप आवश्यक समझती हैं। अहिंसा सयम, त्याग और तप जीवन के शाश्वतिक सत्य है, इनके अपनाने से ही व्यक्ति अन्तर्मुखी दृष्टि प्राप्त करता है।

हम ससद के कार्यों मे सहयोग देनेवाले समस्त महानुभावो के प्रति अपनी हार्दिक कृतज्ञता व्यक्त करते हुए पुन सहयोग की आशा व्यक्त करते है।

नेमिचन्द्र शास्त्री

भारतीय जैन संसद् द्वारा स्वीकृत

कार्य-प्रवृत्तियाँ

और

उनके सम्पादनार्थ गठित

उपसमितियाँ

आरा-अधिवेशनपर भारतीय जैन साहित्य संसद्ने निम्न कार्य-प्रवृत्तियाँ स्वीकृत की तथा उनके सम्पादनके लिए निम्न उपसमितियो का गठन किया गया।

१. पारिभाषिक जैन शब्द-कोष :—पारिभाषिक जैन शब्द कोष प्रस्तुत करनेके लिए निम्न लिखित व्यक्तियोकी उपसमिति गठित की गई।

(१) आचार्य पं० कैलाशचन्द्रजी शास्त्री, वाराणसी।
(२) आचार्य पं० फूलचन्द्रजी शास्त्री, वाराणसी।
(३) आचार्य पं० चैनसुखदासजी न्यायतीर्थ, जयपुर।
(४) डॉ० गुलाबचन्द्रजी चौधरी, दरभंगा।
(५) प्रो० दरबारीलालजी कोठिया, वाराणसी।
(६) डॉ० श्री पुष्यमित्रजी, आगरा।
(७) डॉ० नेमिचन्द्रजी शास्त्री, आरा।

२. पालि भाषामे भगवान् महावीर का जीवन-चरित—पालि-भाषामे भगवान् महावीर का जीवन-चरित लिखने का कार्य डॉ० महेश तिवारीको सौंपा गया और उन्हे सहायता देने के लिए निम्न लिखित व्यक्तियोकी उपसमिति बनाई गई —

(१) डॉ० श्री श्यामसिंहजी, मिर्जापुर।
(२) डॉ० नेमिचन्द्रजी शास्त्री, आरा।
(३) डॉ० गुलाबचन्द्रजी चौधरी, दरभंगा।

३. शौरसेनी प्राकृतमे भगवान् महावीर का जीवन-चरित एवं अन्य आख्यान-साहित्य :—प्रस्तुत करनेके लिए निम्नलिखित व्यक्तियोकी उपसमिति संघटित की गई :—

(१) डॉ० श्री एच० एल० जैन जबलपुर।
(२) श्री रामनाथ पाठक प्रणयी।
(३) डॉ० नेमिचन्द्रजी शास्त्री, आरा।
(४) श्री पं० फूलचन्द्रजी शास्त्री, वाराणसी।

भारतीय जैन साहित्य संसद् की नियमावली

(१) **नाम**—इस संस्था का नाम "भारतीय जैन साहित्य संसद्" होगा, जो नियमावलीमें आगेसे "संसद्" शब्द द्वारा अभिहित किया जायगा।

(२) **स्थान**—"संसद्" का प्रधान कार्यालय "संसद्" के प्रधान मंत्रीके साथ रहेगा।

(३) **बोध-वाक्य और प्रतीक**—"संसद्" का बोध-वाक्य "णाणं लोयालोयं पयासेइ" रहेगा, जिसका प्रतीक साथमें संलग्न है।

(४) **उद्देश्य**—जैन वाङ्मय का पुनरुद्धार, नवीन साहित्य का सृजन एवं तत्सम्बंधी शोध एवं प्रकाशन आदि "संसद्" के उद्देश्य रहेंगे।

(५) **कार्यक्रम**—"संसद्" के कार्यक्रम निम्नलिखित होंगे :—

(क) जैन वाङ्मयके विभिन्न अंगोंपर शोध-कार्यमें शोध-कर्ताओंको हर सम्भव सहयोग देना, विभिन्न जैन एवं जैनेतर शोध-संस्थानोंसे सम्पर्क एवं संयोजन तथा शोध-निर्देशकोंसे सम्बन्ध रखना।

(ख) प्राचीन जैन वाङ्मय का उद्धार, सम्पादन, अनुवाद एवं नवीन जैन साहित्य का निर्माण एवं उसमें प्रोत्साहन देना।

(ग) जैन वाङ्मयका प्रकाशन एवं उसमें यथाशक्य सहयोग देना।

(घ) "संसद्" के वार्षिक अधिवेशनों, संगोष्ठियों, परिसंवादों तथा निबन्ध-पाठो का आयोजन करना, एवं।

(च) "संसद्" की वार्षिक स्मारिका, संसद्-शोध-पत्रिका एवं विभिन्न जैन भण्डारोंके वाङ्मयकी सूची प्रकाशित करना।

(छ) अन्य कार्य, जो "संसद्" की कार्य-समिति उचित समझे तथा जो उद्देश्यके विपरीत न हो।

(६) **"संसद्" व्यवस्था**—"संसद्" की कार्य-व्यवस्था "संसद्" के सदस्यों द्वारा प्रत्येक तीन वर्ष पर निर्वाचित "संसद्" कार्य-समिति द्वारा होगी, जिसमें कम-से-कम १५ एवं अधिक-से-अधिक २१ व्यक्ति होंगे जिसमें एक अध्यक्ष, दो उपाध्यक्ष, एक प्रधानमंत्री, दो संयुक्तमंत्री और एक कोषाध्यक्ष होंगे। "संसद्" की वार्षिक बैठकमें "संसद्" का जाचा गया हिसाब उपस्थित किया जायेगा तथा "संसद्" को अपनी नीति–निर्धारण का अधिकार रहेगा। "संसद्" के अध्यक्ष कार्य-समिति एवं "संसद्" की बैठकोंकी अध्यक्षता करेंगे तथा स्वीकृत कार्य-क्रमोंको कार्यान्वयन करनेके लिए प्रधान मंत्रीको समुचित निर्देशन देते रहेंगे। प्रधानमंत्री "संसद्" एवं कार्य-समितिके कार्यों का कार्यान्वयन करेंगे तथा संयुक्त मंत्रियोंसे अपने कार्योंमे सहयोग लेते रहेंगे।

(७) **कार्य-समिति**—"संसद्" की कार्य-समिति पर "संसद्" की नित्यप्रति व्यवस्था, संचालन, इसके उद्देश्यों एवं कार्यक्रमोंको लागू करने, अधिवेशनोंके लिए सभाध्यक्ष, विभागाध्यक्ष, संगोष्ठी-वक्ताओं आदिके नाम चुनने, सम्पादक-मंडल गठन करने एवं अन्य संस्थानोंमें अपने प्रतिनिधि मनोनयन करने का अधिकार एवं दायित्व रहेगा।

(८) **बैठकें**—"संसद्" एवं कार्य-समितिकी बैठक वर्षमें कम-से-कम एक बार अवश्य होगी, जिसे सामान्यतः प्रधान मंत्री, अध्यक्षकी सम्मति-पूर्वक बुलावेंगे। विशेष परिस्थितिमें कार्य-समिति की बैठक ५ सदस्योंके संयुक्त हस्ताक्षरसे बुलाई जायगी। "संसद्" की बैठककी गण-पूरक संख्या २१ सदस्योंकी होगी एवं कार्य-समितिकी गण-पूरक संख्या एक-तिहाई सदस्योंकी होगी।

(९) सदस्यता—"संसद्" के तीन प्रकारके सदस्य होंगे :—

१. साधारण सदस्य—जो 'संसद्' के उद्देश्योंको मानते हुए वार्षिक दस रुपया सदस्यता शुल्क देंगे।

२. आजीवन सदस्य—जो "संसद्" के उद्देश्योंको मानते हुए जीवन-भरके लिए सौ रुपया शुल्क देंगे।

३. संस्था-सदस्य—कोई भी संस्था प्रतिवर्ष बीस रुपया देकर "संसद्" का सदस्य बन सकती है, जिस अधिवेशनोंमे दो प्रतिनिधि भेजनेका अधिकार होगा।

(१०) अर्थ-व्यवस्था—"संसद्" अपने सदस्योके सदस्य-शुल्क एवं सरकारी या गैरसरकारी अनुदान एवं दान द्वारा अपनी अर्थ-व्यवस्था करेगी।

(११) संशोधन-परिवर्धन—"संसद्" की नियमावलीमे कोई भी संशोधन-परिवर्धन "संसद्" की बैठक मे उपस्थित सदस्योके दो-तिहाई मतस ही पारित होगा, किन्तु ऐसे प्रस्तावोंकी सूचना तीन माह पूर्व ही देनी होगी।

(१२) संक्रमण-नियम—

(क) 'संसद्" के वर्तमान सदस्य ही "संसद" के सदस्य समझे जायेंगे।

(ख) "संसद्" की प्रथम कार्य-समिति के सदस्यो की नामावलि निम्न प्रकार है :—

१. आचार्य पं० कैलाशचन्द्रजी शास्त्री, सिद्धान्ताचार्य, वाराणसी, अध्यक्ष।
२. आचार्य पं० चैनसुखदासजी न्यायतीर्थ, जयपुर, उपाध्यक्ष।
३. आचार्य पं० फूलचन्द्रजी शास्त्री, सिद्धान्ताचार्य, वाराणसी।
४. डॉ० प्रो० नेमिचन्द्रजी शास्त्री, एम० ए, पी-एच. डी., आरा, प्रधानमंत्री।
५ प्रो० पं० दरबारीलालजी कोठिया, एम. ए, आचार्य, वाराणसी, संयुक्तमंत्री।
६. डॉ० कस्तूरचन्द्रजी कासलीवाल, एम. ए, पी-एच. डी., जयपुर।
७. बाबू श्रीसुबोधकुमारजी रईस, आरा, कोषाध्यक्ष।
८. आचार्य डॉ० श्यामसिंह एम. ए, पी-एच. डी., मिर्जापुर, सदस्य।
९. प्रो० श्रीरामजीसिंह एम. ए., भागलपुर, सदस्य।
१०. डॉ० श्री ज्योतिप्रसादजी जैन एम. ए, पी-एच. डी., लखनऊ, सदस्य।
११. डॉ० प्रो० गुलाबचन्द्रजी चौधरी, एम. ए., पी-एच. डी., दरभंगा, सदस्य।
१२. डॉ० प्रो. महेश तिवारी एम. ए. पी. एच. डी. नालन्दा, सदस्य।
१३. प्रो० श्री उदयचन्द्रजी एम. ए., वाराणसी, सदस्य।
१४. प्रो० श्री खुशालचन्द्रजी गोरावाला एम. ए., आचार्य, काशी, सदस्य।
१५. डॉ० प्रो. राजारामजी जैन, एम. ए., पी-एच. डी., आरा, सदस्य।
१६. श्री देवेन्द्रकिशोरजी जैन, आरा, सदस्य।
१७. डॉ० प्रो० प्रेमसागरजी जैन, एम. ए., पी-एच. डी., बड़ौत, सदस्य।
१८. श्री प्रो० अमृतलालजी शास्त्री, साहित्य-जैनदर्शनाचार्य, काशी, सदस्य।
१९. श्री पं० रामनाथजी पाठक प्रणयी एम. ए. (प्राकृत एवं संस्कृत) आचार्य, बेलवर, सदस्य।
२०. श्री दलसुखजी मालवणिया, अहमदाबाद, सदस्य।
२१. श्री अगरचन्दजी नाहटा, बीकानेर, सदस्य।

MEMBERSHIP ENROLMENT FORM

To,

The Hony. Secretary,

Bhartiya Jain Sahitya Sansad

Regd. No. 13 dated 12-8-65 under the Societies Registration Act 21, 1860

Jain Siddhanta Bhawan

ARRAH (Bihar)

Dear Sir,

I want to be enrolled as a member in your Bhartiya Jain Sahitya Sansad for which I am sending you the Yearly Membership / Life Membership fee of Rs. 10/- (Rupees ten only) / Rs. 100/- (Rupees hundred only) for the year... ....by Money Order/ Indian Postal Order no. ....dated .... for being enrelled as a member.

I will abide by all the rules & regulations in force and to further changes in them in future.

I am giving below the particulars as follows

Name in full (Block letters)... ....

Address.. ....

Post Office............................District.................... ......State...............

Age ....Nationality......... . ...

Qualifications.............. ....

....

Publications ....

....

Present occupat on/Designation....................................... . ...

Other particulars if any.. ....

Yours faithfully,

Signature.